सावलोकम

दशरूपकम्

(हिन्दीटीका - सहितम्)

नान्दीटीकाकार सम्पादकश्च
रामजी उपाध्याय, एम ए, डी फिल्, डी लिट
सागर विश्वविद्यालये
संस्कृत विभागस्य प्राध्यापकाध्यक्ष

प्रकाशकः
भारतीय-संस्कृति-संस्थानम्
नारीबारी, इलाहाबाद

भूमिका

भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा मे धनञ्जय ने दशरूपक की रचना दसवी शती ईसवी मे की। यह ग्रन्थ इतना उपादेय सिद्ध हुआ कि परवर्ती युग मे न केवल विद्यार्थियो के ही, अपितु आचार्यों के भी बीच सबसे बढ़कर लोकप्रिय बन गया। परवर्ती आचार्यों ने अपनी नाट्यशास्त्रीय कृतियों का इसे बहुधा उपजीव्य बनाया है। ऐसी स्थिति में इसके समक्ष भरत के नाट्यशास्त्र की परम्परा मे लिखे मौलिक और व्याख्यात्मक ग्रन्थों की जड़ न जम पायी। आज भारत के प्राय सभी विश्वविद्यालयों में दशरूपक और धनिक विरचित उसकी अवलोक टीका विविध परीक्षाओ के पाठ्यक्रम मे निर्धारित हैं।

दशरूपक की उपर्युक्त महिमा को देखते हुए यह आवश्यक था कि इसके मूल पाठ का वैज्ञानिक विधि से संशोधन हुआ होता और साथ ही इसकी कारिकाओ का नाट्यशास्त्रीय निकष पर परीक्षण करके तथा मानक नाटकों पर उनकी प्रायोगिक समीक्षा करते हुए बताया जाता कि कहाँ तक दशरूपक मे सत्यांश है और कहाँ तक उसकी कारिकायें और उसकी अवलोक टीका भरत के नाट्यशास्त्र के विरुद्ध होने के साथ ही निराधार और चिन्त्य हैं।

मैंने इसी समीक्षात्मक दृष्टि से दशरूपक का लगभग ३० वर्षों तक अध्ययन और अध्यापन किया है और अपने महत्त्वपूर्ण अनुसन्धानों का प्रकाशन 'दशरूपक-तत्त्व-दर्शनम्' नामक ग्रन्थ में किया है। इतने से ही मुझे सन्तोष न हुआ। इसी ऊहापोह मे मैंने दशरूपक की कारिकाओं और उसकी अवलोक टीका की प्रत्येकश समीक्षात्मक व्याख्या अपनी नान्दी टीका के साथ लिखी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में दशरूपक और अवलोक की चिन्त्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। दशरूपक की व्याख्या परम्परा में इस प्रकार का यह प्रथम उपक्रम है। अब तक के संस्कृत और हिन्दी के टीकाकार 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' रख कर और अपनी ओर से भी अशुद्धियों को जोड़कर विद्यार्थियो को इस विषय का समालोचनात्मक ज्ञान देने मे असमर्थ रहे हैं— यह नान्दी टीका से पदे पदे स्पष्ट होगा।

जहाँ तक दशरूपक की कारिकाओ और अवलोक के शुद्ध पाठ का सम्बन्ध है, अब तक के टीकाकार प्राय. आँख मूँद कर अशुद्ध पाठ का अनुसरण करते रहे हैं। पाठशोधन की दिशा मे प्रथम सफल कृति अध्याय मे

प्रकाशित टी० वेङ्कटाचार्य द्वारा सम्पादित दशरूपक है, किन्तु इसमें भी कतिपय त्रुटियाँ और अभाव हैं, जिनकी यथासम्भव पूर्ति करने का प्रयास मैंने किया है। इसमें दशरूपक और अवलोक का शुद्धतम पाठ वैज्ञानिक सरणि पर प्रस्तुत किया गया है।

मेरा विश्वास है कि जिज्ञासुओं के बीच मेरे इस प्रयास का समादर होगा और दशरूपक की आलोचना में उनकी प्राञ्जल प्रवृत्ति समुदित होगी।

नारी बारी प्रयाग
श्रावणी, २०३६ वि० सं० रामजी उपाध्याय

विषयानुक्रमणिका

प्रथम प्रकाशः

प्रथमः प्रकाशः

इह सदाचारं प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टाया देवताया. प्रकृताभिमतयोश्च देवतयोर्नमस्कार क्रियते श्लोकद्वयेन—

१. नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठ पुष्करायते ।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ।।1

यस्य कण्ठ पुष्करायते=मृदङ्गवदाचरति । मदाभोगेन घनध्वान = निविडध्वनि । नीलकण्ठस्य=शिवस्य । ताण्डवे=उद्धते नृत्ते । तस्मै गणेशाय नम । अत्र खण्डश्लेषाक्षिप्यमाणोपमाच्छायालङ्कार । नीलकण्ठस्य मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनि पुष्करायत इति प्रतीते ।

आरम्भ म सदाचार को प्रमाण मानते हुए ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए अभीष्ट, प्रासंगिक तथा मान्य तीन देवताओ को दो श्लोको मे नमस्कार किया जा रहा है—

१ उन गणेश को प्रणाम है, जिनका कण्ठ नीलकण्ठ (शिव) के ताण्डव मे मद के प्रकर्ष से सघन ध्वनि युक्त होकर पुष्कर (मृदङ्ग) के समान बजता है, जैसे नीलकण्ठ (मयूर) के नृत्य मे मेघ की ध्वनि मृदङ्ग बन जाती है ।

जिनका कण्ठ पुष्करायमाण होता है, अर्थात् मृदङ्ग के समान बजता है, (क्योकि) मदाभोग के घन (निबिड) ध्वनि से युक्त हो जाता है, जब शिव का ताण्डव प्रवृत्त होता है । उन गणेश को प्रणाम है । यहाँ खण्डश्लेष से आक्षिप्त उपमा-छाया अलंकार है, क्योकि ऐसी प्रतीति हो चलती है, मानो नीलकण्ठ (मयूर) के ताण्डव मे मेघध्वनि पुष्कर के समान बज रही हो ।

२ दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावका ।
नम सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ।।२

एवत्र मत्स्यकूर्मादिप्रतिमा-रूपेण अन्यत्रानुकृतिरूपेण नाटकादिना यस्य भावका =ध्यातारो रसिकाश्च, माद्यन्ति=हृष्यन्ति, तस्मै अभिमताय विष्णवे प्रकृताय भरताय च नम ।

२ उन सर्वज्ञ विष्णु को प्रणाम है, जिनके दस रूपों (मत्स्य-कूर्मादि) अवतारों की प्रतिमाओं से भक्त हर्षयुक्त होते हैं । उन सर्वज्ञ भरत को प्रणाम है, जिनके दस रूपों (नाटक आदि दस रूपकों) के अनुकारों (अभिनयों) से सहृदय विमुग्ध होते हैं ।

एक विष्णुपक्ष मे मत्स्यकूर्मादि रूपों के नाम से और अन्य भरतपक्ष मे अनुकृति

रूप नाटकादि से, जिनके भावक (ध्यानकर्ता तथा रसिक) हर्षित होते हैं, उन इष्टदेव विष्णु और प्रकरणानुगत भरत को प्रणाम है।

श्रोतु. प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्श्यते—

३. कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुष.।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥३

तं कञ्चिद्विषयं प्रकरणादिरूपं कदाचित् कस्यचिदेव कवे सरस्वती योजयति, येन प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति।

स्वप्रवृत्तिविषयं दर्शयति—

श्रोता की विशेष रुचि इस ग्रन्थ मे क्यो हो ? इसका उत्तर है।

३ दयापूर्वक सरस्वती कभी किसी विषय का विशेष ज्ञान किसी विद्वान् को करा देती है। फिर तो कोई अन्य व्यक्ति भी उसे जान कर विदग्ध हो जाता है।

सरस्वता किसी विवेचनीय विषय को कभी किसी कवि को बता देती है और वह ग्रथ लिख देता है, जिसे पढ कर अन्य लोग विदग्ध हो जाते है।

मैं यह ग्रथ क्यो लिख रहा हूँ, यह लेखक बताता है—

४. उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठ।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म क कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥४

य नाट्यवेदं वेदेभ्य. सारमादाय ब्रह्मा कृतवान्, यत्संबद्धमभिनयं भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत्, हरस्ताण्डवमुद्धतं नृत्तं कृतवान्, लास्यं सुकुमारं नृत्तं पार्वती कृतवती। अस्य सामस्त्येन लक्षणं कर्तुं क शक्त। तदेकदेशस्य लक्षणं संक्षेपत क्रियत इत्यर्थ।

४ सम्पूर्ण वेदो से तत्व का अनुसन्धान करके ब्रह्मा ने जिस नाट्यवेद की रचना की, जिसका अभिनय मुनि होने पर भी भरत ने, ताण्डव शिव ने और लास्य उमा ने किया, उस नाट्यवेद के प्रत्येक पद का लक्षण अन्य कौन कर सकता है ? किन्तु मैं (धनञ्जय) प्रगुण (सरल) रचना द्वारा नाट्यों का लक्षण सक्षेप मे प्रस्तुत कर रहा हूँ।

ब्रह्मा ने वेदो से सार लेकर जिस नाट्यवेद को बनाया, जिससे सम्बद्ध अभिनय (करण और अङ्गहार) भरत ने निरूपित किए, शिव ने ताण्डव (उद्धत नृत्त) और पार्वती ने लास्य (सुकुमार नृत्त) किया, उस नाट्यवेद का पूर्णत लक्षण कौन कर सकता है। दशरूप का अशत सक्षेप मे लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है।

विषयैक्यप्रसक्तं पौनरुक्त्यं परिहरति—

भरत ने जिस विषय पर ग्रन्थ लिखा, उसी विषय पर मेरा लिखना पुनरुक्ति दोष है। इस दोष का परिहार करते हुए धनञ्जय ने कहा है—

५. व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः ।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ।।५

व्याकीर्णे—विक्षिप्ते विस्तीर्णे च शास्त्रे अल्प बुद्धीना व्यामोहो भवति। तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव संक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति।

५. किसी विषय का विस्तारपूर्ण विवेचन होने से मन्द-बुद्धि लोगो को उसमे भ्रम हो जाता है। अत उस भरत के नाट्यवेद का सक्षेप करके, उन्हीं पदो से उसका अर्थ सरल रीति से किया जा रहा है।

व्याकीर्ण शब्द यहाँ विक्षिप्त अथवा विस्तीर्ण का अर्थ देता है। ऐसे शास्त्र को समझने मे अल्पज्ञ को सन्देह उत्पन्न होता है। इस कारण उस (भरतकृत) नाट्यवेद का अर्थ नाट्यशास्त्र के पदो द्वारा ही संक्षेप करके सरल रीति से किया जा रहा है।

इदं प्रकरणं दशरूपज्ञानफलम्। दशरूपज्ञानं किं फलमित्याह—

६. आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्र फलमल्पबुद्धि ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मैः नमः स्वादपराङ्मुखाय ।।६

अत्रकेचित्—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ।।'

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्ति काव्यफलत्वेनेच्छन्ति। तन्निरासेन स्वसंवेद्य-परमानन्द-रूपो रसास्वादो दशरूपाणा फलं, न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम्। नम इति सोल्लुण्ठनम्।

इस ग्रन्थ का यही फल है कि दस प्रकार के रूपकों का ज्ञान हो जाय। दस रूपकों के ज्ञान का क्या फल है?

६ आनन्द के स्रोत इन रूपको से कोरी विद्वत्ता फल रूप मे प्राप्तव्य है, जैसे इतिहास आदि से होती है—ऐसा जो मन्दबुद्धि कहता है, उस स्वादपराङ्मुख को दूर से ही नमस्कार।

रूपकों के प्रयोजन के विषय मे कुछ विद्वानो (भामह) ने कहा है कि उत्तम काव्य को पढने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मे तथा सभी कलाओं में दक्षता प्राप्त होती है, (पाठक की) कीर्ति और प्रीति बढती है। इस प्रकार वे त्रिवर्गादि का ज्ञान

मात्र काव्य एवं रूप में प्रतिपादित करते हैं। इस मत के विपरीत, वस्तुतः रसास्वाद रूपकों का फल है, जो परमानन्ददायी है और हृदय के द्वारा ग्राह्य है। इतिहास-पुराणादि से इसकी यही विशेषता है कि इसमें कोरे ज्ञान का महत्त्व कम है और रसास्वाद का महत्त्व अधिक है। उक्त श्लोक में नम पद अनादरसूचक परिहासात्मक है।

'नाट्यानां लक्षणं सङ्क्षिपामि' इत्युक्तम्। किं पुनस्तन्नाट्यमित्याह—

७. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं —

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन वाचिकाङ्गिकसात्त्विकाहार्यरूपेण तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।

ग्रन्थकार ने नाट्यों के लक्षण को संक्षेप करने की प्रतिज्ञा की है। वह नाट्य क्या है? नाट्य का लक्षण है—

७ अवस्था का अनुकरण नाट्य है।

काव्य (रूपक) में धीरोदात्त आदि (पात्रों) की अवस्थायें (उत्साह, शोकादि) निबद्ध की जाती हैं। उन अवस्थाओं का अनुकरण चार प्रकार के अभिनय (आङ्गिक वाचिक, सात्त्विक और आहार्य) से किया जाता है। नाट्य इस अनुकृति या अभिनय का पर्यायवाची है, जिसमें नट को प्रेक्षक रामादि समझता है।

नान्दी टीका

नाट्य को अवस्था का अनुकरण कहा गया है। यहाँ अवस्था है कार्यावस्था। कथापुरुष (नायक) जो काम करते हैं, उन कामों का अनुकरण नाट्य में होता है। दशरूपक के अनुसार नायक के प्रायः सभी काम (रोना, गाना, हँसना आदि) अवस्थायें हैं।[1] भरत ने नाट्य की परिभाषा दी है—लोकवृत्तानुकरण।[2] इससे स्पष्ट है कि धनञ्जय की अवस्था भरत का लोकवृत्त है। भरत ने नाट्य का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि लोक का स्वभाव जब चारों प्रकार के अभिनय से प्रस्तुत किया जाता है तो वह नाट्य कहा जाता है।[3]

अभिनवगुप्त के अनुसार उपर्युक्त अनुकरण कोरा लाक्षणिक है। यदि कथा-पुरुष कहीं रोता हुआ बताया गया है तो उसकी भूमिका में आने वाला पात्र यदि रोता तो उसे अनुकरण कहा जाता, किन्तु नट रो रहा नहीं है। वह तो अभिनय के द्वारा प्रेक्षकों को दिखाता मात्र है कि मैं रो रहा हूँ। बोलचाल की भाषा में आज भी यदि कोई वस्तुतः रोता नहीं है, केवल रोने का स्वाँग रचता है तो उसकी इस क्रिया के विषय में कहते हैं कि वह नाटक कर रहा है। अभिनवगुप्त का विश्लेषण वस्तुतः सात्त्विक है।

---

१. अस्मिन्नवस्था रहिताद्योऽवस्थाभिनादय. । दश० ४ ३०

२ लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥ ना० शा० १ ११२

३. योऽयं स्वभावो लोकस्य, [illegible]

साङ्गाद्यभिनयैर्युक्तो नाट्यमित्यभिधीयते ॥ ना० शा० १६ १४५

रूपं दृश्यतयोच्यते ।

तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते नीलादिरूपवत् ।

दिखलाई देने अथवा प्रत्यक्ष होने के कारण उसे (नाट्य को) रूप कहते हैं।

वही नाट्य (रंगपीठ पर अभिनय द्वारा) दृश्यमान होने से रूप कहा जाता है। जैसे नील, पीतादि गुण दिखाई देने के कारण रूप कहे जाते हैं।

नान्दी टीका

नाट्य का पर्यायवाची शब्द रूप बताया गया है। रूप नाम की सार्थकता इस कारण है कि नाटक में कथा-सम्बन्धी कर्त्ता और कार्य आदि वैसे ही प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं, जैसे और कोई दिखाई देने वाली वस्तु रूप होती है। जो कुछ दिखाई दे, वह रूप है।

रूप की यह परिभाषा अनैकान्तिक होने के कारण चिन्त्य है, क्योंकि असंख्य वस्तुयें दिखाई देती हैं तो वे सभी रूप हो जायेंगी। इस प्रकार परिभाषा के द्वारा जो विलक्षणता प्रकट होनी चाहिए, वह 'रूपं दृश्यतयोच्यते' में नहीं है।

रूप धातु का एक अर्थ है अभिनय करना। इस धातु में अच् प्रत्यय जोडकर रूप बनता है, जिसका अर्थ है अभिनेय वस्तु।

रूपकं तत्समारोपात्—

नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकम्। मुखचन्द्रादिवत् इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः पुरन्दरः शक्रः' इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः।

उस (नट) में समारोप होने के कारण (नाट्य ही) रूपक है।

(रंगपीठ पर) नट में रामादि की अवस्था का आरोपण करने से नाट्य उपस्थित होता है, अतएव उसे रूपक कहते हैं, जैसे रूपकालङ्कार में मुखचन्द्र कहते हैं, क्योंकि मुख पर चन्द्र का आरोप होता है। नाट्य, रूप और रूपक तीनों समानार्थक हैं, जैसे इन्द्र, पुरन्दर और शक्र तीनों शब्द समानार्थक हैं। (ये तीनों ही देवराज की विशेषता बताने के लिए कभी कोई तो कभी कोई प्रयुक्त होते हैं।) प्रवृत्तिनिमित्त = किसी शब्द को किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त करने का कारण।

नान्दी टीका

रूपक नाम की सार्थकता यह है कि जैसे रूपक अलंकार में अप्रस्तुत वस्तु को प्रस्तुत वस्तु में आरोपित कर देते हैं, उसी प्रकार रामादि को नट में समारोपित कर देते हैं।

—दशधैव रसाश्रयम् ॥७

रसानाश्रित्यप्रवर्तमानं दशप्रकारकम्। एवेत्यवधारणं तु शुद्धाभिप्रायेण। नाटिकाया संकीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

रूपक दस ही प्रकार के होते हैं, क्योंकि वे रस पर अवलम्बित हैं।

रस पर अवलम्बित रूपक दस ही प्रकार के होते हैं। एव कहने से दस मे कम या अधिक रूपक नहीं होते, यह निश्चित सीमा शुद्ध रूपको की निर्धारित हो गई। शुद्ध रूपक के दस ही भेद हुए। नाटिका सकीर्ण (नाटक और प्रकरण का मिश्र) है। उसका लक्षण आगे बतायेंगे।

नान्दी टीका

रूपक दस ही प्रकार के होते हैं। यह कहना उतना ही सार्थक है, जितना पुराणों का १८ होना। जैसे पुराणो के समान ही वर्ण्य-विषयादि वाले ग्रन्थ उपपुराण कहे जाते है, वैसे ही दस रूपका स मिलती जुलती वस्तु, नेता और रस वाले काव्य-बन्धों को उपरूपक कहा गया। वस्तुतः जैसे रसाश्रित या रस के स्रोत रूपक होते हैं, वैसे ही उपरूपक भी रस के स्रोत होते है।

तानेव दशभेदानुद्दिशति—

८. नाटक सप्रकरण भाणः प्रहसन डिम ।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥८

उन्ही दस भेदो का नाम बताते हैं—

८. नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार वीथी, अङ्क और ईहामृग।

ननु च—

'डोम्बी श्रीगदित भाणो भाणीप्रस्थानरासका।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदा स्युस्तेऽपि भाणवत्॥'

यहाँ पाठक को शका हो सकती है कि अन्य रूपको के रहते हुए उनकी दस सख्या का निर्धारण ठीक नही है। ये अन्य रूपक हैं—डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक और काव्य, जो भाण के समान होने से रूपक हैं। इस आशका का निवारण धनञ्जय ने किया है। उनका कहना है कि डोम्बी आदि नृत्य हैं, नाट्य नही।

नान्दी टीका

किन्ही दो वस्तुओ की भिन्नता उनके आश्रय (प्रतिपाद्य विषय), स्वरूप, कर्त्ता और सज्ञा (नाम) की भिन्नता से प्रमाणित होती है। धनञ्जय सक्षेप मे और धनिक विस्तार से नाट्य और नृत्य के भेदक तत्त्वो को समझाते हैं।

६. अन्यद्भावाश्रयं नृत्यम्—

रसाश्रयान्नाट्याद्भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव। तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदात् नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात् तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात् लोकेऽपि च 'प्रेक्षणीयकम्' इति व्यवहारात् नाटकादेरन्यन्नृत्यम्। तद्भेदत्वाच्छ्रीगदितादेर्नावधारणानुपपत्तिः। नाटकादि च रसविषयम्। रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिकससर्गात्मकवाक्यार्थरूपत्वाद्वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम्। नाट्यमिति च 'नट अवस्पन्दने' इति नटेः किञ्चिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम्। अत एव तत्कारिषु नटव्यपदेश। यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यन्नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकान्नाट्यात् पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति।

६ नृत्य भाव पर अवलंबित होता है। अतएव वह नाट्य से भिन्न होता है।

रसाश्रय नाट्य से भावाश्रय नृत्य भिन्न ही होता है। यह नृत्य और नाट्य मे विषयगत भेद है। भावाश्रय होन से विषय दूसरा हो जाता है। अत 'नृत्य' (नाट्य मे भिन्न) नाम दिया गया है। नृत्' धातु का अङ्गविक्षेप (अङ्गचालन) अर्थ है। अत नृत्य म आङ्गिक अभिनय की बहुलता होती है। यह स्वरूप भेद है। नृत्य करने वालो को नर्तक कहा जाता है। यह कर्त्ता की दृष्टि से भेद है। लोक मे भी ऐसे प्रदर्शनो को 'प्रेक्षणीयक' कहा जाता है। यह सज्ञा की दृष्टि से भेद है। इस प्रकार नाटकादि से नृत्य भिन्न होता है। श्रीगदित आदि नृत्य के भेद हैं। अत रूपकों की सख्या दस ही बताना ठीक है। नाटकादि का विषय रस है, जो वाक्यार्थ होता है। इसमे पदार्थरूप मे आन वाले विभावादि का ससर्ग रहता है। रसाश्रय नाट्य कहने से ग्रन्थकार का मन्तव्य है कि नाट्य वाक्यार्थ (रस) का प्रतिपादक है। 'नाट्य' शब्द में अवस्पन्दन या स्वल्पचलन अर्थ वाला 'नट्' धातु है। इसमे सात्त्विक अभिनय की प्रधानता होती है और इसी कारण नाट्य का अभिनय करने वालों को नट कहते हैं।

गात्रविक्षेपरूप अर्थ (व्यापार) के समान होन पर भी नृत्त से नृत्य भिन्न होता है, क्योंकि नृत्य में अनुकरण (अभिनय) भी रहता है। इसी प्रकार वाक्यार्थाभिनयरूप नाट्य से (विभावादि) पदार्थाभिनय रूप नृत्य भिन्न हो है।

नान्दी टीका

नृत्य से केवल भाव का बोध होता है। नृत्य के द्वारा आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा सचारी आदि का अभिनय होता है। जहाँ नाट्य मे इनके साथ ही वाक्यार्थ (रस) का अभिनय होने से प्रेक्षक को रसास्वाद होता है, वहाँ

(कथा के अशमात्र) के अभिनय से प्रेक्षक को भावो का बोधमात्र होता है।[1] नाट्य का उत्कर्ष रसोचित सात्विक अभिनय से प्रतिष्ठित होता है और नृत्य मे सात्विक अभिनय का सर्वथा अभाव होता है।

नाट्य और नृत्य का अन्तर नीचे स्पष्ट किया जाता है—

नाट्य	नृत्य
१ वाक्यार्थ का अभिनय है।	१ पदार्थ का अभिनय है।
२ प्रेक्षक के लिए रस का स्रोत है।	२ प्रेक्षक को भावमात्र का बोध कराता है।
३. आङ्गिक अभिनय का स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं है।	३. आङ्गिक अभिनय प्रधान होता है।
४ सात्विक अभिनय सविशेष होता है।	४ सात्विक अभिनय का अभाव होता है।
५. नाट्य म यथास्थान नृत्य का उपयोग होता है।	५. नृत्य मे नाट्य के उपयोग का प्रश्न ही नही उठता।
६ नाट्य का अभिनय करने वाले को नट कहते है।	६. नृत्य का अभिनय करने वाल को नर्तक कहे जाते है।

धनिक ने डाम्बी, श्रीगदित, भाण आदि को नृत्य कहा है। यह समीचीन नही प्रतीत होता है, क्योकि—

(१) डोम्बी, श्रीगदितादि भी रस-विषय होते है।

(२) इनमे भी वाक्यार्थाभिनय हाता है और ये रसाश्रित है।

(३) जैसा ऊपर लिख चुके हैं, डाम्बी, श्रीगदितादि वस्तुत उपरूपक है।[2] प्रथित रूपकों की दस की कोटि के बाहर ये रूपक उपरूपक कहलाय।

प्रसङ्गान्नृत्तं व्युत्पादयति—

—नृत्त ताललयाश्रयम्।

तालश्चञ्चत्पुटादि, लयो द्रुतादि। तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति—

प्रसङ्गत (रूपक मे उपयोगी होने के कारण) नृत्त को ग्रन्थकार स्पष्ट करते हैं—

---

1 अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र १८.१०४ मे 'भावोपपन्न चरितपदम्' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है—'भावैर्व्यभिचारिभिरुपपन्नानि पदानि कथाखण्डानि यस्मिन्' अर्थात् भाव यहाँ व्यभिचारी हैं और उनके व्यञ्जक पद कथाखण्ड हैं।

2 रामचन्द्र ने इनको भी रूपक कहा है। पृष्ठ १८१ नाट्यदर्पण।

नृत्त ताल और लय पर अवलम्बित होता है।

चच्चत्पुट आदि ताल है और द्रुत मध्य और विलम्बित लय है। इन्हीं दोनो के सामञ्जस्य मे किया जाने वाला अङ्गविक्षेप नृत्त है। नृत्त सर्वदा अभिनय-रहित होता है।

अनन्तरोक्त द्वितीयं व्याचष्टे—

आद्य पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥९

नृत्य पदार्थाभिनयात्मकं मार्ग इति प्रसिद्धम्, नृत्तं तु देशीति। द्विविधस्यापि द्वैविध्यं दर्शयति—

इन दोनों (नृत्य और नृत्त) की व्याख्या इस प्रकार है—

दोनों में प्रथम नृत्य (विभावादि) पदार्थ के अभिनय का नाम है और 'मार्ग' कहा जाता है। दूसरे नृत्त को देशी कहते हैं।

इन दोनों के दो प्रकार बताये जाते हैं।

नान्दी टीका—

नृत्त को नाट्य और नृत्य से भिन्न समझना चाहिए। नाट्य और नृत्य में अभिनय होता है और नृत्त अभिनय-रहित होता है।

नृत्त केवल ताल और लय पर आश्रित होता है। इसमे अङ्गविक्षेप ताली बजाने आदि के सामञ्जस्य मे होता है।

नृत्य का पर्यायवाची मार्ग है। नृत्त का पर्यायवाची देशी है।

१०. मधुरोद्धतभेदेन तद् द्वयं द्विविध पुन ।

लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥१०

सुकुमारं द्वयमपि लास्यम्, उद्धतं द्वितयमपि ताण्डवमिति। प्रसङ्गोक्तस्योपयोगं दर्शयति—तच्च नाटकाद्युपकारकमिति। नृत्यस्य क्वचिदवान्तरपदार्थाभिनयरूपत्वेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति।

१० दोनों (नृत्त और नृत्य) में से प्रत्येक के दो भेद मधुर और उद्धत होते हैं। ये दोनों ही नाटकादि सभी रूपकों मे समाविष्ट होते हैं।

मधुर या सुकुमार नृत्य को लास्य कहते हैं। उद्धत नृत्य या नृत्त को ताण्डव कहते है। नाट्य और नृत्य के प्रसङ्ग मे नृत्त की चर्चा भी गई। इनका उपयोग बताते है—ये दोनों नृत्य और नृत्त नाटकादि सभी रूपकों मे उपयोगी होते है। यदि कहीं छोटा-मोटा प्रसंग से पदार्थ (कथांश) आ जाये तो उसका अभिनय नृत्य के द्वारा होता है। रूपकों के अभिनय मे कहीं-कहीं शोभा (रमणीयता) का संवर्धन करने के लिए नृत्त किया जाता है।

नान्दी टीका

नृत्य और नृत्त दोनों दो प्रकार के होते हैं मधुर और उद्धत। अर्थात् मधुर नृत्य और उद्धत नृत्य। इसी प्रकार मधुर नृत्त और उद्धत नृत्त।

मधुर कोटि के नृत्य और नृत्त को लास्य कहते हैं। उद्धत कोटि के नृत्य और नृत्त को ताण्डव कहते हैं। नृत्य के द्वारा नाट्य में प्रासंगिक रूप से पदार्थाभिनय का समावेश होता है। नृत्त के द्वारा नाट्य में शोभा (शौर्य तथा दक्षता) प्रकट की जाती है।

इस प्रकार नृत्य और नृत्त शोभा का दिग्दर्शन कराने के लिए नाट्य के अंग बन कर आते हैं। मनोरंजन के लिए स्वतन्त्र रूप से भी नृत्य और नृत्त का उपयोग होता है। धनंजय नृत्य को स्वतन्त्र काव्यात्मक उपरूपक से भिन्न मानते हैं।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात्किंकृतो भेद इत्याशङ्क्याह—

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदको—

वस्तुभेदान्नायकभेदाद् रसभेदाद्रूपकाणामन्योन्य भेद इति।

सभी रूपकों में अनुकरण-तत्त्व समान रूप से विराजमान है। इस दृष्टि से उन सबको समानता है। उनका भेद क्यों? इस शङ्का का समाधान है—

रूपकों के पूर्वोक्त दस भेद प्रत्येक की वस्तु, नेता और रस की भिन्नता के कारण है।

नान्दी टीका

इस प्रकार के रूपक एक दूसरे से पृथक् होते हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक की कथावस्तु, नायक और रस कुछ विशेषता लिए हुए रहते हैं। इस प्रसंग में नायक महासामान्यवचन-रूप में प्रयुक्त है, अर्थात् नायक कोई भी कथापुरुष (character) है। वह केवल अधिकारी नायक (hero) नहीं है।

वस्तुभेद

वस्तु च द्विधा।

वस्तु दो प्रकार की होती है।

कथमित्याह—

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥११

प्रधानभूतमितिवृत्तमाधिकारिकम् यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तः। तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकम् यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति।

११. आधिकारिक मुख्य वस्तु है और प्रासङ्गिक अङ्ग वस्तु है।

आधिकारिक प्रधान कथा है, जैसे रामायण में राम-सीता की कथा। उसका अंगभूत प्रासंगिक कथा रामायण में ही विभीषण और सुग्रीव का वृत्तान्त है।

नान्दी टीका

कथावस्तु दो प्रकार की होती है—आधिकारिक और प्रासगिक। इनमे से आधिकारिक वस्तु मुख्य होती है। इसके द्वारा सीधे-सीधे प्रधान नायक को फल मिलता है। प्रासगिक वस्तु उससे जुटी हुई उसका अङ्ग बनकर बीच मे आ सकती है।

निरुक्त्याधिकारिकं लक्षयति—

१२. अधिकार: फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभु.।
तन्निर्वृत्तमभिव्यापि वृत्त स्यादाधिकारिकम् ॥१२

फलेन स्वस्वामिसबन्धोऽधिकार·। फलस्वामी चाधिकारी। तेनाधिकारिणा निर्वृत्तम्=फलपर्यन्तता नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम्।

निर्वचनपूर्वक आधिकारिक का लक्षण बताते हैं—

१२ फल का स्वामित्व अधिकार है। उस अधिकार या फल के प्रभु को अधिकारी कहा जाता है। वह कथानक, जो उससे पूर्णता को प्राप्त कराया जाता है और व्यापक होता है, आधिकारिक कहलाता है।

फल के साथ फलभोक्ता का जो स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध होता है, वह अधिकार है और फल का स्वामी अधिकारी है। उस अधिकार (फल) तक पहुँचने वाला अधिकारी (फलभोक्ता) द्वारा अन्त मे फल प्राप्य होता है। अधिकारी वस्तु फल तक पहुँचती है।

नान्दी टीका

प्रत्येक कथावस्तु के अन्त में पूरे रूपक के नायकों के प्रयत्न से एक प्रधान फल की प्राप्ति होती है। उस फल को पा लेना अधिकार है। फल पाने वाले अधिकारी का दूसरा नाम प्रभु है, अर्थात् फल का स्वामी। यह आधिकारिक वृत्त है जो तन्निर्वर्त्यम् अर्थात् फल प्राप्त कराने तक प्रधान रूप मे व्यापक होता है। आधिकारिक वृत्त मे कथा के प्रधान नायक को सफलता-दायक उपलब्धियाँ होती है।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे—

१३. प्रासङ्गिक परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गत.।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य, सतस्तत्प्रसङ्गात् स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत् प्रासङ्गिकमितिवृत्त प्रसङ्गनिर्वृत्तेः प्रासङ्गिकम्।

प्रासंगिक इतिवृत्ति

१३. अन्य (प्रधान नायक) की प्रयोजनसिद्धि वाले जिस कथानक मे प्रसङ्ग से पताका नायक के स्वार्थ की सिद्धि हो, वह प्रासङ्गिक कथावस्तु है।

जिस इतिवृत्त का परकीय (प्रधान नायक का) प्रयोजन होता है, और उसके

प्रसग से अपने (पताका नायक के) प्रयाजन की सिद्धि होती है, वह मुख्य इतिवृत्त के साथ होने से प्रासङ्गिक इतिवृत्त है।

नान्दी टीका

कारिका का अन्वय है—परार्थस्य यस्य (इतिवृत्तस्य) प्रसगन स्वार्थं। अर्थात् जो इतिवृत्त प्रधान नायक का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए है, नायक के साथ होने से उपनायक का स्वार्थ भी सिद्ध होता है।

धनञ्जय के अनुसार प्रासंगिक कथा का नायक जो कुछ करता है, वह प्रधान नायक की सफलता की दिशा में महत्त्वपूर्ण है, साथ ही उसे भी कुछ फल मिल कर रहता है। धनञ्जय का यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। इसके कारण नीचे लिखे हैं—

(१) भरत के अनुसार प्रकरी नामक प्रासङ्गिक वृत्त का नायक कोई फल नहीं पाता। उसका कार्य-व्यापार परार्थ अर्थात् प्रधान नायक की सहायता-मात्र के लिए होता है।

(२) धनिक ने जो उदाहरण प्रकरी वृत्त का दिया है, उसका नायक श्रावण न कोई फल पाता है और न अपने लिए फल की इच्छा करता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रासङ्गिक कथावस्तु से पताका नामक भेद में पताका नायक को फल मिलता है, किन्तु प्रकरी नामक प्रासङ्गिक कथावस्तु के नायक को कोई फल नहीं मिलता।

धनञ्जय का प्रासङ्गिक कथावस्तु विषयक उपर्युक्त मत कि पताका और प्रकरी दोनों प्रकार के प्रासङ्गिक वृत्तों में स्वार्थ और परार्थ उसके नायक का सिद्ध होते हैं, भरत के नाट्यशास्त्र के प्रतिकूल है। प्रकरी नायक को फल नहीं मिलता। जैसी भरत ने नाट्यशास्त्र में प्रकरी की परिभाषा दी है—

फल प्रकल्प्यते यस्या परार्थायैव केवलम् ॥१९ २५

अर्थात् प्रकरी-नायक के अपने स्वार्थ (फल) का प्रश्न ही नहीं है।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद् द्विविधमित्याह—

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥१३

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्—पताकेवा-साधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात्। यदल्पं दूरं नानुवर्तते सा प्रकरी, श्रावणादिवृत्तान्तवत्।

प्रासङ्गिक कथानक भी पताका और प्रकरी भेद से दो प्रकार का होता है।

अनुबन्धसहित प्रासङ्गिक कथावस्तु को पताका और अल्पदेशभागी प्रासङ्गिक कथावस्तु को प्रकरी कहते हैं।

आधिकारिक इतिवृत्त का दूर तक अनुसरण करने वाला प्रासङ्गिक इतिवृत्त पताका है—जैसे रामायण में सुग्रीवादि का वृत्तान्त। जैसे, पताका या ध्वज नायक का विशेष चिह्न हे कर उसका उपकारक है, उसी प्रकार नायक से अनुबद्ध तथा उपकारी कथानक पताका है। जो कथा अल्प दूर तक पीछे-पीछे चलती है, वह प्रकरी है—जैसे रामायण में श्रावण आदि का वृत्तान्त।

नान्दी टीका—

१२ धनञ्जय के अनुसार पताका सानुबन्ध होती है। धनिक ने सानुबन्ध की व्याख्या की है—

'दूरं यदनुवर्तते'।

अर्थात् पताका बहुत दूर तक चलती रहती है। सानुबन्ध का अर्थ 'दूर तक चलने वाला' धनञ्जय भी मानते हैं, तब वे कहते हैं कि—

प्रकरी च प्रदेशभाक्।

अर्थात् प्रकरी थोड़ी दूर तक चलती है।

धनिक और धनञ्जय दोनों का सानुबन्ध का अर्थ समीचीन नहीं प्रतीत होता है। सानुबन्ध में अनुबन्ध दूरी नहीं बताता। अनुबन्ध तो समय संविद् या शर्त है, जिसे अङ्ग्रेजी में कान्ट्रैक्ट (Contract) कहते हैं। अभिनवगुप्त ने अनुबन्ध का यह अभिप्राय नाट्यशास्त्र की टीका में स्पष्ट किया है।[1]

रामायण में सुग्रीव की कथा पताका है। इसमें सुग्रीव और राम का अनुबन्ध होता है कि आप मेरे लिए यह करें तो मैं आपके लिए ऐसा करूँगा।

पताका नायक का प्रधान नायक से साङ्गाठ रहती है। वे परस्पर मिलकर एक दूसरे के लिए काम करते हैं। प्रकरी नायक का प्रधान नायक से मिलना आवश्यक नहीं। वह स्वान्त सुखाय प्रधान नायक के हित के लिए कर्तव्य पालन करता है। पताका वृत्त में यद्यपि प्रधान नायक रहता है, किन्तु वह पताका नायक का सहायक-मात्र प्रतीत होता है। प्रकरी-वृत्त में प्रधान नायक का होना वैकल्पिक है।

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति—

१४ प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचनम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥१४

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचनरूपं पताकावद्भवतीति पताकास्थानकम्। तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्यविशेषणतया च द्विप्रकारम्—अन्योक्ति समासोक्तिभेदात्। समासोक्ते सकाशादन्योक्तेर्भेदात्। यथा, रत्नावल्याम्—

[1] ना० शा० १८ २५ पर अभिनवभारती।

'यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्या सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकर करोति ।।'३.६

पताका का प्रसग होने से (नाम की समानता के आधार पर) पताका-स्थानक की परिभाषा है ।

१४. सामने आई हुई और भविष्य मे आने वाली घटना को साथ ही अन्योक्ति द्वारा प्रकाशित करने वाला पताका-स्थानक होता है । यह तुल्य सविधान (कार्य, प्रवृत्ति) या समान विशेषण से सिद्ध होता है ।

प्रकरणगत और भावी अर्थ का सूचक वक्तव्य पताका-तुल्य होने से "पताका-स्थानक" कहा जाता है । उसमे कही इतिवृत्त को और कही विशेषणो की समानता रहती है । पताकास्थानक दो प्रकार का है—अन्योक्तिपरक और समासोक्तिपरक । जैसे रत्नावली मे पताकास्थानक है—

"हे कमलनयन, मैं अब चला । मेरा यह चलने का समय है । सोई हुई आपको मैं ही (प्रात) जगाऊँगा । अस्ताचलरूपी मस्तक पर किरणरूपी हाथ रखकर यह सूर्य मानो कमलिनीरूपी नायिका को आश्वासन दे रहा है ।"

(कमलिनी और सूर्य के प्रसङ्ग मे जो बातें कही गई हैं, उनमे अन्योक्ति द्वारा उदयन नायक और रत्नावली नायिका का भावी व्यापार सूचित होता है कि कल प्रात. मिलेंगे । अत अन्योक्तिगर्भित पताकास्थानक है ।)

यथा च तुल्यविशेषणतया—

'उद्दामोत्कलिका विपाण्डुररुच प्रारब्धजृम्भा क्षणा-
दायास श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मन. ।
अद्योद्यानलतामिमा समदना नारीमिवान्या ध्रुव
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्या करिष्याम्यहम् ।।'२ ४

समान विशेषणो के श्लेषमय अर्थ द्वारा प्रत्यक्ष वर्णित विषय से मनोनीत विषय का सकेत समासोक्ति मे होता है । जैसे,

' इस उद्यानलता मे कलियाँ निबंन्ध तथा ऊर्ध्वमुखी हैं, विशेषतया वह श्वेत कान्ति से सम्पन्न है, अभी-अभी ही विकास कर चुकी है और वायु के निरन्तर झोंकों मे वह अपना आयाम व्यक्त कर रही है । यह लता निश्चय ही उस कामाकुल स्त्री के समान है, जिसमे कामपीडाजनित अतिशय बेचैनी हो, फलत पाण्डुवर्ण हो रही हो, क्षण-क्षण जम्हाई या अँगडाई ले रही हो और निरन्तर उच्छ्वासो से जो अपनी मदनव्यथा का आयास व्यक्त कर रही हो । इस लता को देखता हुआ मैं (नायक) महारानी के मुख को प्रणयकोप से रक्ताभ कर दूँगा । अर्थात् लता को रानी परस्त्री समझेंगी और उस ओर मेरे देखने पर कोप से लाल हो उठेंगी ।"

(इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में आये हुए विशेषण श्लेष द्वारा लता और नायिका दोनो

पर घटने है। इस पताकास्थानक से सूचित होता है कि राजा जब प्रेमिका को रागयुक्त होकर देखेगा, तब महारानी को कोप होगा। इस प्रकार भावी कथानक की सूचना दी गयी है।) समासोक्ति का अभिप्राय है संक्षेप मे कहना।

धनञ्जय की कारिका मे अन्योक्ति का प्रयोग यह बताने के लिए हुआ है कि प्रत्यक्ष रूप मे जो अर्थ प्रतीत हो रहा है, उससे भिन्न दूसरा मनोनीत अर्थ पताका-स्थानक के लिए ग्रहण किया जाता है।

धनिक ने अन्योक्ति और समासोक्ति विधि से पताकास्थानक के द्वारा प्रतीयमान उपर्युक्त दो अर्थों की चर्चा की है। उनके मतानुसार जब दूसरा अर्थ समान घटनाओ के द्वारा सकेतित होता है तो अन्योक्ति है और जब वही श्लेष-निर्भर विशेषणो के द्वारा सकेतित होता है तो समासोक्ति होती है।

नान्दी टीका

जिस प्रकार किसी पताका को देखकर पथिक अपनी भावी गमन-दिशा का निर्धारण करता है। उसी प्रकार पताकास्थानक से भावी कार्य-प्रवृत्ति का सकेत मिलता है।

पताका-स्थानक की दशरूपक की परिभाषा भरत के नाट्यशास्त्र की परिभाषा से पर्याप्त भिन्न है।[१] दशरूपक की परिभाषा के अनुसार अन्योक्ति का तत्त्व पताका-स्थानक मे सर्वथा आवश्यक है। भरत के अनुसार अन्योक्ति पताका-स्थानक के लिए आवश्यक नही है।

भरत ने चार प्रकार के पताका स्थानक बताये है।[२] धनञ्जय न उनमे से जैसे-तैसे दो को चुना है।

धनञ्जय के अनुसार पताका-स्थानक मे प्रस्तुत (जो वस्तु सामने है) के द्वारा अप्रस्तुत (जो वस्तु भविष्य मे होगी) की सूचना दी जाती है। ऐसा करने के लिए दो उपाय किये जाते हैं—

(१) प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो के विशेषणो को समान रखकर प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की सूचना देना।

(२) प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो के सविधान (काम) को समान रखकर प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की सूचना देना।

'धनिक न उद्दामोत्कलिका' इत्यादि श्लोक को तुल्य-विशेषणात्मक पताका-स्थानक का उदाहरण बताया है। अभिनवगुप्त के अनुसार उपर्युक्त श्लोक मे पताका-स्थानक तत्त्व है ही नही। क्यो—

१ नाट्यशास्त्रीय परिभाषा है—

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिस्तल्लिङ्गोऽन्य प्रयुज्यते।

आगन्तुकेन भावेन पताका-स्थानक तु तत्॥ १९ ३०

२. दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृष्ठ २३-२५

अर्थात् बात कुछ और सोची जा रही है और भावी उपाय-वशात् उनसे सङ्केतित कोई दूसरी बात सामने आ जाती है तो पताका स्थानक होता है ।

अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि पताका-स्थानक के द्वारा किसी ऐसी घटना को बताना चाहिए, जो नायक को फल प्राप्त कराने में सहायक हो । 'उद्दामोत्कलिका' आदि में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है । यह श्लोक व्याहार नामक वीथ्यङ्ग का उदाहरण है, पताका-स्थानक का नहीं ।[1]

एवमाधिकारिकद्विविधप्रासङ्गिकभेदात् त्रिविधस्यापि त्रैविध्यमाह—

१५. प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥१५

१६. मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।

इति निगदव्याख्यातम् ।

इस प्रकार आधिकारिक और दो प्रकार का प्रासंगिक—ये तीन भेद कथावस्तु के होते हैं । ये तीनों पुन तीन-तीन प्रकार के होते हैं—

१५ वह तीन प्रकार की कथावस्तु—आधिकारिक, पताका और प्रकरी—पुन तीन प्रकार की होती है—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र । इतिहास (पुराण) आदि का कथानक प्रख्यात है, कविकल्पित कथावस्तु उत्पाद्य है और इन दोनों के मिश्रण से मिश्र कथावस्तु होती है । ये सभी कथावस्तु दिव्य (देवसम्बन्धी) और मर्त्य (मनुष्य-सम्बन्धी) आदि (दिव्यादिव्य) भेद करने पर अनन्त प्रकार के हो जायेंगे ।

नाम लेने मात्र से व्याख्या हो गई ।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने मिश्र नामक कथावस्तु बताई है, जो भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं है । मिश्र कथावस्तु धनञ्जय की असत्कल्पना है । प्रख्यात और उत्पाद्य के मिश्रण से यदि मिश्र वस्तु हो सकेगी तो अभिज्ञानशाकुन्तल की ही कथावस्तु मिश्र हो जायेगी क्योंकि उसमें छठें और सातवें अङ्क की कथा सर्वथा उत्पाद्य है । ऐसा धनञ्जय को मान्य नहीं, क्योंकि अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक है और वे नाटक में प्रख्यात कथावस्तु आवश्यक बताते हैं ।

१ ना० शा० १९.३४ पर अभिनव-भारती ।

भरत ने चार प्रकार का कथावस्तु—प्रख्यात, औत्पत्तिक, अनार्य और आहार्य बताई हैं और श्रृङ्गारप्रकाश मे भोज पाँच प्रकार की कथावस्तु—इतिहासाश्रय, कथाश्रय, उत्पाद्य, अनुत्पाद्य और प्रतिसंस्कार्य बताते है।[2]

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह—

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥१९६

धर्मार्थकामाः फलम्। तच्च शुद्धमेकैकमेकानुबन्धं द्व्यनुबन्धं त्र्यनुबन्धं वा।

इतिवृत्त का फल क्या है, इस विषय मे आगे कहते हैं—

(धर्म, अर्थ और काम) त्रिवर्ग ही कार्य (फल) है, जो कहीं अकेले शुद्ध होता है और कहीं एक या अनेक से युक्त होता है।

धर्म अर्थ और काम फल होते हैं जो कही एक ही एक होते हैं और शुद्ध कहे जाते है और कही एक या दो या तीन साथ साथ अनुबद्ध रहते हैं। यथा धर्मार्थ, धर्मकाम, अर्थकाम और धर्मार्थकाम।

नान्दी टीका

धनञ्जय कार्य को फल मानते है। कार्य वस्तुत पाँच अर्थप्रकृतियो मे से एक है। अर्थप्रकृतियाँ हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। यहाँ प्रश्न उठता है कि कार्य फल है या समारम्भ (Action) है? नाट्यशास्त्र के अनुसार यहाँ प्रतिपाद्य है कि कार्य फल नहीं है, अपितु समारम्भ है। भरत का स्पष्ट मत है—

सर्वस्यैव हि कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभि ।
एतास्त्वनुक्रमेणैव पञ्चावस्था भवन्ति हि ॥ १९ १८

अर्थात् कार्य को पाँच अवस्थायें—आरम्भ, यत्नादि होता है। ये पाँच अवस्थायें समारम्भ है, न कि फल। अभिनवगुप्त के अनुसार—कार्य मे तात्पर्य पञ्चाङ्ग का अनुष्ठान है—कर्म का आरम्भोपाय, पुरुष द्रव्य-सम्पद्, देशकाल-विभाग, विनिपात-प्रकार, और कार्य सिद्धि।[2] दशरूपक की १ १६ कारिका मे कार्य के स्थान पर फल होना चाहिए था और कार्य की परिभाषा नायक का फलानुवर्ती व्यापार अलग से कर देनी चाहिए थी।

तत्साधनं व्युत्पादयति

१७ स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः परस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम्। यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवा

---

१ दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृ० २६-२७

२ दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृष्ठ १८-२२
अन्यत्र कार्य को कहीं-कहीं फल माना गया है। यह ठीक भी है, किन्तु अर्थप्रकृतियो में कार्य फल नहीं, समारम्भ है।

योगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्त. —

यौगन्धरायण —क संदेह ('द्वीपादन्यस्मात्—' इति पठति), इत्यादिना 'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ' इत्यन्तेन ।

यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचितो युधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति । तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदादनेकप्रकारमिति ।

फल के साधन बताते हैं—

१७ सूक्ष्मरूप में थोड़े शब्दों मे कहा हुआ तथा अनेक प्रकार से विस्तार लेने वाला फल का साधन बीज कहा जाता है ।

कार्य फल का साधक जो थोड़े मे हो निर्दिष्ट होता है, और आगे चल कर अनेक प्रकार से विस्तार ग्रहण करने वाला है, वह बीजतुल्य होने से 'बीज' है। जैसे, रत्नावली मे वत्सराज उदयन द्वारा रत्नावली की प्राप्ति का कारण, अनुकूल भाग्य से युक्त यौगन्धरायण का व्यापार बीज है, जो विष्कम्भक मे रखा गया है—

यौगन्धरायण कहता है—'क्या सन्देह' और फिर 'द्वीपाद्' इत्यादि श्लोक से लेकर 'प्रारम्भे' इत्यादि तक कह जाता है ।

इसी प्रकार वेणीसंहार मे द्रौपदी के केशबन्धन का कारण युधिष्ठिर का उत्साह बीज है, जो भीम के क्रोध से बढ़ता है । वह बीज फलहेतु होने से दो प्रकार का है—

महाकार्य हेतु, अर्थात् मुख्य फल का हेतु और अवान्तर कार्य का हेतु, अर्थात् माध्यामिक प्रत्येक अङ्क में आने वाले छोटे मोटे प्रासङ्गिक कार्यों का हेतु ।

अवान्तरबीजस्य संज्ञान्तरमाह—

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥१७

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्तरकार्यहेतु —उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते । सागरिका—(श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती—कहं एसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णा । (कथमेष स उदयननरेन्द्रो यस्मा अहं तातेन दत्ता) इत्यादि । बिन्दु — जले तैलबिन्दुवत्प्रसारित्वात् ।

वही उदयन राजा है, जिसे मैं पिता के द्वारा अर्पित की जा चुकी हूँ?" इत्यादि। इस प्रकार ये अवान्तरकार्य हेतु को बिन्दु इसलिए कहा जाता है कि वह जल में तैल की बूँद के समान प्रसारित होता है।

नान्दी टीका

बिन्दु वस्तुत: बीज ही है। रूपकों में एक महाबीज होता है, जिसमें सम्पूर्ण रूपक की कथा का सूक्ष्म निर्देशन होता है। इसके अतिरिक्त अवान्तर-बीज या बिन्दु होते हैं, जो प्रत्येक अङ्क के प्राय अन्तिम अंश में (कहीं-कहीं बीच में) रखे जाते हैं। इनके द्वारा किसी घटना की समाप्ति हो जाने पर उसके आगे आने वाली घटना का संकेत देते हैं। इस प्रकार पूर्वापर घटना के संयोजन या सम्बन्धन का काम बिन्दु के द्वारा होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार बिन्दु अनुसन्धानाभिधायि वाक्य है।[1]

इदानीं पताकाद्यं प्रसङ्गाद्व्युत्क्रमोक्तं क्रमार्थमुपसंहरन्नाह—

१८ बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणा:।

अर्थप्रकृतय: पञ्च ता एता: परिकीर्तिता: ॥१८

अर्थप्रकृतय: =प्रयोजनसिद्धिहेतव:।

उक्त पताकादि को प्रसंगवश क्रम छोड़कर निर्दिष्ट किया गया था। उनका क्रम निर्धारित करने के लिए सभी का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

१८ बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नाम से पाँच अर्थप्रकृतियाँ होती हैं। उनका परिचय दे दिया गया।

अर्थप्रकृति प्रयोजन (फल) की सिद्धि के कारण हैं।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—इन पाँचों को अर्थप्रकृति नाम दिया है। भरत और धनञ्जय ने अर्थप्रकृति की परिभाषा नहीं दी है। अर्थप्रकृति से क्या समझा जाय?

अर्थप्रकृति की सर्वप्रथम परिभाषा मिलती है—समस्त रूपक में जो कुछ कहा गया है, उसकी प्रकृति (प्रकरण, अवयव, अर्थखण्ड)।[2] अभिनवगुप्त के सामने यह परिभाषा थी। वे इस परिभाषा को समीचीन नहीं मानते। उनके अनुसार अर्थ फल है और प्रकृति उसका उपाय है और अर्थप्रकृति फलोपाय है। हमें अभिनवगुप्त के पूर्व की परम्परागत परिभाषा ठीक लगती है। इसे ही परवर्ती कतिपय नाट्याचार्यों ने स्वीकार किया है। यथा

१ अभिनवभारती—भाग २, पृष्ठ ४२३

२ समस्तरूपकवाच्यस्य प्रकृतय: प्रकरणान्यवयवार्थखण्डा इत्यर्थप्रकृतय:। यह परिभाषा अभिनवगुप्त ने उद्धृत की है। ना० शा० १९ २१ पर अभिनवभारती में।

अर्थप्रकृतय पञ्च कथादेहस्य हेतव ।—भावप्रकाशन, पृष्ठ २०४
नाटकीयवस्तुन पञ्चप्रकृतय स्वभावाः भवन्ति ।
नैतान् परित्यज्य नाटकार्या सम्भवन्ति ।—नाटकलक्षणरत्नकोश
पाञ्चविध्यात् कथायास्तु प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता ।—नाटकचन्द्रिका ६ १
वस्तुत कथावस्तु के आख्यान के विविध उद्भवस्थलो को अर्थप्रकृति कहते हैं ।

अवस्थाः

१९. अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशानियताप्ति-फलागमाः ॥१९

यथोद्देशं लक्षणमाह—

पाँच अवस्थायें इन (अर्थप्रकृतियों) से भिन्न हैं । पाँच अवस्थायें —

१९ फल की इच्छा रखने वाले के द्वारा प्रारम्भ किए हुए कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम ।

नाम के क्रम से इनका लक्षण दिया जा रहा है—

नान्दी टीका

धनञ्जय ने अवस्था की परिभाषा नहीं दी । भरत के अनुसार फल की प्राप्ति के लिए साधक का जो व्यापार होता है, उसकी क्रमश आरम्भादि पाँच अवस्थाये होती हैं ।[1] इनको इतिवृत्त की अवस्था भी कहा गया है ।[2]

२०. औत्सुक्यमात्रमारम्भ फललाभाय भूयसे ।

इदमहं सपादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते । यथा रत्नावल्याम् —'प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्यं दत्तहस्तावलम्बे ।' इत्यादिना मन्त्रिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शित. ।

२० महत्त्वपूर्ण फल की प्राप्ति के लिए इच्छा करना मात्र आरम्भ है ।

मैं इस प्रयोजन को प्राप्त करूँ, यह निश्चयमात्र आरम्भ कहा जाता है । जैसे रत्नावली मे यौगन्धरायण का कथन है कि स्वामी के अभ्युदय के लिए यह हमारा व्यवसाय है, जिसमें भाग्य ने इस प्रकार हाथ लगाया है । इस प्रकार मन्त्री के द्वारा सफलता पाने वाले वत्सराज उदयन का कार्यारम्भ यौगन्धरायण के द्वारा बताया गया है ।

---

1. ना० शा० १९.७,१४
2. ना० शा० १९ १२

नान्दी टीका

आरम्भ नामक अवस्था मे औत्सुक्य-मात्र होता है। प्रश्न यह उठता है कि यह उत्सुकता किसकी हो ? अभिनवगुप्त के अनुसार नायक उसके अमात्य, नायिका, प्रतिनायक या दैव—इनमें से किसी को उत्सुकता हो सकती है।

यहाँ यह ध्यान देना है कि उत्सुकता किसी एक या दो कथापुरुषों को होगी, शेष पुरुष वहीं शारीरिक व्यापार भी कर सकते हैं। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अङ्क म नायक और नायिका को परस्पर-प्रणय की उत्सुकता है, किन्तु सखियाँ वहाँ वृक्षों को सींच रही हैं।

अथ प्रयत्न

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥२०

तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेष प्रयत्न । यथा रत्नावल्यामालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपाय.। सागरिका—तहावि मे णत्थि अण्णो दंसणुवाओ त्ति जहा-तहा आलिहिअ जधासमीहिअं करिस्सम्' (तथापि मे नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तयालिख्य यथासमीहितं करिष्यामि।) इत्यादिना प्रतिपादित ।

प्रयत्न—उस फल के न मिलने पर अतिशय शीघ्रतापूर्वक जो व्यापार किया जाता है, वह प्रयत्न है ॥२०

फल का प्राप्ति के अभाव मे उस चेष्टा विशेष को प्रयत्न कहते हैं, जिसमे उपायों की योजना आदि रहती है। जैसे, रत्नावली मे चित्ररचना आदि नायक के समागम का उपाय है—सागरिका कहती है—(नायक) दर्शन का अन्य कोई उपाय नहीं है। अत जैसे-तैसे चित्र बनाकर अभीष्ट (नायक-दर्शन) सम्पादित करूँगी।' यह नायिका द्वारा प्रयत्न का उदाहरण है।

नान्दी टीका

प्रयत्न नामक अवस्था मे धनञ्जय के मतानुसार फल-प्राप्ति की दिशा मे चेष्टा होती है। भरत का मत कुछ भिन्न सा है। वे इस अवस्था में चेष्टा के साथ उत्सुकता का परमाधिक्य होना भी लक्षण मानते है। नाटकों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उत्सुकता की विशेषता इस अवस्था मे होती ही है। यथा अभिज्ञान शाकुन्तल के तृतीय अङ्क मे इस अवस्था म नायक कहता है—

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।
अलमस्मि ततो हृदय तथापि नेद निवर्तयितुम् ॥३०२

इस श्लोक से दुष्यन्त की उत्सुकता बढ़ी हुई प्रतीत होती है।

प्रतिमुख सन्धि मे यत्नावस्था होती है। इस सन्धि का प्रथम अग विलास रति और भोग की उत्कट इच्छा है। वस्तुत यह यत्नावस्था मे औत्सुक्य है।

प्राप्त्याशामाह—

२१ उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भव ।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा। यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्तनाभिसरणादौ समागमोपायस्य वासवदत्तालक्षणापायशङ्कायाश्च– एव जदि अआलवादाली विअ आअच्छिअ अण्णदा ण णइस्सदि वासवदत्ता।' ('एवं यद्यकालवातालीवागत्यान्यतो न नय्यति वासवदत्ता।') इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता।

प्राप्त्याशा का लक्षण बताते हैं—

२१. प्राप्त्याशा (फल) प्राप्ति की सम्भावना प्राप्त्याशा है, जिसमें उपाय किए जाते हैं किन्तु (सफलता के रोधक) अपाय की शंका भी होती है।

उपाय करने और अपायशंका के होने से फलप्राप्ति पूर्णरूप से निश्चित नहीं होती। अनिश्चित फलप्राप्ति प्राप्त्याशा है। जैसे, रत्नावली के तृतीय अंक में वेषपरिवर्तन और अभिसार आदि समागम के उपायों के रहने पर भी वासवदत्ता के जान लेने पर अपाय की शंका है—"यदि आकस्मिक आँधी के समान आकर वासवदत्ता अन्यत्र न उड़ा ले जाये (तो समागम हो पाएगा)।" इस प्रसंग का उक्ति से दिखाया गया है कि समागम-रूप फल की प्राप्ति (सर्वथा) निश्चित नहीं है।

नान्दी टीका

प्राप्तिसम्भव का परिभाषा विशेष ध्यान देने योग्य है। धनञ्जय भरत की परिभाषा को अंशतः भी नहीं ग्रहण करते। भरत की परिभाषा के अनुसार उपाय करने पर जब फल की ईषत्प्राप्ति होती है तो वह प्राप्तिसम्भव नामक अवस्था होती है।[1] ईषत्प्राप्ति है असमग्र प्राप्ति। अर्थात् थोड़ा देर के लिए नायिका का मिल जाना, जैसा अभिज्ञानशाकुन्तल में दिखाई देता है—दुष्यन्त और शकुन्तला का गान्धर्व विवाह के द्वारा थोड़ा देर के लिए संगम।

जैसा भरत ने कहा है—संस्कृत के बहुसंख्यक नाटकों में प्रयत्नावस्था में इस प्रकार नायक-नायिका की ईषत्प्राप्ति मिलती है।[2] फिर भी न तो धनञ्जय ने इसे ग्रहण किया और न अभिनवगुप्त ने इसे ठीक से समझा। अभिनवगुप्त ने व्याख्या की है कि प्राप्तिसम्भव में प्राप्ति की ईषत् परिकल्पना होता है।[3] यह व्याख्या विनष्ट है।

1. ईषत्प्राप्तिर्यदा काचित् फलस्य परिकल्प्यते।
   भावमात्रेण तं प्राहुर्विधिज्ञाः प्राप्तिसम्भवम्। ना० शा० १९ ११
2. दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृ० ३०-३२
3. अभिनवगुप्त का कहना है—
   उपायमात्रेण सम्बन्धेन यदा यदाचित् विशिष्टफलप्राप्तिरापत् कल्प्यते, सम्भावनामात्रेण स्थाप्यते, न तु निश्चीयते, तदा प्राप्तेः सम्भवः।

प्राप्ति सम्भव का अर्थ है प्राप्ति का जन्म, जैसे कुमारसम्भव का अर्थ है कुमार का जन्म।

नियताप्तिमाह

अपायाभावत प्राप्तिर्नियताप्ति सुनिश्चिता ।।२१

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति। यथा रत्नावल्याम्— विदूषक सागरिका उण दुक्करं जीविस्सदि' (सागरिका पुन दुष्करं जीविष्यति। इत्युपक्रम्य 'किं ण उपायं चिन्तेमि।' (किं नोपायं चिन्तयसि ?) इत्यनन्तरम् 'राजा—वयस्य। देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' इत्यनन्तराङ्कार्थबिन्दुनानेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियता फलप्राप्ति सूचिता।

नियताप्ति—अपाय (विघ्न) के दूर हो जाने पर फल की प्राप्ति सुनिश्चित होती है। उसे नियताप्ति कहते हैं।।२१

अपाय के अभाव से अवधारित एकान्त (स्थायी) फलप्राप्ति नियताप्ति है। जैसे रत्नावली मे विदूषक कहता है—"सागरिका कठिनता से जीयेगी" यहाँ से लेकर आगे कहता है—"उपाय क्यो नही सोचते ?" इसके अनन्तर राजा कहता है—"सखे, देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त अन्य उपाय नही देख रहा हूँ।" यहाँ देवी का प्रसादन अगले अक की कथा का बिन्दु है, जिस प्रसादन से रानी के द्वारा उत्पन्न विघ्न का निवारण होने पर फल की प्राप्ति सुनिश्चित दिखाई देती है।

नान्दी टीका

प्राप्तिसम्भव मे नायक और नायिका का मिलन गोपनीय रहता है, नियताप्ति मे वह गोपनीय नही रह जाता और फलागम की अवस्था मे सुप्रकाशित हो जाता है।

फलयोगमाह—

२२ समग्रफलसपत्ति फलयोगो यथोचिता।

यथा रत्नावल्या रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति।

२२. फलयोग या फलागमन समग्र फल की यथोचित प्राप्ति है।

जैसे रत्नावली नाटिका मे रत्नावली की प्राप्ति होने से उदयन का चक्रवर्ती बनना फलागम है।

नान्दी टीका

प्राप्तिसम्भव मे ईषत्फलप्राप्ति होती है और फलयोग मे समग्रफल प्राप्ति एकान्तिक होती है।

सन्धयः

अर्थप्रकृतय पञ्च पञ्चावस्थासमन्विता. ॥२२

२३. यथासङ्ख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च संधयः ।

अर्थप्रकृतीना पञ्चाना यथासंख्येनावस्थाभि पञ्चभियोगात् यथासङ्ख्येनैव वक्ष्यमाणलक्षणा मुखाद्या पञ्च सधयो जायन्ते ।

२२-२३. पाँच अर्थप्रकृतियाँ और पाच कार्यावस्थायें क्रमश मिलकर मुखादि पांच सन्धियां बन जाती हैं ।

पाँच अर्थप्रकृतियो के क्रमश पाँच अवस्थाओ के साथ मिलने से क्रमश हो आगे कही जाने वाली मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसहृति (निर्वहण) नाम की पाँच सन्धियाँ होती है ।

नान्दी टीका

धनञ्जय के अनुसार पाँच अर्थप्रकृतियाँ और पाँच कार्यावस्थायें क्रमश समन्वित होकर मुख, प्रतिमुख आदि पाँच सन्धियाँ बनती है ।

धनञ्जय का यह मत चिन्त्य है । जहाँ तक पाँच अवस्थाओ का क्रमश पाँच सन्धियो से समजसित होने की बात है—यह निर्विवाद है । किन्तु पाँच अर्थप्रकृतियों का पाँच सन्धियो से क्रमश सामञ्जस्य सर्वथा वितथ है, क्योकि

(१) बिन्दु तो प्रत्येक अंक के अन्त मे और कही-कही अक के मध्य मे रहता है । अतएव बिन्दु को प्रतिमुख सन्धि मे सीमित नहीं किया जा सकता ।

(२) पताका और प्रकरी के बिना भी सभी प्रकार के रूपक हो सकते हैं ।[1] ऐसी स्थिति मे उनको गर्भ और विमर्श सन्धि मे क्रमश. निबद्ध करने की बात ठीक नहीं है । गर्भ और विमर्श सन्धियाँ बिना पताका और प्रकरी के भी प्रवर्तित हो सकती हैं ।

संधिसामान्यलक्षणमाह—

अवान्तरार्थसंबन्ध. संधिरेकान्वये सति ॥२३

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसबन्ध सन्धि ।

सन्धि का सामान्य लक्षण बताते हैं—

---

१. धनञ्जय ने दशरूपक में ही कहा है—

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषण मुहु. ।

द्वादशाङ्ग पताका स्यान्नवा स्यात् प्राप्तिसम्भवः ॥१.३६

अर्थात् गर्भसन्धि मे पताका का होना आवश्यक नहीं है ।

बहुविध गौण अर्थों (घटनाओं) का सम्बन्ध सन्धि है, जब उन सब अर्थों का एक प्रधान घटना (फल) की ओर अन्वय हो।।२३

एक ही प्रयोजन से गुँथे हुये कथा के भागों का गौण प्रयोजनों से और प्रधान प्रयोजन से सम्बन्ध ही सन्धि है।

नान्दी टीका

धनञ्जय की परिभाषा को दृष्टि से ओझल करके सन्धि को समझना समीचीन है। जैसे महाभारत पर्व में, रामायण काण्ड में और महाकाव्य सर्गों में विभक्त होते है, वैसे ही रूपक सन्धियों में विभक्त होते हैं। पर्व और सन्धि का अर्थ समान है—मिलन-बिन्दु, अर्थात् वह स्थल जहाँ दो वस्तुयें मिलती हैं। इस मूल अर्थ से लाक्षणिक अर्थ लिया गया है दो मिलन-बिन्दुओं के बीच की वस्तु। किसी पर्व या सन्धि से अभिप्राय है वह कथाखण्ड, जो दो अर्थ (घटनाओं) के मिलन-बिन्दुओं के मध्य होता है।

प्रत्येक सन्धि में कितनी कथा हो—इसका स्पष्ट निर्धारण अभिनवगुप्त ने किया है। उनका कहना है कि एक एक सन्धि एक एक अवस्था के कार्यों की कथा प्रस्तुत करती है।[१] इस प्रकार मुख सन्धि में आरम्भ, प्रतिमुख-सन्धि में यत्न, गर्भसन्धि में प्राप्ति-सम्भव, विमर्श सन्धि में नियताप्ति और निर्वहण-सन्धि में फलयोग सम्बन्धी कथा होता है।

जैसा अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कथावस्तु के अवयव जो परस्पर जोड़े जाते है, सन्धि है।[२]

आधुनिक नाट्यशास्त्रियों का भी स्पष्ट मत है कि सन्धि घटनाओं का मिलन-बिन्दु है और साथ ही मिलने वाले (कथा) खण्डों को सन्धि कहा जाता है। प्रो० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य ने कहा है—

The word Sandhi in Sanskrit dramaturgy denotes both linking up of the parts and the parts themselves[३]

अवस्था से कार्य-व्यापार का बोध होता है। नायकादि के कृतित्व और चारित्रिक उत्कर्ष का ज्ञान कार्यावस्थाओं से व्यक्त है। सन्धियों के द्वारा कवि के कृतित्व का बोध होता है। किसी अवस्था के कार्य-व्यापार को कितने रञ्जक ढंग से वह प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुत करता है—यह सन्धियों के विन्यास से प्रकट होता है, प्रत्येक

१ सन्धयो ह्यवस्था-परतन्त्रा। प्रारम्भाभिधान-दशाविशेषोपयोगि कथाखण्डात्मक मुख सन्धिरित्युक्तम्। ना० शा० १६.१०५ पर भारती।

२ तेनार्थावयवा सन्धीयमाना परस्परमङ्गैश्च सन्धय इति। ना० शा० १९.३७ पर अभिनव भारती।

३ नाटक लक्षण-रत्नकोश पृष्ठ ५०

सन्धि म बहुत से अङ्ग होते हैं, जो कथाशों की वर्णना इस प्रकार प्रस्तुत करते है कि उनके अभिनय मे सभ्यो का अधिकाधिक मनोरञ्जन हो।[१]

दशरूपक मे वस्तुत सन्धि की परिभाषा मे उसका धात्वर्थ मात्र बताया गया है कि सन्धि सम्बन्ध या जोडने की प्रक्रिया है। इस परिभाषा मे यह सकेत नही मिलता कि सन्धि अर्थराशि है अथवा कथाखण्ड है। आगे चल कर धनञ्जय ने भी सन्धि को वृत्तखण्ड माना है।[२]

आगे सन्ध्यङ्गो की चर्चा है। सन्ध्यङ्गो का एक प्रमुख लक्षण है कि वे ही सवादात्म सन्ध्यङ्ग होगे, जो साक्षात् ही बीज और फल के अनुवर्ती हैं और कार्यावस्था-परक नायक के व्यापार को बताते है। किसी की कोरी प्रशसा, वर्णन या उत्कर्ष व्याख्या सन्ध्यङ्ग नही हो सकती। ऐसे वक्तव्य वीथ्यङ्ग नाट्यालकार, सन्ध्यन्तर आदि कोटि मे आ सकते हैं।

के पुनस्ते संधय

२४. मुखप्रतिमुखे गर्भ सावमर्शोपसहृति ।

व सन्धियाँ क्या है?—

२४. मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसहार (निर्वहण)। ये पाँच सन्धिय के नाम हैं।

यथोद्देश लक्षणमाह—

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थ-रससम्भवा ।।२४

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रकारप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसन्धिरिति व्याख्येयम्। तेनात्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति।

बीज की उत्पत्ति मुखसन्धि है। यह अनेक अर्थ और रस का उत्पत्ति-स्थान है। २४

(मुख्य और प्रासगिक) बीजो की उत्पत्ति मुख-सन्धि है, जो बहुविध प्रयोजन (धर्मार्थकाम—त्रिवर्ग) और रस का हेतु है। ऐसी व्याख्या होनी चाहिए। इसके अनुसार जिस प्रहसनादि मे त्रिवर्ग फल नहीं होता, वहाँ रसोत्पत्ति का हेतु होना मात्र बीजत्व है।

---

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य है सन्धियो के अङ्गो के प्रयोजन—

इष्टार्थस्य रचना गोप्यगुप्ति प्रकाशनम्।
राग प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षय ।। दश० १ ५५

२. दशरूपक ३ २६

२५. अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भ-समन्वयात ।

अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति । तान्याह—

उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥२५

२६. उक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधान परिभावना ।

उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥२६

एतेषा स्वसंज्ञाव्याख्यातानामपि सुखार्थं लक्षणं क्रियते—

२५ बीज और आरम्भ (अवस्था) से युक्त इसके १२ अङ्ग हैं—उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, उक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद और करण । २६

अपने नाम मात्र से स्पष्ट होने पर भी सुबोध के लिए इनके लक्षण है ।

नान्दी टीका

मुखसन्धि के १२ अङ्ग होते हैं, जिनमें बीज नामक अर्थप्रकृति और आरम्भ नामक अवस्था से सम्बद्ध बातें कही जाती है । बीज की चर्चा इस प्रकार की जाती है कि वह अनेक घटनाओं और रसों का स्रोत हो ।

२७. बीजन्यास उपक्षेप

यथा रत्नावल्याम्—(नेपथ्ये)

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥ १७

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैवं स्वव्यापारं बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेप ।

२७. बीज डालना उपक्षेप है ।

उदाहरण—रत्नावली मे नेपथ्य मे कहा गया है—'अन्य द्वीप से भी, समुद्र के भीतर मे भी', दिशाओ के छोर से भी अभीष्ट वस्तु को झट लाकर अनुकूल दैव प्रस्तुत कर देता है ।

इसमे यौगन्धरायण अपने उस कार्य-व्यापार का बीज रूप मे सामने रख देता है, जिसमें दैव अनुकूल है और जिसके द्वारा वत्सराज को रत्नावली मिलेगी ।

नान्दी टीका

भरत ने उपक्षेप की स्पष्ट परिभाषा दी है कि इतिवृत्त का प्रथम चरण

उपक्षेप है।[1] दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि काव्यकथा का फलानुवर्ती प्रथम वक्तव्य उपक्षेप है।

अभिनवगुप्त ने बताया है कि उपक्षेप में रूपक के प्रधान (अङ्गी) रस का संकेत भी होना ही चाहिए।

—तद्वाहुल्यं परिक्रिया।

यथा तत्रैव—'अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थितायाः सिंहलेश्वरदुहितुः समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः फलकासादनम्।' इत्यादिना 'सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदयाः।' इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात्परिकरः।

परिकर—बीज की वृद्धि परिकर है।

जैसे रत्नावली में ही (यौगन्धरायण आगे कहता है) "यदि ऐसा न होता तो देवता के फलादेश के विश्वास से (स्वामी के लिए) माँगी हुई सिंहलनरेश की कन्या के द्वारा समुद्र में नौका डूबने पर बच निकलने पर नौका की पटिया कैसे पकड़ ली जाती।" इत्यादि कहकर वह पुनः कहता है—"सब प्रकार से अभ्युदय स्वामी को प्राप्त हो रहे हैं।" यहाँ तक बीजोत्पत्ति बढ़ाया गया है। अतः यही परिकर है।

नान्दी टीका

अभिनवगुप्त के अनुसार परिकर में बातें फल की ओर कुछ आगे बढ़ती हैं। परिकर का प्रयोजन है इष्ट अर्थ की रचना।

परिन्यासमाह

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

यथा तत्रैव—

प्रारम्भेऽस्मिन्स्वामिनो वृद्धिहेतौ दैवे चेत्थं दत्तहस्तावलम्बे।
सिद्धेर्भ्रान्तिर्नास्ति सत्यं तथापि स्वेच्छाकारी भीत एवास्मि भर्तुः॥

इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वव्यापारस्य दैवयोगात् निष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः।

परिन्यास—बीज की निष्पत्ति (सफलता) परिन्यास है।

उदाहरण—रत्नावली में यौगन्धरायण कहता है—"यह मेरा कार्य स्वामी की उन्नति का कारण है। इसमें भाग्य ने भी इस प्रकार सहायता की है। अब यद्यपि यह सत्य है कि सफलता में सन्देह नहीं रहा, पर मैंने इसे स्वेच्छा से किया है। अतएव स्वामी से डर लगता है।"

---

1 काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः। १९-६८
इस प्रसङ्ग में काव्यार्थ है इतिवृत्त-शरीर और उपक्षेप है प्रथमपद।

इस प्रकार यौगन्धरायण ने दैवयोग से अपने व्यापार की सफलता बताई है—यह परिन्यास है।

नान्दी टीका

परिन्यास की परिभाषा में निष्पत्ति है—हृदय में बैठाना कि फल मिलकर रहेगा। बीज और परिकर में जो फलानुवर्ती प्रवृत्तियाँ बनाई जाती हैं, उन्हें परिन्यास में दृढतापूर्वक प्रेक्षकों के मन में वास्तविकता के रूप में पक्का कर दिया जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार परिन्यास की व्याख्या है—परितः हृदये सः (काव्य) अर्थ उपन्यस्यते।

—गुणाख्यानाद् विलोभनम् ॥२७

यथा रत्नावल्याम्—

'अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवा—
वास्थानीं समये समं नृपजनः सायंतने संपतन्।
संप्रत्येष सरोरुहद्युतिमुषः पादास्तवासेवितुं
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥'

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकायाः समागमहेत्वनुरागबीजानुगुण्येनैव विलोभनाद्विलोभनमिति।

यथा च वेणीसंहारे—

मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसंघट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥'

इत्यादिना 'यशोदुन्दुभिः' इत्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद्विलोभनमिति।

विलोभन—गुण की वर्णना से विलोभन होता है।२७

जैसे रत्नावली में—"इस समय जब सूर्य अस्ताचल पर अपनी समस्त किरणें डालकर आकाश के पार जा चुका है, तब सायंकाल में एक साथ सभी राजा लोग सभा-मण्डप में एकत्र हो रहे हैं। इस समय यह राजलोक कमलों की कान्ति को चुराने वाले तुम्हारे उन चरणों की सेवा करने के लिए प्रतीक्षा कर रहा है, जो उनके नेत्रों के लिए प्रीति और उत्कर्ष के जनक हैं, जैसे, वे चन्द्रमा की उन किरणों की ओर देख रहे हों, जो कमलों की कान्ति हरते हैं तथा नेत्रों को प्रीति और उत्कर्ष देते हैं।"

इस प्रकार वैतालिक (चारण) के मुख से चन्द्रमा के तुल्य वत्सराज के गुणों का

वणन है। इसके द्वारा सागरिका के समागम के कारण अनुराग बीज के अनुरूप विलोभन प्रस्तुत किया गया है। अतएव यह विलोभन है।

और जैसे वणीसहार मे 'जो मन्थन से चलायमान समुद्र के जल से भरी हुई कन्दराओं वाले घूमते हुए मन्दराचल की ध्वनि के समान गम्भीर, काणाघात होने पर गरजते हुए प्रलयकालिक मेघो की घटाओं के परस्पर सघर्षणयुक्त गडगडाहट के समान प्रचण्ड, द्रौपदी के प्राण का सूचक कुरुकुल के सर्वनाश के उत्पात की आँधी और हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि के तुल्य यह नगाडा किसके द्वारा बजाया जा रहा है ?"

यहाँ से लेकर "यशोदुन्दुभि" तक के कथन द्वारा द्रौपदी का विलोभन हो रहा रहा है।

नान्दी टीका

विलोभन परिभाषानुसार गुणवर्णना से उत्पन्न होता है। प्रश्न है किस के गुण की वर्णना हो? अभिनवगुप्त ने बताया है कि काव्यार्थ के गुणा का आख्यान होना चाहिए।

अभिनवगुप्त की व्याख्या के अनुसार धनिक के द्वारा प्रस्तुत दोनों उदाहरण समाचीन नहीं हैं, क्योंकि उनमे काव्यार्थ के गुणो की वर्णना का अभाव है।

२८. संप्रधारणमर्थाना युक्ति

यथा रत्नावल्याम्—'मयापि चैना देवीहस्ते सबहुमान निक्षिपता युक्तमेवानुष्ठितम्। श्रुतं च मया यथा बाभ्रव्य कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथंकथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतेन रुमण्वता घटित ।' इत्यनेन सागरिकाया अन्त पुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादिप्रयोजनावधारणाद् बाभ्र-यसिंहलेश्वरामात्ययो स्वनायकसमागमहेतुप्रयोजनस्वेनावधारणाद्युक्तिरिति।

२८ युक्ति—पहले के अर्थ (इतिवृत्त) की सप्रधारण चर्चा युक्ति है।

उदाहरण—रत्नावली मे यौगन्धरायण कहता है—

"मैंने भी देवी के हाथ मे सम्मानपूर्वक इस सागरिका को सौंपते हुए ठीक ही किया है। मैंने सुना भी है कि बाभ्रव्य कञ्चुकी सिंहलेश्वर के मन्त्री वसुभूति के साथ किसी प्रकार समुद्र मे बचकर, कोसल के विनाश के लिए गये हुए रुमण्वान् से जा मिला है।"

इस प्रकार अन्त पुर मे स्थित सागरिका द्वारा सुखपूर्वक वत्सराज के दर्शनादि का प्रयोजन सुनिश्चित किया गया है तथा बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर के मन्त्री अपने नायक (वत्सराज) के समागम के कारण हैं। यह भी प्रयोजन रूप मे निर्धारित किया गया है। अत 'युक्ति' नामक अङ्ग है, जिसमे पहले के अनेक कार्यों का एकत्र पर्यालोचन वर्णन है।

नान्दी टीका

अभिनवगुप्त के अनुसार युक्ति की परिभाषा में अर्थ भूतकालीन उपलब्धियाँ हैं। उन्हीं को बताया जाता है और उन पर विचार किया जाता है। इसका प्रयोजन है प्रकाश्य प्रकाशन।

प्राप्ति सुखागम

यथा वेणीसंहारे— 'चेटी—भट्टिणि ! परिकुविदो विअ कुमारो लक्खीयदि (भट्टिनि, परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते।) इत्युपक्रमे भीम

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू संधिं करोतु भवता नृपतिः पणेन ॥१.१५

द्रौपदी—[श्रुत्वा सहर्षम्] 'णाध अस्सुदपुव्वं एदं वअणं। ता पुणो पुणो भण।

(नाथ ! अश्रुतपूर्वं खल्वेतद्वचनम्। तत्पुनः पुनर्भण) इत्यनेन भीमक्रोधबीजान्वयेनैव सुखप्राप्त्या द्रौपद्याः प्राप्तिरिति।

यथा च रत्नावल्याम्—'सागरिका—[श्रुत्वा सहर्षं परिवृत्य सस्पृहं पश्यन्ती] कध अअं सो राआ उदयणो जस्स अहं तादेण दिण्णा। ता परप्पेसणदूसिदं मे जीविदं एदस्स दंसणेण बहुमदं संजादम्।' [कथमयं स राजोदयनो यस्मा अहं तातेन दत्ता। तत्परप्रेषणदूषितमपि मे जीवितमेतस्य दर्शनेन बहुमतं संजातम्] इति सागरिकायाः सुखागमात् प्राप्तिरिति।

प्राप्ति—सुख की प्राप्ति होना प्राप्ति है।

जैसे वेणीसंहार में चेटी कहती है—"स्वामिनि, कुमार कुपित से जान पड़ते हैं।' इस उपक्रम में भीम कहते हैं—

"मैं युद्ध में सौ कौरवों को अपने कोप से रगड़ न दूँ ? मैं दुःशासन के वक्ष से रुधिर न पी डालूँ ? मैं दुर्योधन की जाँघ को गदा से तोड़ न डालूँ ? (इसके विपरीत) आपके राजा (युधिष्ठिर) पणपूर्वक (दुर्योधन से) सन्धि करें ?"

इसे सुनकर द्रौपदी सहर्ष कहती है—"नाथ यह वचन पहले कभी नहीं सुना गया, बारबार कहें।' इसमें भीम के क्रोधरूप बीज का सामञ्जस्य है, जिससे द्रौपदी को सुख मिला है। अतएव प्राप्ति है।

और जैसे रत्नावली में सागरिका (उदयन का परिचय) सुनकर सहर्ष मुड़कर लालसापूर्वक देखती हुई कहती है—"क्या यही वह राजा उदयन है, जिन्हें मैं पिता द्वारा दी जा चुकी हूँ ? दूसरों की सेवावृत्ति से दूषित होने पर भी मेरा जीवन इनके दर्शन से बहुमूल्य हो गया।" यहाँ सागरिका को सुख प्राप्त हुआ। यही प्राप्ति है।

प्राप्ति सुखागम है। किसका सुखागम ? अभिनवगुप्त के अनुसार किसी नायक का सुखागम प्राप्ति है।

बीजागम समाधानम्—

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—तेण हि उवणेहि मे पूजाणिमित्ताइं उवअरणाइ। [तेन ह्युपनय मे पूजानिमित्तानि उपकरणानि।'] सागरिका—भट्टिणि एदं सव्वं सज्जम्। ['भट्टिनि! एतत्सर्वं सज्जम्!'] वासवदत्ता—[निरूप्यात्मगतम्] अहो पमादो परिअणस्स। जस्स एव्व दंसणपहादो पअत्तेण रक्खीअदि, तस्स ज्जेव क्हं दिट्ठिगोअरं आअदा। भोदु एव्वं दाव। [प्रकाशम्] हञ्जे सागरिए कीस तुमं अज्ज पराहीणे परिअणे मअणूसव सारिअं मोत्तूण इहागदा। ता तहिं ज्जेव गच्छ।' ['अहो प्रमाद परिजनस्य। यस्यैव दर्शनपथात् प्रयत्नेन रक्ष्यते, तस्यैव कथं दृष्टिगोचरमागता। भवतु एवं तावत्। चेटि सागरिके! कथं त्वमद्य पराधीने परिजने मदनोत्सवे सारिकां मुक्त्वेहागता। तत्तत्रैव गच्छ।') इत्युपक्रमे 'सागरिका—(स्वगतम्) 'सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थे समप्पिदा। पेक्खिदु च मे कुतूहलं। ता अलक्खिआ पेक्खिस्स।' (सारिका तावन्मया सुसंगतायाः हस्ते समर्पिता। प्रेक्षितुं च मे कुतूहलम्। तदलक्षिता प्रेक्षिष्ये।' इत्यनेन वासवदत्तायाः रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात्सारिकायाः सुसङ्गतायाः हस्ते समर्पणेनालक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात्समाधानमिति।

यथा च वेणीसंहारे— भीमः—भवतु पाञ्चालराजतनये, श्रूयतामचिरेणैव कालेन

'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥'

इत्यनेन वेणीसंहारहेतोः क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात् समाधानम्।

बीज में जो बात कही गई, उसी को फिर कहना समाधान है।

जैसे रत्नावली में—

'वासवदत्ता—तो फिर मेरे पूजानिमित्त उपकरण ले आ।

सागरिका—स्वामिनि, यह सब तैयार है।

वासवदत्ता—(देखभाल कर, मन में) अरे, सेवकजन की असावधानी है। जिसके दृष्टिपथ से प्रयत्नपूर्वक (सागरिका) बचाई जा रही है, कैसे उसी की दृष्टिगोचर हो

गई ? अच्छा, ऐसा करूँ ! (प्रकाश मे) अरी सागरिके, कैसे आज मदनोत्सव में परिजन के लगे होने पर मैना को छोड़कर तू यहाँ आ गई ? तुम तो वहीं जाओ।"

यहाँ से लेकर सागरिका—(स्वगत) "मैना तो मैंने सुसंगता के हाथ में सौंप दी थी। (उत्सव) देखने का मुझे कौतूहल है। अच्छा, अलक्षित रहकर देखूँगी।" यहाँ तक वासवदत्ता ने रत्नावली और उदयन के परस्परावलोकन का प्रतीकार किया, परन्तु (सागरिका के द्वारा) सुसंगता के हाथ मे मैना को सौंपने और अलक्षित होकर उत्सव देखने से समागम के बीज का उपादान हो जाता है। अत यह समाधान है, क्योंकि बीजात्मक चर्चा पुन: की गई है।

और जैसे वेणीसंहार में भीम कहते हैं—

'अच्छा, पाञ्चालराजपुत्रि, सुनिए ! थोड़े ही समय मे—

हे देवि, फड़कते हुए भुजा से घुमाई हुई गदा के प्रहार से चकनाचूर हुए ऊरु-युगल वाले सुयोधन के जमे हुए थक्का बने सघन रक्त से लाल-लाल हाथों वाला भीम तुम्हारे केशों का शृंगार करेगा।"

इसमे वेणी-संहरण के हेतुभूत क्रोधबीज को पुन कहा गया है। यही 'समाधान' है।

नान्दी टीका

समाधान मे कथाबीज के प्रसग मे कुछ ऐसी बातें कही जाती है, जिनमे प्रधान नायक साक्षात् फलानुवर्ती प्रवृत्ति से सम्पृक्त प्रतीत हने लगता है। यह अभिनव-गुप्त के मत का साराश है।

—विधान सुखदुःखकृत् ॥ २८

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के—माधव

'यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त-
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥ १३२

यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव-
मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत्।
तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय-
मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥ १२२

इत्यनेन च मालत्यवलोकनस्यानुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येन माधवस्य सुखदु ख-कारित्वाद्विधानमिति।

यथा च वेणीसंहारे—'द्रौपदी—णाघ पुणोवि तुम्हेहिं अहं आअस्थिअ

समाश्वासयितव्या। ('नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या।') भीम.—'ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्यलीकाश्वासनया।'

'भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम्।
अनि.शेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम्॥' १.२६

इति सङ्ग्रामस्य सुखदु.खहेतुत्वाद्विधानमिति।

विधान—सुख और दु ख दोनों को साथ ही उत्पन्न करने वाली चर्चा विधान है। जैसे, मालतीमाधव के प्रथम अक मे माधव कहता है—

"जब वह वारंवार गरदन मोडकर (मेरी ओर देखती हुई) जा रही थी, तब उसका वह मुख उस विकसित कमल के समान था, जिसकी भेंटी मुडी हुई हो। उस मुख पर धारण की हुई पलक-रोमो से सम्पन्न नेत्रों वाली उस सुन्दरी ने अमृत और विष से बुझे कटाक्ष को मेरे हृदय मे मानो गहरा चुभा दिया था।"

"उस सुन्दरी के समीप मे जो हृदय विस्मय से निश्चल था, जिसके अन्य (प्रणय से भिन्न) भाव अस्त हो गये थे, मानों अमृत मे स्नान करके आनन्द से मन्थर हो रहा था, वह मेरा हृदय अब (उसके विरह मे) इस प्रकार व्यथित हो रहा है, जैसे अङ्गार ने छू लिया हो।"

यहाँ समागम का कारण मालती का देखना और अनुराग है, जो बीज के अनुरूप है और माधव के लिए सुखकर और दु खकर है। अत विधान नाम का अङ्ग है।

और—जैसे वेणीसंहार मे द्रौपदी कहती हैं—"नाथ, फिर भी तुम्हें ही आकर मुझे आश्वासित करना होगा।" तब भीम कहते है—"हे द्रौपदी, अब मिथ्या आश्वासन व्यर्थ है—

अपमान की ग्लानि की लज्जा से पीडित मुख वाले वृकोदर को कौरवनाश किये बिना आया हुआ न देखोगी।

युद्ध के सुख और दु ख का कारण होने से यह मुखसन्धि का 'विधान' अङ्ग है।

नान्दी टीका

विधान नामक सन्ध्यङ्ग मे किसी भाव को छिपाने से इष्टार्थ-रचना नामक प्रयोजन सिद्ध होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार यह सन्ध्यङ्ग अन्य सन्धियो मे भी आता है।[1]

---

१ ना० शा० १९.७४ पर अभिनवभारती।

परिभावोऽद्भुतावेश.

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—(दृष्ट्वा सविस्मयम्) कधं पच्चक्खो ज्जेव अणङ्गो पूअं पडिच्छदि। ता अहंपि इध ट्ठिदा ज्जेव णं पूजइस्सं। ('कथं प्रत्यक्ष एवानङ्गः पूजां प्रतीच्छति। तद् अहमपीह स्थितैवैनं पूजयिष्यामि।') इत्यनेन वत्सराजस्यानङ्गरूपतयापह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरसावेशः परिभावना।

यथा च वेणीसंहारे—द्रौपदी—किं दाणि एसो पलअजलधरत्थणिदमसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि।' [किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमांसल क्षणेक्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते'] इतिलोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद् द्रौपद्याः परिभावना।

परिभावना—अद्भुत (घटना का) समावेश परिभाव है।

जैसे रत्नावली मे (सविस्मय देखकर) सागरिका कहती है—

"क्या प्रत्यक्ष भगवान् कामदेव पूजा ग्रहण कर रहा है? तब तो मै भी यहाँ हीं रह कर इसकी पूजा करूँगी।"

इस प्रकार काम के रूप मे वत्सराज को छायापन्न करके प्रत्यक्ष अनङ्ग का पूजाग्रहण वर्णित है। यहाँ लोकोत्तर होने के कारण अद्भुत रस का समावेश 'परिभावना' है। और

जैसे वेणीसंहार म द्रौपदी कहती है "प्रलयमेघ के गर्जन के समान घोर रणदुन्दुभि इस समय क्षण-क्षण पर क्यो बजाई जा रही है?"

युद्ध के नगाडे की ध्वनि लोकोत्तर है, जिससे अद्भुत रस का आवेश होने से परिभावना है।

—उद्भेदो गूढभेदनम्।

यथा रत्नावल्या वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा 'अस्तापास्त' इत्यादिना 'उदयनस्य' इत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेदः। यथा च वेणीसंहारे—'आर्य किमिदानीमध्यवस्यति गुरु.।' इत्युपक्रमे [नेपथ्ये]

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृतं
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता।
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपवधूकेशाम्बराकर्षणै
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते॥१.२४

भीम—(सहर्षम्) जृम्भता जृम्भता संप्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योतिः।' इत्यन्तेन छन्नस्य द्रौपदीकेशसयमनहेतोर्युधिष्ठिरक्रोधस्योद्भेदात् उद्भदः।

उद्भेद—रहस्य का प्रगट हो जाना उद्भेद है।

जैसे रत्नावली में वत्सराज कामदेव के नाम से छायापन्न है। वैतालिक के 'अस्तापास्त' इत्यादि वचन में बीज के अनुरूप ही उद्घाटन होता है। अत उद्भेद है। अथवा जैसे वेणीसंहार में—"आर्य, इस समय गुरु क्या कार्यक्रम निश्चय कर रहे हैं ?"

यहाँ से आरम्भ करके (नेपथ्य से)। "सत्यव्रत के भङ्ग होने से भीरु चित्त वाले (युधिष्ठिर ने) प्रयासपूर्वक जिस अग्नि को मन्द कर दिया था, कुल की शान्ति चाहते हुए शान्तिशील (युधिष्ठिर) ने जिसे भुला भी देना चाहा था, वही द्यूतरूपी मन्थनदारु से जनित युधिष्ठिर की क्रोध-रूपी महती अग्निज्वाला कौरवों के वन में राजवधू (द्रौपदी) के केश और वस्त्र के खींचने के कारण धधक उठी है।"

यह सुनकर भीम हर्ष के साथ कहते हैं—"आर्य की क्रोधज्योति सचमुच बेरोक बढ़ती रहे।" यहाँ तक छिपे हुए युधिष्ठिर के क्रोधबीज के प्रगट होने से उद्भेद है। यह क्रोधबीज द्रौपदी के केशग्रहण का कारण है।

नान्दी टीका

उद्भेद नामक सन्ध्यङ्ग की परिभाषा धनञ्जय ने भरत से नाट्यशास्त्र से नहीं ली। भरत के अनुसार बीज-सम्बन्धी घटना का थोड़ा विकास उद्भेद है। धनञ्जय उद्भेद में किसी अज्ञात या रहस्यात्मक तथ्य का प्रकाशित होना आवश्यक बताते हैं।

करण प्रकृतारम्भ —

सागरिका यथा रत्नावल्याम्—'णमो दे कुसुमाउह। ता अमोह-दसणो मे भविस्ससि त्ति। दिट्ठं ज पेक्खिदव्वं ता जाव ण कोवि म पेक्खइ ताव गमिस्स।' (नमस्ते कुसुमायुध, तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति। दृष्टं यत्प्रेक्षितव्यम्। तद्यावन्न कोऽपि मा प्रेक्षते, तावद्गमिष्यामि) इत्यनेनान्तराङ्कप्रवृत्त-निर्विघ्नदर्शनारम्भणात्करणम्।

यथा च वेणीसंहारे— तत्पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय इति। सहदेव—आर्य ! गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम्।' इत्यनेनानन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात् करणमिति। सर्वत्र चेहोद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्यं क्रियाक्रमस्याविवक्षितत्वादिति।

करण—जो काम हाथ में लिया है, उसे करने लगना करण है।

उदाहरण—रत्नावली में सागरिका कहती है—"हे कामदेव, तुम्हें प्रणाम है। मेरे लिए तुम्हारा दर्शन सफल हो। जो देखना था, मैं देख चुकी। जब तक कोई देख न ले, तब तक मैं चली जाऊँ।" इस प्रकार अगले अङ्क में वर्णित निर्विघ्न दर्शन की घटना का आरम्भ होने से करण है।

रक्त, चर्बी और सघन मस्तिष्क (खोपड़ी के गूदे) से कीचड़ बन जाता है, जिस सग्राम-सागर में डूबे हुए रथों के ऊपर पैर रखकर पैदल सैनिक लाघते हुए डग भरते हैं और जिस सग्राम सागर में विस्तृत रक्तपान करके अमङ्गलयुक्त सियारिनें गोष्ठी में हुँआस भरती हैं और कटे हुए शरीरों के धड़ नाचने हैं—ऐसे सग्राम रूपी-सागर के जल के भीतर विचरण करने में एकमात्र पाण्डव लोग दक्ष हैं।'

इस प्रकार चित्रित द्रौपदी का क्रोध और उत्साह बीज के अनुकूल प्रोत्साहन होने से 'भेद' नाम का मुखसन्धि का अङ्ग है।

ये बारह मुखसन्धि के अङ्ग बीज के आरम्भ के सूचक हैं। इन्हें साक्षात् या परम्परा से रूपकों में योजित करना चाहिए। इनमें उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति उद्भेद और समाधान अवश्य होने चाहिए।

नान्दी टीका

भरत के अनुसार भेद में कथापुरुष परस्पर अलग-अलग कर दिए जाते हैं। उन्होंने इसकी परिभाषा दी है—

सघातभेदनार्थो भेद

अर्थात् मिले जुले लोगों में फूट डालने की घटना का वर्णन भेद है। इसमें औत्सुक्य न होने के कारण इसे मुखसन्धि का अंग मानना उचित नहीं।

अथ साङ्ग प्रतिमुखसन्धिमाह—

३० लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदस्तस्य प्रतिमुख भवेत्।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥३०

तस्य बीजस्य किंचिल्लक्ष्य किंचिदलक्ष्य इवोद्भेद —प्रकाशन तत्प्रतिमुखम्। यथा रत्नावल्या द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुराग-बीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्या ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किंचिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयाद्भेद प्रतिमुखसन्धिरिति।

वेणीसहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किंचिल्लक्ष्यस्य कर्णादिवधा-च्चालक्ष्यस्य क्रोधबीजस्योद्भेद।

सहभृत्यगण सबान्धव सहमित्र ससुत सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति सयुगे न चिरात्पाण्डुसुत सुयोधनम् ॥ २५

इत्यादिभि —

'दु शासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे।

तेजस्विना समरमूर्धनि पाण्डवानां
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा ॥' २.२८

इत्येवमादिभिश्च बलवता पाण्डवानां वासुदेवसहायानां संग्राम लक्षण-स्योद्भेद प्रतिमुखसंधिरिति ।

अब अङ्गसहित प्रतिमुखसन्धि का विवरण है—

३० बीज का आगे विकसित होना प्रतिमुख सन्धि है, जब विकास कहीं तो स्पष्ट होता है और कहीं अदृश्य होता है। इसमें बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और प्रयत्न नामक कार्यावस्था होती है, जिनको लेकर १३ सन्ध्यंग होते हैं।

उस बीज का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप से विकास होना प्रतिमुख सन्धि है। जैसे रत्नावली के प्रथम अक में वत्सराज और सागरिका के समागम का कारण अनुराग बीज आता है। दूसरे अक में उस बीज को सुसंगता और विदूषक जानते हैं। अत उसका कुछ कुछ विकास लक्षित है, परन्तु चित्रफलक के वृत्तान्त से वासवदत्ता द्वारा विकास पथ से भ्रष्ट, थोडा उन्नीयमान (led astray) होता है। इस प्रकार बीज के विकास के दृश्यादृश्य रहने से प्रतिमुख सन्धि है।

इसी प्रकार वेणीसहार के दूसरे अक म क्रोध बीज का विकास भीष्मादि के वध से कुछ लक्ष्य होता है, किन्तु कर्णादि का वध न होने से अलक्ष्य रहता है। वहाँ लक्ष्या-लक्ष्य रूप मे बीज का प्रकटीकरण होने से प्रतिमुख सन्धि है। यह विकासात्मक प्रकटीकरण दो श्लोको मे देखा जा सकता है—

"भृत्यो, बान्धवो, मित्रा, पुत्रों और अनुजो के सहित दुर्योधन को शीघ्र ही पाण्डुपुत्र अपनी शक्ति से युद्ध मे विनष्ट करने वाला है।" इत्यादि से तथा दुर्योधन के वक्तव्य से—

'दु शासन के हृदय के रुधिरजल के पीने के विषय म और गदा से दुर्योधन के उरुभग के विषय मे जैसी प्रतिज्ञा है, वैसी ही रणक्षेत्र मे जयद्रथ के वध के विषय मे भी तेजस्वी पाण्डवो की प्रतिज्ञा जाननी चाहिए।" इत्यादि से कृष्ण से सहायता प्राप्त बलवान् पाण्डवो का युद्ध मे प्रकट होने वाले बिन्दुरूपी बीज का विकासात्मक प्रकटी-करण प्रतिमुख सन्धि का कथावयव है।

नान्दी टीका

मुखसन्धि मे औत्सुक्य-परक प्रवृत्तियाँ होती है। प्रतिमुख मे उनका उद्भेद (विकास) कभी प्रत्यक्ष दिखाई देता है और कभी नही दिखाई देता। इसी विशेषता को भरत ने स्पष्ट किया है—

बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्टनष्टमिव क्वचित्।
मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम् ॥

मुख सन्धि मे यत्नावस्था की कथा होती है। यत्नावस्था मे फल प्राप्ति की दिशा मे ठोस उपक्रम के साथ फल प्राप्ति की सघन उत्सुकता वर्णनीय रहती है।

धनञ्जय ने इसमे बिन्दु का अनुसरण आवश्यक बताया है। यह भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुत बिन्दु सभी सन्धियो की पूर्वभूमिका सूत्ररूप मे प्रस्तुत करता है। इसे केवल प्रतिमुख सन्धि मे ही क्यो सीमित किया जाय?

अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति, तान्याह—

३१ विलास परिसर्पश्च विधूत शमनर्मणी।
नर्मद्युति प्रगमन निरोध पर्युपासनम्॥ ३१

३२. वज्र पुष्पमुपन्यासो वर्णसहार इत्यपि।

यथोद्देश लक्षणमाह—

रत्यर्थेहा विलास स्याद्—

यथा रत्नावल्याम् 'सागरिका—हिअअ पसीद पसीद। किं इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेण। ('हृदय, प्रसीद प्रसीद! किमनेनायासमात्रफलेनदुर्लभजन प्रार्थनानुबन्धेन।' इत्युपक्रम्य 'तहावि आलेक्खगदं त जणं कदुअ जधासमीहिदं करिस्सम्, तहावि तस्स णत्थि अण्णो दसणोवाओत्ति।'('तथाप्यालेखगतं तं जनं कृत्वा यथासमीहित करिष्यामि। तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपाय। इत्येतैर्वत्सराजसमागमरतिं चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति।

इस सन्धि मे पूर्व अक मे निक्षिप्त बिन्दुरूप बीज और प्रयत्नरूप कार्य से अन्वित तेरह अङ्ग होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

३१-३२ विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास, वर्णसहार (प्रतिमुख सन्धि के अङ्ग हैं।)

नाम क्रम मे इनके लक्षण हैं—

विलास—विलास नामक सन्ध्यङ्ग कामोपभोग की इच्छा है।

जैसे रत्नावली मे सागरिका कहती है—"हृदय, तू प्रसन्न हो जा। दुर्लभ जन की इच्छा के आग्रह से क्या होने वाला है? इससे तो आयास ही हाथ लगेगा।" इस उपक्रम मे आगे वह कहती है—"तथापि उस (प्रिय) जन को चित्रगत करके इच्छा पूरी कर लूंगी। उसके दर्शन का अन्य उपाय नहीं है।" इस प्रकार वत्सराज के समागम से जो तृप्ति (रति) चित्रादि से भी होने वाली है, उसके उद्देश्य से सागरिका की चेष्टा ऐसा प्रयत्न है, जो अनुरागरूप बीज से सम्बद्ध है। अत विलास नामक सन्ध्यङ्ग है।

नान्दी टीका

विलास औत्सुक्य-परक होता है। इसकी परिभाषा मे रति का जो समावेश है, अभिनवगुप्त के अनुसार वह केवल शृगारात्मक रूपकों तक ही सीमित रहेगा। अन्य रसप्रधान रूपको मे रति से अन्य रसो के स्थायी भाव उत्साह, विस्मय आदि ग्रहण करना चाहिए।[1]

दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥३२

यथा वेणीसंहारे 'कंचुकी—योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु, अथवा किं बलवत्सु, वासुदेवसहायेष्वरिष्वद्याप्यन्त पुरसुखमनुभवति। इदमपरमयथातथं स्वामिनश्चेष्टितम्—

'आशास्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने—
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरय भीष्म शरे शायित।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुष प्रीतोऽभिमन्योर्वधात्॥२२

इत्यनेन भीष्मादिवधेन दृष्टस्याभिमन्युवधान्नष्टस्य बलवता पाण्डवाना वासुदेवसहायाना सङ्ग्रामलक्षणबिन्दुरूपबीजप्रयत्नान्वयेन कञ्चुकिमुखेन बीजानुसर्पणं परिसर्प इति।

यथा च रत्नावल्या सारिकावचननिवदर्शनाभ्या सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य 'क्वासौ क्वासौ' इत्यादिना वत्सराजेनानुसरणात् परिसर्प इति।

परिसर्प—बीज के दिखाई देकर अदृश्य होने पर उसके पीछे पड़ना परिसर्प है।

जैसे वेणीसंहार में कञ्चुकी का कथन है— "जब बलवान् शत्रु, अथवा बलवान् क्या? कृष्ण जिनके सहायक हैं, वे शत्रु रणोद्यत है, तब भी राजा अन्त पुर का सुख ले रहा है। यह और भी स्वामी का अयोग्य व्यापार है कि जब से शस्त्रग्रहण किया, तब से जिसका परशु कहीं प्रतिहत न हुआ, ऐसे परशुराम मुनि के भी विजेता भीष्म को पाण्डवो ने वाणो से सुला दिया। दुर्योधन को यह भी सन्तापकर नहीं लगता। इसके विपरीत उस बालक अभिमन्यु के वध से राजा सन्तुष्ट हो रहा है, जो अनेक अनुभवी धनुर्धर शत्रुओ को विजय करके थक गया था, जो अकेला था और जिसके धनुष को शत्रुओ ने काट दिया था।" इस प्रकार भीष्म आदि के वध मे बीज दृष्ट है और अभिमन्यु के वध से नष्ट है तथा वासुदेव की सहायता प्राप्त कर बलवान् पाण्डवों का सग्राम बिन्दु है, जिसमे प्रयत्न का योग है। कञ्चुकी के मुख से बीजानुसरण होने से 'परिसर्प' है।

---

१ इह च रतिग्रहण पुमर्थोपयोगि, रसगत स्थायिभावोपलक्षण तेन वीरप्रधानेषु रूपकेषु प्रतिमुख एव ह्यास्था रतिरूपेणोत्साह।

और जैसे रत्नावली में सागरिका के कथन और चित्र दर्शन से अनुरागबीज दृश्यादृश्य रहता है। "वह वासवदत्ता कहाँ है, वह कहाँ है" इत्यादि कहते हुए वत्सराज बीजानुसरण करते हैं। अतः 'परिसर्प' है।

मान्दी टीका

परिसर्प नामक सन्ध्यङ्ग में नायक की अभीष्ट-प्राप्ति के उपक्रम की तीन अवस्थायें दिखाई पड़ती हैं—(१) कार्यपद्धति स्पष्ट प्रकट रहती है (२) फिर कार्यपद्धति नष्ट हो जाती है अर्थात् नहीं दिखाई देती है तथा (३) अन्त में कार्यपद्धति पुनः सफलता की ओर प्रवर्तित होती हुई दिखाई देती है। इसमें एक के बाद दूसरी तीसरी कार्य-स्थिति के निदर्शन से कवि चमत्कार प्रकट करता है।

३३. विधूत स्यादरति

यथा रत्नावल्याम् सागरिका—सहि अहिअं मे संतावो बाधेदि। (सखि ! अधिकं मे संतापो बाधते।') (सुसङ्गता दीर्घिकातो नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयास्या अङ्गे ददाति) सागरिका (तानि क्षिपन्ती) सहि ! अवणेहि एदाइं। किं अकारणे अत्ताणं आयासेसि। णं भणामि—(सखि ! अपनयैतानि किमकारणमात्मानमायासयसि। ननु भणामि—)

> दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो अप्पा।
> पिअसहि विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवर एक्कम्॥' २.१
> (दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
> प्रियसखि विषमं प्रेम मरणं शरणं केवलमेकम्' ॥)

इत्यनेन सागरिकाया अनुरागबीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद्विधूतम्।

यथा च वेणीसंहारे भानुमत्या दुःस्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्यानिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया चारतेर्विधूननमिति।

विधूत—अरति (रागमय प्रवृत्तियों से मन का उचटना) विधूत है।

उदाहरण—रत्नावली में सागरिका कहती है—"हे सखि, मुझे सन्ताप अधिक दुःख दे रहा है।" इसे सुनकर सुसंगता बावली से कमलिनीपत्र और कमलनाल लाकर उसके शरीर पर रखती है। तब सागरिका उन्हें फेंकती हुई कहती है—"सखि, इन्हें हटा दे, क्यों वृथा अपने को कष्ट दे रही है ? इसी से कहती हूँ—

ऐसे जन से मन लगा है, जो दुर्लभ है, लज्जा का भार अधिक है और आत्मा पराधीन है। हे प्यारी सखि, प्रेम बड़ा विषम है। अब तो एक मात्र मरना ही अन्तिम उपाय है।"

यहाँ सागरिका के अनुराग-बीज से सम्बन्धित शीतल उपचार की सामग्री का तिरस्कार करने से (अरति) विधूत हुआ।

और जैसे वेणीसंहार मे भानुमती बुरा स्वप्न देखने से दुर्योधन के अनिष्ट की शंका करके और पाण्डवो की विजय की शंका से अरति करती है, जिससे 'विधूत' निष्पन्न है।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने विधूत की परिभाषा भरत के नाट्यशास्त्र से नहीं ग्रहण की है। धनञ्जय के अनुसार नायिका या नायक की प्रणय-पथ मे बाधा के कारण खिन्नता अरति है, किन्तु भरत के अनुसार नायक का अनुनय नायिका पहले तो नहीं मानती, पर फिर स्वीकार कर लेती है।

—तच्छम. शम.

तस्या अरतेरुपशम शम । यथा रत्नावल्याम्—'राजा—वयस्य ! अनया लिखितोऽहमिति यत्सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत्कथं न पश्यामि।' इत्युपक्रमे सागरिका—(आत्मगतम्) हिअअ ! समस्सस। मणोरहो वि दे एत्तिअ भूमि ण गदो। (हृदय ! समाश्वसिहि। मनोरथोऽपि त एतावती भूमि न गत।) इति किञ्चिदरत्युपशमाच्छम इति।

शम—अरति को दूर करना शम है।

उदाहरण—रत्नावली म राजा कहता है—"मित्र, उसने मेरा चित्र बनाया है। यदि यह सच है तो अपने ऊपर मेरा आदर बढ़ा है। तो क्यो चित्र न देखूं ?" यहाँ से लेकर सागरिका—(स्वगत) 'हे हृदय, धैर्य रखो, तेरा तो मनोरथ भी इतना दूर नहीं गया था।" इस प्रकार अरति का कुछ शमन होने से 'शम' नामक सन्ध्यङ्ग है।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने विधूत के पश्चात् शम नामक सन्ध्यङ्ग बनाया है। भरत के नाट्यशास्त्र म शम नहीं है। इसके स्थान पर तापन मिलता है, जिसकी परिभाषा दी गई है अपाय-दर्शन, अर्थात् बाधा दिखाई देना।

विश्वनाथ और सागरनन्दी ने शम के स्थान पर तापन रखा है। शारदातनय ने दशरूपक के अनुसार शम की परिभाषा दी है।

परिहासवचो नर्म

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि ! जस्स किदे तुम आअदा, सो अअ पुरदो चिट्ठदि।' ('सखि ! यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति') सागरिका—(सासूयम्) सुसङ्गदे ! कस्स किदे अहं आअदा। (सुसङ्गते ! कस्य कृतेऽहमागता।) सुसङ्गता—अइ अप्पसङ्किदे, णं चित्तफलअस्स। ता गेण्ह

एदम्। ('अयि आत्मशङ्किते', ननु चित्रफलकस्य। तद् गृहाणैतत्।') इत्यनेन बीजान्वितं परिहासवचनं नर्म।

यथा च वेणीसंहारे—'(दुर्योधनश्चेटीहस्तादर्घपात्रमादाय देव्यै समर्पयति पुन:) भानुमती—(अर्घं दत्वा) हला! उवणेहि मे कुसुमाइं, जाव अवराण वि देवाण सवरिअं णिवत्तेमि। ('हला उपनय मे कुसुमानि यावदपरेषामपि देवानां सपर्यां निवर्तयामि।') (हस्तौ प्रसारयति। दुर्योधनः पुष्पाण्युपनयति। भानुमत्याम्नत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात्पुष्पाणि पतन्ति।') इत्यनेन नर्मणा दुःस्वप्नदर्शनोपशमार्थं देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात्परिहासस्य प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति।

नर्म—परिहास की बातें नर्म हैं।

उदाहरण—रत्नावली में सुसंगता की उक्ति है—"सखि, जिसके लिए तू आयी वही यह सामने स्थित है।" तब सागरिका (असूयापूर्वक) कहती है—"मैं किसके लिए आई हूँ?" सुसंगता का उत्तर है—"अरी, चित्रफलक के लिए (तू आई थी)। इसे ले।" यहाँ बीज का अनुवर्तन करने वाली परिहासोक्ति होने से 'नर्म' है।

और वेणीसंहार में जैसे दुर्योधन चेटी के हाथ से अर्घपात्र लेकर रानी को देता है तो रानी भानुमती अर्घदान करके कहती है—'सखि, मुझे फूल दो, जिससे अन्य देवों की पूजा करूँ।' वह हाथ फैलाती है और दुर्योधन फूल देता है। उसके स्पर्श से भानुमती को कम्प होता है, जिससे हाथ से फूल गिर जाते हैं। यह 'नर्म' है, जो दुःस्वप्न के दर्शन का शमन करने के लिए प्रयुक्त देवपूजा में विघ्न उत्पन्न करता है। उससे पाण्डव विजय का बीज उद्घाटित होता है। अतः इस परिहास का प्रतिमुख सन्धि का अङ्ग मानना सत्य है।[१]

—धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥३३

यथा रत्नावल्याम्—'सुसङ्गता—सहि अदिणिट्ठुरा दाणि सि तुमं। जा एव्वं पि भट्टिणा हत्थावलम्बिदा कोवं ण मुञ्चसि। (सखि! अतिनिष्ठुरेदानीमसि त्वं, यैवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुञ्चसि।) सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसङ्गदे! दाणि पि ण विरमसि।' ('सुसङ्गते! इदानी-

१. परिहास की बातें नर्म के लिए आवश्यक है। वेणीसंहार के उदाहरण में परिहास के लिए बातें नहीं हैं, कार्य है। दशरूपक की लघुटीका में भट्टनृसिंह इसे सन्ध्यङ्ग नहीं मानते, क्योंकि—ननु बीजार्थान्वितं सन्ध्यङ्गं भवति। इह च युधिष्ठिरोत्साहो द्रौपदीकेशसंयमन-लक्षणस्य कार्यस्य बीजम्। न च भानुमतीदुःस्वप्न-शान्ति-परिकरपुष्पपातलक्षणस्य परिहासस्य बीजादिसम्बन्ध इति प्रतिमुखसन्ध्यङ्गत्वमयुक्तम्।

मपि न विरमसि।') इत्यनेनानुरागबीजोद्घाटनान्वयेन धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति।

नर्मद्युति—परिहास से जो परितोष होता है, वह नर्मद्युति है।

उदाहरण—रत्नावली मे–सुसंगता–सखि, अभी तुम अति निष्ठुर हो, जो स्वामी के द्वारा इस प्रकार हाथ से पकडी जाने पर भी कोप नही छोडती हो। सागरिका—(भौं चढा कर और थोडा मुसकराती हुई), सुसंगते—अब भी तुम बोलना नही बन्द कर रही हो। इस कथाश के द्वारा अनुराग बीज के उद्घाटन के सम्बन्ध से जो परितोष (नायक को) होता है, वह नर्मद्युति है।

नान्दी टीका

नमद्युति की परिभाषा भरत के नाट्यशास्त्र मे भिन्न है। भरत के अनुसार नर्म के समान नर्मद्युति भी हास्य है, किन्तु इसमे किसी कथापुरुष के द्वारा अपने दोष को छिपाने की बातो से हँसी उत्पन्न होती है।

३४. उत्तरा वाक्प्रगमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—विदूषक—भो वअस्स। दिट्ठिआ वड्ढसे। ('भो वयस्य! दिष्टया वर्धसे') राजा—(सकौतुकम्) वयस्य! किमतत्। विदूषक—भो! एवं क्खु तं ज मए भणिद तुम एव्व आलिहिदो। को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिण्हवीअदि। ('भो! एतत्खलु तद्यन्मया भणित त्वमवालिखित। कोऽन्य कुसुमायुधव्यपदेशेन निह्नूयते।') इत्यादिना।

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात् किं शोषमायासि मृणालहार!।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य तत्रावकाशो भवत किमु स्यात्।।'२ १४

इत्यन्तेन राजाविदूषकसागरिकासुसंगतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात् प्रगमनमिति।

प्रगमन—(अनुरागबीज के) उत्तरोत्तर उत्कर्ष को लगातार चर्चा प्रगमन है।

उदाहरण—रत्नावली म—विदूषक—हे मित्र बधाई। राजा—(कौतुकपूर्वक) क्या बात है? विदूषक—अरे, यह जो मैंने कहा था कि तुम्हारा ही चित्र है। कामदेव के बहाने और किसको छायापन्न किया जा सकता है? इत्यादि

हे मृणालहार, उसके स्तनो के मध्य से गिर कर क्यों सूखे जा रहे हो? वहाँ ता तुम्हारे पिरोने के धागे के लिए भी स्थान नही रह गया। तुम्हारी क्या बात?

उपर्युक्त कथाश मे राजा, विदूषक, सागरिका और सुसंगता को परस्पर बातचीत से अनुराग बीज के उत्तरोत्तर प्रकट होने से प्रगमन है।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय दोनो के द्वारा प्रस्तुत प्रगमन नामक सन्ध्यङ्ग की

करिष्याम्यैवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा ।
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे ॥' २.१९

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायकयोर्दर्शनात्कुपितायाः वासवदत्ताया अनुनयनं नायकयोरनुरागोद्घाटनान्वयेन पर्युपासनमिति ।

पर्युपासन—अनुनय-विनय करना पर्युपासन है ।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—(वासवदत्ता से) 'यदि मैं कहूँ कि आप प्रसन्न हों तो आपका कोप न होने से यह समीचीन न रहेगा । (यदि कहूँ कि) कभी ऐसा नहीं करूँगा, तो यह अपना अपराध स्वीकार करना होगा । (यदि कहूँ कि) मेरा दोष नहीं है तो आप इसे झूठ ही समझेंगी । ऐसी स्थिति में मैं क्या कहूँ—यह समझ में नहीं आता ।'

इस कथांश में नायक और नायिका को साथ चित्रित देख कर कुपित हुई वासवदत्ता का अनुनय करना उनके अनुराग बीज का विकास होने से पर्युपासन है ।

—पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३४

यथा रत्नावल्याम्—'(राजा सागरिका हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति) विदूषक—भो ! एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा । ('भो ! एषापूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता ।') राजा—वयस्य ! सत्यम् ।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥२.१७

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात् पुष्पम् ।

पुष्प—(अनुरागात्मक) विशेषताओं का परिचायक वाक्य पुष्प है ।

उदाहरण—रत्नावली में (राजा सागरिका का हाथ से पकड़ कर स्पर्श का अभिनय करता है) विदूषक—अरे, यह तो अनुपम लक्ष्मी तुम्हारे हाथ लगी । राजा—मित्र, ठीक कहते हो—यह लक्ष्मी है । इसके हाथ पारिजात के पल्लव हैं । अन्यथा इसके पसीने के बहाने अमृतस्राव कहाँ से होता ?

इस कथांश में नायक और नायिका का साक्षात् परस्पर दर्शन से विशेषानुराग प्रकट होने से पुष्प है ।

नान्दी टीका

पुष्प में अभिनवगुप्त के अनुसार नायक और नायिका के प्रणय का विकास उत्तरोत्तर वाक्यों से प्रकट होना चाहिए । भरत और धनञ्जय की परिभाषा से यह

स्पष्ट नहीं होता कि सविशेष वचन का विषय क्या हो ? इसे अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कर दिया है। धनिक ने भी अनुराग के उत्तरोत्तर विकास को पुष्प बताया है।

३५. प्रसादनमुपन्यासः

यथा रत्नावल्याम्—'सुसंगता—भट्टा ! अलं संकाए। मए वि भट्टिणो पसाएण कीलिद एव्व ता किं कण्णाभरणेण। अदो वि मे गरुओ पसाओ, ज कीस तए अहं एत्थ आलिहिद त्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ। ता पसादीअदु।' (भर्तः ! अलं शङ्कया। मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव। तत्किं कर्णाभरणेन। अतोऽपि मे गुरुः प्रसादो, यत्कथं त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका। तत्प्रसाद्यताम्।') इत्यनेन सुसंगतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदादुपन्यास इति।

उपन्यास—किसी को मना लेने की बातें उपन्यास हैं।

उदाहरण—रत्नावली में सुसङ्गता—स्वामिन्, मेरे ऊपर शङ्का न करें। मैंने भी आप की कृपा से विनोद किया है। फिर मुझे कर्णालङ्कार देने से क्या ? मेरे ऊपर तो आपकी बड़ी कृपा यही होगी कि 'मैंने क्यों कर यहाँ आपके पास ही सागरिका का चित्र बना दिया ?' इस बात से मेरी प्रिय सखी सागरिका मुझसे रूठ गई है। उसे मना लें।" इस कथन से सुसङ्गता के कहने से यह सूचना मिली कि सागरिका ने आपका चित्र बनाया और मैंने सागरिका का चित्र बनाया—इस प्रकार प्रसन्न करने की बातों से बीज का विकास होने से उपन्यास है।

नान्दी टीका

उपन्यास में अभिनवगुप्त के अनुसार किसी कार्य का कारण होता है। यह व्याख्या नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अनुरूप है।

दशरूपक में उपन्यास की एक परिभाषा 'उपन्यासस्तु सोपायम्' काव्यमालादि संस्करणों में है, किन्तु धनिक की अवलोक-टीका जो इसके नीचे छपी है इस परिभाषा से समर्थित नहीं है। धनिक ने स्पष्ट उपन्यास की दूसरी अधोलिखित परिभाषा पाठान्तर रूप में दी—

प्रसादनमुपन्यास

धनिक ने अवलोक टीका में इस पाठ को स्वीकार किया है, जो भरत के नाट्यशास्त्र के पाठ से पदावली और अभिप्राय दोनों की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है।

—वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम्।

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(फलकं निर्दिश्य) अज्जउत्त ! जा एसा समीवे चिट्ठदि। एदं वि वसन्तअस्स विण्णाणं।' ('आर्यपुत्र ! या एषा

तव समीपे तिष्ठति । एतत्कि वसन्तकस्य विज्ञानम् ।') पुन 'अज्जउत्त ! ममावि एदं चित्तकम्म पेक्खन्तीए सीसवेअणा समुप्पण्णा ।' (आर्यपुत्र ! ममाप्येतच्चित्रकर्म प्रेक्षमाणाया शीर्षवेदना समुत्पन्ना ।) इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात्प्रत्यक्षनिष्ठुराभिधानं वज्रमिति ।

वज्र—प्रत्यक्ष रूप से निष्ठुर बातें वज्र हैं ।

उदाहरण—रत्नावली में वासवदत्ता—(फलक की ओर सकेत करके) आर्यपुत्र यह कौन आपके पास चित्रित है ? यह भी क्या वसन्तक का शिल्प है ? आर्यपुत्र, इस चित्रकर्म को देखती हुई मुझे शीर्षवेदना उत्पन्न हो गई ।' इस कथाश से वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज का सागरिका के प्रति प्रणय-व्यापार का रहस्य प्रत्यक्ष करते हुए प्रत्यक्ष ही निष्ठुर बातें वज्र हैं ।

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥३५

यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

'परिषदियमृषीणामेष वीरो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्ध ।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराण
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकास्ते ॥' ३.५

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीनां सङ्गतानां वर्णानां वचसा रामविजयाशसिनः परशुरामदुर्णयस्याद्रोहयाच्ञाद्वारेणोद्भेदनाद्वर्णसहार इति ।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसंध्युपक्षिप्तबिन्दुलक्षणावान्तरबीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि । एतेषां च मध्ये परिसर्पप्रशमवज्रोपन्य सपुष्पाणां प्राधान्यम् । इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति ।

वर्णसहार—सभी वर्ण के लोगों का समागम वर्णसंहार है ।

उदाहरण- महावीरचरित मे तृतीय अङ्क मे वसिष्ठ कहते हैं – यह ऋषियों की परिषद है यहाँ (भरत के मामा) वीर युधाजित् हैं, मन्त्रियों के साथ वृद्ध राजा लोमपाद हैं । ये निरन्तर यज्ञपरायण सनातन ब्रह्मवादी, जनको के प्रभु है—ये सभी द्रोहभावना से सर्वथा विमुक्त आपसे याचना करते है कि आप शान्त हो ।

इस कथाश मे ऋषि, क्षत्रिय, अमात्य आदि सभी वर्ण के लोगो के कहने से तथा राम के विजय की आशा लगाने वाले महात्माओं की परशुराम की दुर्नीति के सम्बन्ध म अद्रोह की याचना के द्वारा बीज का विकास प्रकट होने से वर्णसहार है ।

नान्दी टीका

वर्णसहार नामक सन्ध्यङ्ग की परिभाषा धनञ्जय ने भरत के नाट्यशास्त्र के अनुरूप दी है, किन्तु इन दोनो की परिभाषाओं की व्याख्या उनके टीकाकारों ने करते

हुए चातुर्वर्ण्य का अर्थ अलग-अलग बताया है। अभिनवगुप्त के अनुसार चातुर्वर्ण्य है सभी पात्रों का एकत्र हो जाना। अर्थात् वह सवादांश, जिसमें अंक के सभी पात्रों की साक्षात् उपस्थिति आवश्यक हो। धनिक के अनुसार चातुर्वर्ण्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि हैं। अभिनवगुप्त ने चातुर्वर्ण्य के इस अर्थ को ठीक न मानते हुए कहा है—यत्तु ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयमेलनमिति तदसम्बद्धत्वादनादृत्यमेव।

ये प्रतिमुख सन्धि के १३ अङ्ग मुखसन्धि (के अन्त) में समाविष्ट अवान्तर बीज नामक बिन्दु, महाबीज और प्रयत्न (अवस्था) से समन्वित बनाये जाने चाहिए।[1] इनमें से परिसर्प, प्रशम, वज्र, उपन्यास, और पुष्प नामक सन्ध्यङ्ग प्रधान हैं। शेष के प्रयोग, जहाँ जैसे मिलें, होना चाहिए।

गर्भसन्धिः

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभव. ॥ ३६

प्रतिमुखसंधौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य स विशेषोद्भेदपूर्वक सान्तरायो लाभ पुनर्विच्छेदः पुन प्राप्ति पुनर्विच्छेद पुनश्च तस्यैवान्वेषणं वार वारं सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसंधिरिति। तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्ताया पताकाया अनियमं दर्शयति 'पताका स्यान्न वा' इत्यनेन। प्राप्तिसंभवस्तु स्यादेवेति दर्शयति-- स्यात् प्राप्तिसम्भव ' इति। यथा रत्नावल्या तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणापायेन तद्वेषपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथमं पुनर्वासवदत्तया विच्छेद पुन प्राप्ति पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणोपायान्वेषणम् 'नास्ति देवीप्रसादन मुक्त्वान्य उपाय.' इत्यनेन दर्शितमिति।

३६. कभी दृष्ट और कभी नष्ट बीज (-विषयक उपाय या फल) का पुन अन्वेषण गर्भ है। इसके १२ अङ्ग होते हैं।[2] इसमें पताका होना वैकल्पिक है। इसमें प्राप्ति-सम्भव नामक अवस्था होती है, अर्थात् फल की अस्थायी प्राप्ति होती है ॥ ३६

प्रतिमुख सन्धि में कभी लक्ष्य और कभी अलक्ष्य रूप में कुछ-कुछ विकसित बीज गर्भसन्धि में सविशेष विकास युक्त होता है। इसमें विघ्नपूर्वक (नायिका का) लाभ पुन. विच्छेद, पुन प्राप्ति, पुनः विच्छेद होता है। फिर उस (फल, नायिका) का अन्वेषण बारंबार होने पर भी फल की ऐकान्तिक (स्थायी) प्राप्ति नहीं होती, किन्तु उसकी

---

१ सन्ध्यङ्ग वे ही प्रधान होंगे, जो मुख्य कथा के बीज, अंकों में आने वाली अवान्तर कथा के बीज और कार्यावस्था से साक्षात् सम्बद्ध हों।

२ बीज वस्तुतः फल (नायिका की प्राप्ति) या फलोपाय है। नाट्यशास्त्र १९. २२ पर भारती।

आशा बनी रहती है। यह गर्भसन्धि है। 'पताका स्यान्नवा' से अभिप्राय है कि पताका नामक अर्थप्रकृति का गर्भसंधि मे होना वैकल्पिक है। प्राप्तिसम्भव नामक कार्यावस्था होती है। उदाहरण के लिए रत्नावली मे तृतीय अङ्क मे वासवदत्ता के द्वारा नायक का प्रणय व्यापार देख लिए जाने पर उसका वेश बनाकर अभिसरण के उपाय से विदूषक के वचनानुसार सागरिका के मिलने की आशा, फिर वासवदत्ता के द्वारा विघ्न डालने पर विच्छेद, पुन प्राप्ति, पुन विच्छेद और अन्त म वासवदत्ता के द्वारा उत्पन्न विघ्न का निवारण करने का उपाय होता है, जो इस वाक्य से प्रकट होता है—देवी को मना लेने के अतिरिक्त अन्य उपाय नही है।

नान्दी टीका

धनञ्जय के अनुसार गर्भसन्धि मे बीज का पुन अन्वेषण किया जाना है, जो प्रतिमुख सन्धि की कथा मे कभी दृष्ट और कभी अदृष्ट था। इस प्रसङ्ग म बीज से क्या समझा जाय ? प्रणयात्मक रूपको मे बीज है नायिका प्राप्ति का उपाय।

भरत ने बीज के उद्भेद (विकास) की चर्चा के साथ प्रणयात्मक नाटको में नायिका को थोडी देर के लिए प्राप्ति और पुन अप्राप्ति (उसके वियोग) की कथा को गर्भसन्धि का आवश्यक अङ्ग बताया है।[1] ऐसी स्थिति मे अन्त म नायिका क अन्वेषण होता है। भरत इस प्रसङ्ग मे फल को नायिका प्राप्ति का पर्याय मानते हैं।[2]

नायिका प्राप्ति का यदि फल माना जाय तो गर्भावस्था म उसकी यहीं प्रत्यग मना दृष्टिगोचर होती है। ऐसा अभिनवगुप्त का स्पष्टीकरण है।[3] इसम फल का गर्भीभाव होना है।

सच द्वादशाङ्गो भवति। तान्युद्दिशति—

> ३७ अभूताहरण मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः।
>
> स ग्रहश्चानुमान च तोटकाधिबले यथा ॥३७
>
> ३८. उद्वेगसंभ्रमाक्षेपा लक्षण च प्रणीयते

गर्भसन्धि के १२ अङ्गों के नाम हैं—

३७. अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, सग्रह अनुमान, तोटक, अधिबल, उद्वेग सम्भ्रम, और आक्षेप। उनके लक्षण हैं—

---

१ उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषण यत्र स गर्भ इति सज्ञित ॥ ना० शा० १९.४१

२. इयम्प्राप्तिर्यदा काचित् फलस्य परिकल्प्यते।
भावमात्रेण त प्राहुर्विधिज्ञा प्राप्तिसम्भवम् ॥ ना० शा० १९.११

३ गर्भसन्धौ बीजस्योद्भेद फलजननाभिमुख्यमेव। फलस्यात्र गर्भीभावात् गर्भसन्धिरिति नाम सार्थक भवति।

गर्भसन्धि मे नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रार्थना भी एक सन्ध्यङ्ग है, जिसे धनञ्जय ने नही स्वीकार किया है। धनञ्जय के द्वारा परिगणित सम्भ्रम नामक सन्ध्यङ्ग को भरत के नाट्यशास्त्र मे दिये हुए विद्रव के स्थान पर मानना समीचीन है।

अभूताहरण छद्म—

यथा रत्नावल्याम् 'काञ्चनमाला—साधु रे अमच्च वसन्तअ, साधु। अदिसइदो तए अमच्चो जोगन्धराअणो इमाए सन्धिविग्गहचिन्ताए।' ('साधु रे अमात्य वसन्तक, साधु। अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया संधिविग्रहचिन्तया।') इत्यादिना प्रवेशकेन गृहीतवासवदत्तावेषाया सागरिकाया वत्सराजाभिसरण छद्म विदूषकसुसङ्गतावलुप्तकाञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम्।

नान्दी टीका

३८ अभूताहरण मे छल-कपटमयी चर्चा होती है।

उदाहरण—रत्नावली मे काञ्चनमाला—साधु रे अमात्य वसन्तक, साधु। तुम इस सन्धि विग्रह की चिन्ता करने मे अमात्य यौगन्धरायण से बढ गये—इत्यादि प्रवेशक मे दी हुई सूचना के अनुसार वासवदत्ता का वेष धारण करके सागरिका का वत्सराज के लिए अभिसार करना छद्म है। विदूषक और सुसङ्गता के द्वारा आयोजित और काञ्चनमाला के द्वारा भण्डाफोड करने से प्रकट किया हुआ यह अभूताहरण है।

—मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक—दिट्ठिआ वड्ढसि समीहिदब्भधिकाए कज्जसिद्धीए। ('दिष्ट्या वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्ध्या।)

राजा—वयस्य अपि कुशलं प्रियाया।

विदूषकः—अइरेण सयं एव्व पेक्खिअ जाणिहिसि। ('अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि।')

राजा—दर्शनमपि भविष्यति। विदूषक—(सगर्वम्) कीस ण भविस्सदि जस्स दे उवहसिदविहप्फदिबुद्धिविहवो अहं अमच्चो। (कथ न भविष्यति यस्य त उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्य।')

राजा—तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि।

विदूषक (कर्णे कथयति) एव्वम्। ('एवम्') इत्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागम सूचित., तथैव निश्चितरूपो राज्ञे निवेदित इति तत्त्वार्थकथनात्मार्ग इति।

मार्ग—तात्त्विक वस्तु को बताना मार्ग है।

उदाहरण—रत्नावली में—विदूषक—आशा से अधिक सफलता प्राप्त करने पर बधाई। राजा—प्रेयसी का कुशल तो है ? विदूषक—शीघ्र ही स्वयं देखकर जान लोगे। राजा—दर्शन भी होगा क्या ? विदूषक (गर्व से)—कैसे नहीं होगा ? जब तुम्हारा अमात्य मैं बुद्धि-वैभव में बृहस्पति से भी बढ़-चढ़ कर हूँ। राजा—तो भी कैसे होगा ? यह सुनना चाहता हूँ। विदूषक—(कान में कहता है) इस प्रकार।' इस कथांश में, जैसी विदूषक ने सागरिका के समागम की योजना सुनी थी, वैसी ही उसने राजा को निश्चित रूप में बता दी। इसमें वास्तविक बात का निवेदन होने से मार्ग है।

नान्दी टीका

मार्ग की परिभाषा में तत्त्वार्थकीर्तन है, फल प्राप्ति के लिए कोई नया और सुनिश्चित मार्ग (कार्यपद्धति) बनाना। यह अभिनवगुप्त का मत है।

३८ रूपं वितर्कवद्वाक्यम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणी-समागमपरिभाविनोऽभिनवं जनं प्रति पक्षपातः। तथाहि—

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी॥ ३८

कथं चिरयति वसन्तकः किं नु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्याः।'
इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्याशानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद्रूपमिति।

रूप—तर्क वितर्क भरी बातें रूप हैं।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—अहो अपनी गृहिणी के प्रेम का तिरस्कार करने वाले मेरा किसी नये जन (सागरिका) के प्रति पक्षपात क्या ही विचित्र है! जैसे—प्रेमभरी दृष्टि मुख पर शंकित होने के कारण (सागरिका) नहीं डालती। शृङ्गार से निर्भर गले तो लगती है किन्तु पयोधर—श्लेष नहीं करती। प्रयत्नपूर्वक पकड़ी हुई भी बार बार कहती है कि जा रही हूँ। तथापि संकेत स्थल में आई हुई (सागरिका) अनिर्वचनीय आनन्द दे रही है।

वसन्तक क्यों देर लगा रहा है? कहीं देवी को तो यह (अभिनव प्रणय) व्यापार ज्ञात नहीं हो गया ?—इस कथांश में रत्नावली से समागम की प्राप्ति की आशा की अनुकूलता से और देवी के सब कुछ जान लेने के कारण उसमें विघ्न की शंका विषयक वितर्क रूप है।

नान्दी टीका

रूप में तर्क-वितर्क-युक्त बातें होती हैं। नायक को समय होने पर एक,

दूसरा और तीसरा जो विकल्प मन में आता है और वह यह नहीं निर्णय कर पाता कि कौन-सी बात सही है।

अभिनवगुप्त के अनुसार द्युति में वास्तविक सत्य का निश्चय रहता है और रूप में अनिश्चय।

उदाहरण—

—सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

यथा रत्नावल्याम्—विदूषकः—(सहर्षम्) ही ही भोः, कोसंबीरज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसोआसि यादिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमि।' (ही ही भोः, कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीत् यादृशो मम सकाशात्प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि।' इत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तापि कौशाम्बीराज्यलाभाद् निरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति।

उदाहरण—किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहना उदाहरण है। रत्नावली में—विदूषक—(हर्षपूर्वक) अहा, हे (मित्र) कौशाम्बी का राज्य जीतने पर भी आप को वैसा परितोष नहीं हुआ था, जैसा मुझसे प्रिय सन्देश सुनकर होगा। ऐसा मैं सोचता हूँ।' इस कथन में रत्नावली से मिलन का सन्देश कौशाम्बी राज्य लाभ से बढ़ कर है—यह उत्कर्षाभिधान (बढ़ा-चढ़ाकर बातें कहना) उदाहरण है।

अथ क्रम.—

'शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मनुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान्नि शङ्कमालिङ्ग्य मा-
मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥३.७१

इत्यादिना 'इह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे' इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराज-भावस्य ज्ञातत्वात् क्रमान्तरमिति ।

क्रम—जिसकी चिन्ता की जा रही हो, उसका मिल जाना क्रम है । ३८

उदाहरण—रत्नावली म राजा—प्रिया सागरिका से मिलन का उत्सव मुझे प्राप्त है तो क्यों कर चित्त अधीर है ? अथवा प्रखर मदन-सन्ताप आरम्भ में उतनी बाधा नहीं उत्पन्न करता, जितनी (नायिका के) समीप होने पर । वर्षा ऋतु में जल बरसने के थोड़ा पहले का दिन बहुत ऊमस उत्पन्न करता है विदूषक—(सुनकर) सागरिके, ये मेरे मित्र (वत्सराज) तुम्हें लक्ष्य करके उत्कण्ठित होकर कुछ कह रहे हैं । उनको तुम्हारे आने की सूचना दे दूँ । इस कथाश मे सागरिका से मिलने की चिन्ता जब वत्सराज कर रहे हैं, तभी भ्रान्त सागरिका उनसे आ मिलती है ।[१]

दूसरे क्रम का लक्षण बताते हैं कि दूसरे के भाव (विचार) जान लेना क्रम है ।

उदाहरण—रत्नावली मे—राजा (निकट पहुँचकर) प्रिये सागरिके, चन्द्रमा तुम्हारा मुख है, कमल आँखें हैं, पद्म हाथ हैं । तुम्हारे ऊरुद्वय कदली खण्ड के समान हैं, बाहु मृणाल के समान हैं । तुम्हारे सभी अङ्ग आनन्दप्रद हैं । तुम तो नि.शङ्क होकर साहसपूर्वक आलिंगन करके मदनदाह से सन्तप्त मेरे अङ्गों को शीतल करो ।' यहाँ से लेकर तुम्हारे होंठ मे अमृत भी तो है ही' यहाँ तक के कथाश से वासवदत्ता वत्सराज के मनोभाव को जान लेती है ।

क्रम नाम क्यो सार्थक है—यह बताते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है—बुद्धि समस्या का समाधान करने मे चलती है, रुकती नहीं ।[२] भरत के अनुसार दूसरो के मनोभाव को जान लेना क्रम है ।

धनञ्जय ने क्रम की एक दूसरी सर्वथा भिन्न परिभाषा दी है' जिसके अनुसार क्रम मे जिसकी चिन्ता की जाती है, वही आ जाता है । वे भरत की परिभाषा को 'भावज्ञानमथापरे' कह कर उद्धृत करते है । इससे प्रतीत होता है कि उनके समक्ष भरत के नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त दूसरे भी नाट्यशास्त्रीय आकर ग्रन्थ थे ।

---

१. भ्रान्त सागरिका मे भ्रान्त विशेषण इसलिए सार्थक है, वह वस्तुत वासवदत्ता थी । उदयन को भ्रान्ति हो गई थी कि वह सागरिका है ।

२. बुद्धिरत्र क्रमते न प्रतिहन्यते ।

४० संग्रह सामदानोक्ति —

यथा रत्नावल्याम्—'साधु वयस्य, साधु। इदं ते पारितोषिकं कटकं ददामि।' इत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिणः संग्रहात्संग्रह इति।

४०. साम और दान की चर्चा संग्रह है।

उदाहरण—रत्नावली में (राजा—विदूषक से) धन्य हो मित्र, पुरस्कार रूप में कंकण लो, इस प्रकार साम और दान के द्वारा सागरिका से समागम कराने वाले विदूषक को अपना बना लेने के कारण यह कथांश संग्रह है।

नान्दी टीका

भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार संग्रह सामदानार्थ-सम्पन्न होता है। धनञ्जय का संग्रह उक्ति मात्र है किन्तु भरत का संग्रह किसी व्यक्ति का सामादि से अपना लेने की प्रक्रिया है। धनिक ने भरत के अभिप्राय के अनुरूप व्याख्या प्रस्तुत की है।

अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा।

यथा रत्नावल्याम् 'राजा—धिङ् मूर्ख! त्वत्कृत एवायमापतितोऽस्माकमनर्थः।

कुतः -

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानात् प्रतिदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥१९८

विदूषक—भो वअस्स! वासवदत्ता किं करिस्सदि त्ति ण जाणामि। सागरिआ उण दुक्करं जीविस्सदि त्ति तक्केमि' ('भो वयस्य! वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि। सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि।) इत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्येन वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनमनुमानमिति।

अनुमान—लिङ्ग को देखकर सत्य का ज्ञान कर लेना अनुमान है।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—धिक् मूर्ख, तुम्हारे ही कारण हम लोगों पर यह अनर्थ आ पड़ा।

पारस्परिक विश्वास के हृदयगम होने से हम दोनों (वासवदत्ता और उदयन) की प्रीति बढ़ी। मेरे द्वारा पहले कभी न किये हुए (किसी अन्य स्त्री से प्रेम-व्यापार के) इस दोष को देखकर मेरी प्रिया वासवदत्ता यह सब सहने में असमर्थ होकर अब प्राण ही छोड़ देगी। उच्चस्तरीय प्रेम में स्खलन होना असह्य होता है।

विदूषक—अरे मित्र, वासवदत्ता क्या करेगी ? यह तो नहीं जानता, किन्तु सागरिका तो कठिनाई से ही जीयगी—ऐसा समझ रहा हूँ ।' इस कथांश मे सागरिका के प्रति राजा के प्रेम के कारण वासवदत्ता के उच्चस्तरीय प्रेम के स्खलन से मरण की कल्पना अनुमान है ।

अधिबलमभिसंधिः –

यथा रत्नावल्याम्—'काञ्चनमाला—भट्टिणि ! इअं सा चित्तसालिआ । ता वसन्तअस्स सण्णं करेमि (भट्टिनि ! इयं सा चित्रशालिका तद्वसन्तकस्य संज्ञां करोमि ।') (छोटिकां ददाति)' इत्यादिना वासवदत्ताकाञ्चनमालाभ्यां सागरिकासुसङ्गतावेषाभ्यां राजविदूषकयोरभिसंधानादधिबलमिति ।

अधिबल—किसी को ठगना अधिबल है ।

उदाहरण रत्नावली मे काञ्चनमाला—स्वामिनि, यही चित्रगृह है । (फिर चुटकी बजाती है)' इस कथाश मे सागरिका और सुसगता के वेष बनाई हुई वासवदत्ता और काचनमाला के द्वारा राजा और विदूषक को ठगे जाने से अधिबल है।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय दोनो के अनुसार कपट भरी वाणी से किसीको ठगना अधिबल है । धनञ्जय अधिबल की एक अन्य परिभाषा भी बताते हैं, जिसके अनुसार मधुर-मधुर सान्त्वनापूर्ण वाणी का प्रयोग करना अधिबल है। इस दूसरी परिभाषा को वे तोटक का विलोम बताते हैं । तोटक है सरब्धवचन ।

—सरब्ध तोटक वच· ॥४०

यथा रत्नावल्याम्—वासवदत्ता—(उपसृत्य) अज्जउत्त ! जुत्तमिणं सरिसमिणम् । (पुन सरोषम्) अज्जउत्त उट्ठेहि । किं अज्जवि सहजाहिजादाए सेवाए दुक्खमणुभवीअदि कञ्चणमाले ! एदेण ज्जेव पासेण बंधिअ आणेहि एणं दुट्ठबम्हणं । एदं पि दुट्ठकण्णअं अग्गदो करेहि ।' (आर्यपुत्र ! युक्तमिदं सदृशमिदम् । आर्यपुत्र उत्तिष्ट किमद्यापि सहजाभिजातया सेवया दुःखमनुभूयते । काञ्चनमाले ! एतेनैव पाशेन बद्ध्वानयैनं दुष्टब्राह्मणम् । एतामपि दुष्टकन्यकामग्रत कुरु ।') इत्यनेन वासवदत्तासंरब्धवचसा सागरिकासमागमान्तरायभूतेनानियतं प्राप्तिकारणं तोटकमुक्तम् । यथा च वेणीसंहारे—

प्रयत्नपरिबोधित स्तुतिभिरद्य शेषे निशाम्' ३·३४

इत्यादिना

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यै किमायुधे'। ३ ४६

इत्यन्तेनान्योन्य कर्णाश्वत्थाम्नो सरब्धवचसा सेनाभेदकारिणा पाण्डव विजयप्राप्त्या शान्वित तोटकमिति ।

ग्रन्थान्तरे तु—

तोटकस्यान्यथाभाव ब्रुवतेऽधिबल बुधा ।

यथा रत्नावल्याम्— राजा—देवि एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीक किं विज्ञापयामि—

'आताम्रतामपनयामि विलक्ष एव

लाक्षाकृता चरणयोस्तव देवि मूर्ध्ना ।

कोपोपरागजनिता तु मुखेन्दुबिम्ब

हर्तु क्षमो यदि पर करुणा मयि स्यात् ॥३ १४

तोटक— आवेश भरी वाणी तोटक है ।

उदाहरण—रत्नावली म वासवदत्ता—(निकट जाकर) यह ठीक है योग्य है यह । (पुन क्रोधपूर्वक) आयपुत्र उठें । क्याकर अब भी स्वाभाविक कुलीनता से उत्पन्न (औपचारिक) सेवा के नाते दुःख का अनुभव कर । काञ्चनमाल, इस पाश म बाँध कर इस दुष्ट ब्राह्मण (विदूषक) को लाओ । इस दुष्ट कन्या (सागरिका) को भी आगे कर लो ।' इस कथाश मे सागरिका का (नायक से) समागम होने म विघ्न बनी हुई वासवदत्ता के आवेश भरे वचन से तोटक है, जिसके द्वारा (नायिका—) प्राप्ति अनिश्चित हो गई ।

वणीसहार मे 'स्तुतिया से प्रयत्न पूर्वक जगाये हुए रात भर सोआग यहाँ स लकर 'जब तक मैंने शस्त्र धारण कर रखा है तब तक दूसरे क शस्त्र म क्या ?' इस कथाश म कर्ण और अश्वत्थामा के आवेश भरे वचन से (कौरवों का) सना म भेद उत्पन्न होने स पाण्डवों की विजय की आशा से युक्त तोटक है ।

दूसरे ग्रन्थों मे अधिबल को तोटक का उलटा (सविनय वाणी) बताते हैं ।

उदाहरण—रत्नावली म राजा—देवि, मे । दोष आपने प्रत्यक्ष देख लिया फिर मैं क्या कहूँ—हे देवि, लज्जित हुआ मैं अपन सिर म आपके पैरा पर लाख से बनी लालिमा मिटा दूँ यदि आपक मुखचन्द्र का मेरे प्रति क्रोधजनित ललाई इस स दूर हो जाय, जो आप मेरे ऊपर करुणा कर दें ।

सरब्धवचन यत्तु तोटक तदुदाहृतम् ॥४१

यथा रत्नावल्याम्— राजा-प्रिये वासवदत्ते ! प्रसीद वासवदत्ता— (अश्रूणि धारयन्ती) अज्जउत्त! मा एव भण अण्णसङ्कन्ताइ खु एदाइ अक्खराइ ति । (आर्यपुत्र मैव भण । अन्यसक्रान्तानि खल्वेतान्यक्षराणीति ।)

यथा च वेणीसंहारे—राजा अये सुन्दरक ! कच्चित्कुशलमङ्गराजस्य ।
पुरुष —कुसलं सरीरमेत्तकेण । ('कुशलं शरीरमात्रकेण ।') राजा—किं तस्य किरीटिना हृता धौरेयाः, क्षत सारथि, भग्नो वा रथ. । पुरुष —देव ! ण भग्गो रहो भग्गो से मणोरहो । ('देव न भग्नो रथ । भग्नोऽस्य मनोरथ ।) राजा— (ससंभ्रमम्) इत्येवमादिना संरब्धवचसा तोटकमिति ।

तोटक आवेशभरी वाणी है, जिसकी चर्चा पहले भी हो चुकी है ।

उदाहरण—रत्नावली मे राजा—प्रिये वासवदत्ते, प्रसन्न हो जाओ । वासवदत्ता—(आँसू भर कर) आर्यपुत्र, ऐसा न कहे । ये अक्षर (प्रिये) तो अब किसी दूसरे (सागरिका) के लिए चले गए ।

वेणीसंहार मे राजा—'अये सुन्दरक, क्या कर्ण का कुशल है ? पुरुष - शरीर मात्र से कुशल है । राजा—क्या अर्जुन के द्वारा उसके (रथ के) घोडे मार डाले गए, सारथि घायल कर दिया गया या रथ तोडफोड दिया गया ? पुरुष—देव, रथ नहीं टूटा, (कर्ण का) मनोरथ भग्न हो गया । राजा—(घबराहट से) कैसे ?' इस वचांश मे घबराहट की वाणी तोटक है ।

नान्दी टीका

यहाँ तोटक की परिभाषा दूसरी बार आई है । यह अन्य कई सस्करणो मे नही मिलती । वस्तुत यह यहाँ अनावश्यक है ।

४२ उद्वेगोऽरिकृता भीति —

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका —(आत्मगतम्) कहं अकिदपुण्णेहिं अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि । ('कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न पार्यते ।' इत्यनेन वासवदत्तात सागरिकाया भयमित्युद्वेग । यो हि यस्यापकारी स तस्यारि ।

यथा च वेणीसंहारे—'सूत —(श्रुत्वा सभयम्) कथमासन्न एवासौ कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसंज्ञश्च महाराज । भवतु ! दूरमपहरामि स्यन्दनम् । कदाचिदयमनार्यो दु शासन इवास्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यति ।' इत्यरिकृता भीतिरुद्वेग ।

४२ शत्रु से उत्पन्न की हुई भीति उद्वेग है ।

उदाहरण—रत्नावली मे—सागरिका (स्वगत, कैसे अपनी इच्छा से पुण्यहीन मर भी नहीं पाते ।' इस कथन मे वासवदत्ता से सागरिका का भय उद्वेग है । जो जिसी की हानि कर देता है, वही उसका अरि है ।

वेणीसहार मे सूत—(सुनकर भय से) क्या यह कौरवराज के पुत्रो का भाँति महावन के (विनाशक) तूफान के समान यह भीम है ? अभी दुर्योधन सचेत नही हुए । अच्छा, रथ को दूर से चलूँ । यह अनार्य (भीम) इस (दुर्योधन) के प्रति भी कुछ

वैसा ही अशोभनीय व्यवहार न कर डाले। इस कथाश मे शत्रु से उत्पन्न की हुई भ्रान्ति है।

---शङ्कात्रासौ च सभ्रम.।

यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक – (पश्यन्) का उण एसा। (ससम्भ्रमम्) कध देवी वासवदत्ता अत्ताण वावादेदि। ('का पुनरेषा' कथं देवीवासवदत्तात्मानं व्यापादयति') राजा - (ससम्भ्रममुपसर्पन्) क्वासौक्वासौ। इत्यनेन वासवदत्ता-बुद्धिगृहीताया सागरिकाया मरणशङ्कया सभ्रम इति।

यथा च वेणीसहारे—'(नेपथ्ये कलकल.) अश्वत्थामा—(ससंभ्रमम) मातुल! मातुल! कष्टम्। एष भ्रातु प्रतिज्ञाभंगभीरु किरीटी समं शरवर्षै-दुर्योधनराधेयावभिद्रवति। सर्वथा पीतं शोणितं दुःशासनस्य भीमेन।' इति शङ्का। तथा '(प्रविश्य सभ्रान्तः सप्रहार.) सूत—त्रायता त्रायता कुमार।' इति त्रास। इत्येताभ्या त्रासशङ्काभ्या दुःशासनद्रोणवधसूचकाभ्या पाण्डवविजय-प्राप्त्याशान्वित सभ्रम इति।

संभ्रम शङ्का और त्रास है।

उदाहरण—रत्नावली मे—'विदूषक—(देखते हुए) फिर यह कौन? (घबरा कर) क्या देवी वासवदत्ता आत्महत्या कर रही हैं? राजा—(घबराते हुए निकट पहुँच कर) वह (वासवदत्ता) कहाँ? वह कहाँ?' इस कथाश मे वासवदत्ता समझकर सागरिका के मरण की शका से सभ्रम है।

वेणीसहार मे—(नेपथ्य मे कलकल)। अश्वत्थामा—(घबराकर) मामा, मामा, बडी विपत्ति है। यह भाई की प्रतिज्ञा के टूटने से भीरु अर्जुन बाणवर्षा के साथ दुर्योधन और कर्ण की ओर झपट रहा है। भीम के द्वारा दुःशासन का रक्त अथवा पी लिया गया।' यह तो शका हुई। तथा (प्रवेश कर घबराया हुआ और घायल) सूत—कुमार को बचायें।' यह त्रास है। इन दोनो कथाशो से दुःशासन और द्रोण के वध के सूचक त्रास और शंका से पाण्डवविजय की प्राप्ति की आशा से समन्वित सभ्रम है।

नान्दी टीका

धनञ्जय का सभ्रम भरत का विद्रव है। शङ्कात्रासादि दोनो घबराहट के कारण हैं।

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तित ॥४२

यथा रत्नावल्याम्—'राजा' वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' पुन क्रमान्तरे सर्वथा देवीप्रसादन प्रति निष्प्रत्याशीभूता स्म पुन। तत्किमिह स्थितेन। देवीमेव गत्वा प्रसादयामि।' इत्यनेन देवीप्रसादा यत्ता सागरिकासमागमतिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेप।

यथा च वेणीसंहारे—'सुन्दरक—अहवा किमेत्थ देव्वं उआलहामि। तस्स क्खु एवं णिब्भच्छिदविदुरवअणबीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारुढमूलस्स कूडविसमसाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फलं परिणमेदि' ('अथवा किमत्र दैवमुपालभे। तस्य खल्वेतन्निर्भर्त्सितविदुरवचनबीजस्य परिभूतपितामहहितोपदेशाङ्कुरस्य शकुनिप्रोत्साहनारूढमूलस्य कूटविषशाखिनः पाञ्चालीकेशग्रहणकुसुमस्य फलं परिणमति'।) इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाक्षिप्यत इत्याक्षेपः।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयानि। एषां च मध्येऽभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणां प्राधान्यम्। इतरेषां यथासंभवं प्रयोग इति सांगो गर्भसंधिरुक्त।

आक्षेप से गर्भगत बीज का (फलोन्मुख) विकास प्रकट होता है।

उदाहरण—रत्नावली में राजा—जब, देवी को प्रसन्न करने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं देखता हूँ। आगे चलकर—हम लोग फिर देवी की प्रसन्नता के उपक्रम में निराश हो चुके हैं। तो यहाँ पड़े रहने से क्या लाभ ?' इस कथांश से यह प्रकट हुआ कि सागरिका का नायक से समागम होना देवी की प्रसन्नता के अधीन है।

वेणीसंहार में सुन्दरक—अथवा क्योंकर इस विषय में दैव को दोष दूँ ? यह तो उस विपैले कूटनीतिक वृक्ष का फल परिपाक है, जिसका बीज था विदुर के वचन की दुत्कार, जिसका अंकुर था भीष्म के हितोपदेश की अवहेलना, जिसकी मूल स्थापना की शकुनि के द्वारा उत्साहित किया जाना और जिसका कुसुम था द्रौपदी का केशग्रहण।' इस कथांश के द्वारा बीज का ही फलोन्मुख करते हुए सूचित किया गया है। अतएव आक्षेप है।

गर्भसन्धि के ये १२ अङ्ग प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था के प्रदर्शक बना कर रखे जायें। इनमें से अभूताहरण, मार्ग, तोटक, अधिबल और आक्षेप प्रधान हैं। शेष अङ्गों का यथासंभव प्रयोग होना चाहिए।

नान्दी टीका

अभिनव गुप्त के अनुसार गर्भ है हृदय के अन्त स्थित बात। उसका प्रकट हो जाना भरत के अनुसार आक्षिप्ति है। यही आक्षिप्ति धनञ्जय का आक्षेप है, जिसमें उनके अनुसार गर्भ में विकसित बीज का स्वरूप स्पष्टतया झलकाया जाता है। धनञ्जय की परिभाषा में अनवस्था दोष है, क्योंकि गर्भबीज-समुद्भेद तो प्रायः इस संधि के सभी अङ्गों में होता है।

अवमर्श-सन्धिः

४३. क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ॥४३

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनम् । तच्च क्रोधेन वा, व्यसनाद्वा, विलोभनेन वा ।'भवितव्यमनेनार्थेन' इत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसन्ध्युद्भिन्न-बीजार्थसंबन्धो विमर्शोऽवमशः। यथा रत्नावल्या चतुर्थेऽङ्केऽग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसत्त्या निरपायो रत्नावलीप्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शितः। यथा च वेणीसंहारे दुर्योधनरुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्तः —

'तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम्।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥६१

इत्यत्र 'स्वल्पावशेषे जये' इत्यादिभिर्विजयप्रत्यर्थिसमस्तभीष्मादिमहा-रथवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनं दर्शितमित्यवमर्शसंधि. ।

४३ जिस कथाश मे क्रोध, आपत्ति या लोभ के कारण आगे क्या करें—इस सम्बन्ध मे विचार होता है और जिसमे बीजात्मक घटना गर्भसन्धि की अपेक्षा अधिक विकसित होती है, उसे अवमर्श कहते हैं।

अवमर्शन या अवमर्श का अभिप्राय पर्यालोचन है। पर्यालोचन क्रोध से या व्यसन (विपत्ति) या लोभ से उत्पन्न होता है। गर्भसन्धि मे विकसित बीजात्मक घटना से सम्बन्ध रखने वाला विमर्श ही अवमर्श सन्धि है, जिसमे 'अब यह योजना कार्यान्वित होना है' ऐसा व्यवसाय प्रधान होता है और व्यवसाय के द्वारा फल की स्थायी प्राप्ति निश्चित होती है।

उदाहरण—रत्नावली के चतुर्थ अङ्क मे आग लगने पर भगदड की घटना तक विमर्श दिखाया गया है, जिसमे वासवदत्ता की प्रसत्ति (विरोध छोड देने) से निर्विघ्न रूप मे रत्नावली की प्राप्ति का व्यवसाय है। वेणीसंहार मे दुर्योधन के रक्त से लथपथ भीम के (युधिष्ठिर के पास) आने तक अवमर्श सन्धि है। युधिष्ठिर ने कहा है—भीष्म-रूपी महासागर को पार कर लेने पर, द्रोण-रूपी अग्नि को बुझा देने पर, कर्णरूपी सर्प को मिटा देने पर, शल्य के मारे जाने पर अब विजय थोडी शेष रही। साहसी, भीम के द्वारा आवेश के कारण (दुर्योधन को आज ही मारने की) बात से हम सबके प्राण संशय मे पडे। *यहाँ विजय थोडी ही शेष रही*—इस बात से और विजय के बाधक भीष्मादि महारथियो के बध से विजय का पूर्ण रूप से निश्चय होना अवमर्श सन्धि का उदाहरण है।

नान्दी टीका

अवमर्श सन्धि मे फलप्राप्ति उपाय के द्वारा नियत प्रतीत होती है। गर्भ सन्धि मे थोडी-सी प्राप्ति, उसका भी छिन जाना स्पष्ट है। अवमर्श मे नायक को यह ज्ञान हो जाता है कि सफलता क्यो स्थायी नही हुई। क्रोध, शाप, विलोभन, व्यसन आदि

जो कुछ कारण हों, उसे दूर करने में नायक अवमर्श सन्धि के अन्त तक कृतार्थ होता है।

अभिनवगुप्त के अनुसार अवमर्श-सन्धि मे नायक बाधाओ को दूर करने के लिए अपने उद्योग को सहस्रगुना कर देता है। भरत ने कहा है कि अवमर्श मे उपायो मे नायक फलप्राप्ति को सुनिश्चित करता है।[1]

४४. तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥४४
४५. प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश।

अवमर्श सन्धि के १३ अङ्ग हैं—अपवाद, सम्फेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसङ्ग, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन और आदान।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने विमर्श-सन्धि के १३ अङ्ग बताये हैं, किन्तु भरत ने इसके १५ अङ्ग गिनाये हैं। भरत के बताये भेद निषधन, व्यवहार और युक्ति नामक विमर्श-सन्ध्यङ्ग दशरूपक में नहीं हैं। दशरूपक मे गिनाये हुए द्रव और विचलन नाट्यशास्त्र मे नहीं हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि धनञ्जय के समक्ष वर्तमान नाट्यशास्त्र का कोई दूसरा संस्करण था, अथवा भरत के अतिरिक्त किसी अन्य नाट्याचार्य की कृति को भी उन्होंने अपना उपजीव्य बनाया।

अवमर्श सन्धि में नियताप्ति नामक कार्यावस्था होती है।

दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा रत्नावल्याम् 'सुसङ्गता— सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीअदि त्ति पवादं करिअ उवत्थिदे अद्धरत्ते ण जाणीअदि कहिं पि णीदेत्ति। (सा खलु तपस्विनी भट्टिन्योज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वोपस्थितेऽर्धरात्रे न ज्ञायते कुत्रापि नीतेति।')

'विदूषक —(सोद्वेगम्) अदिणिग्घिणं क्खु कदं देवीए।' (अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या।' पुन—'भो वअस्स ; मा क्खु अण्णधा संभावेहि। सा क्खु देवीए उज्जइणी पेसिदा। अदो अप्पिअं त्ति कहिदम्।' भो वयस्य ! मा खल्वन्यथा संभावय सा खलु देव्योज्जयिन्यां प्रेषिता। अतोऽप्रियमिति कथितम्') राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी।' इत्यनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवादः।

1. निश्चता तु फलप्राप्तिर्यत्र भावेन पश्यति। ना० शा० १९.६२

यथा च वेणीसहारे— युधिष्ठिर - पाञ्चालक ! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मन कौरवापसदस्य पदवी ? पाञ्चालक —न केवल पदवी, स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्ध ।' इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति ।

अपवाद है दोष बताना ।

उदाहरण—'रत्नावली म सुसगता—वह बेचारी (सागरिका) देवी क द्वारा उज्जयिनी भेज दी गई—यह प्रवाद फैलाकर आधी रात क समय, पता नही, कहाँ ले जाई गई ?

विदूषक (घबड़ाकर)—देवी न अतिनिष्ठुर कर डाला । फिर हे मित्र, कुछ और न समझें । वह (सागरिका) देवी के द्वारा उज्जयिनी भेज दी गई । अत इस अप्रिय कह दिया ।

राजा—अहो देवी मेरे प्रति कठोर है ।

इस कथाश म वासवदत्ता का दोष, बताने के कारण अपवाद है ।

वेणीसहार में युधिष्ठिर—पाञ्चालक, क्या उस दुरात्मा नीच कौरव (दुर्योधन) की मार्ग पद्धति कहीं मिली ? पाञ्चालक—उसकी मार्ग-पद्धति ही नहीं, द्रौपदी देवी के केशपाश-स्पर्श के पाप का प्रधान कारण वह दुरात्मा स्वय मिल गया ।'—इस कथाश म दुर्योधन के दोष को बताने म अपवाद हुआ ।

नान्दी टीका

अपवाद म किसी कथापुरुष के दोष बताये जाते हैं ।

सफेटो रोषभाषणम् ।

यथा वेणीसहारे—'भो कौरवराज ! कृत बन्धुनाशदर्शनमन्युना । मैव विषाद कृथा पर्याप्ता पाण्डवा ममरायाहमसहाय' इति ।

पञ्चाना मन्यसेऽस्माक य सुयोध सुयोधन ।
द शितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सव ॥ ६ १०

इत्य श्रुत्वामूयामिवा निक्षिप्य कुमारयोर्दृष्टिमुक्तवान् धातराष्ट्र —
कर्णद् शासनवधात्तुल्यावेव युवा मम ।
अप्रियो पि प्रियो योद्धु त्वमेव प्रियसाहस ।६ ११

'इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावितघोर सङ्ग्रामो—' इत्यनेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोषसभाषणाद्विजयबीजान्वयेन सफेट इति ।

सफेट है क्रोधपूर्वक भाषण ।

उदाहरण—वेणीसहार मे भीम—हे कौरवराज, भाइयो के मारे जाने को देखकर शोक करना व्यर्थ है। आप इस प्रकार विषाद न करें कि युद्ध के लिए बहुत से पाण्डव हैं और मैं अकेला हूँ।

हे सुयोधन, आप इस पाँच में से जिस किसी को युद्ध करने के लिए ठीक समझते हों, उसके साथ कवच और शस्त्र धारण किये हुए आपका रणोत्सव हो।

यह सुनकर असूया भरी दृष्टि (भीम और अर्जुन) कुमारो पर डालकर दुर्योधन बोला—

'कर्ण और दु शासन को मारने वाले तुम दोनो मेरे लिए समान हो। अप्रिय होने पर भी युद्ध करने के लिए साहसी तुम्ही (भीम) वरेण्य हो।' यह कहकर 'परस्पर क्रोध, अधिक्षेप, परुष वाणी और कलह से घोर सग्राम आरम्भ करते।' इस कथांश मे भीम और दुर्योधन का एक दूसरे से रोष सम्भाषण विजय के बीज से सम्बद्ध होने के कारण सम्फेट है।

नान्दी टीका

वेणीसहार के सम्फेट के इस उदाहरण मे रोषभाषण का अभाव होने से सम्फेट नामक सन्ध्यङ्ग प्रतीत नही हो पाता।

विद्रवो वधबन्धादि –

यथा छलितरामे

येनावृत्य मुखानि सामपठना मत्यन्तमायासितम्
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणे क्रीडितम्।
युष्माक हृदय स एष विशिखैरापूरितासस्थलो
मूर्च्छाघोरतम प्रवेशविवशो बद्ध्वा लवो नीयते॥'

यथा च रत्नावल्याम्

हर्म्याणा हेमश्रृङ्गश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधान
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभिताप।
कुर्वन्क्रीडामहीध्र सजलजलधरश्यामलं धूमपातै
रेष प्लोषार्तय पिजन सहसैवोत्थितोऽन्त पुरेऽग्नि॥४ १४

इत्यादि। पुन वासवदत्ता—'अज्जउत्त! ण क्खु अह अत्तणो कारणादो भणामि। एसा मए णिग्घिणहिअआए सजदा सागरिआ विवज्जदि।' ('आर्यपुत्र! न खल्वहमात्मन कारणाद्भणामि। एषा मया निर्घृणहृदया संयता सागरिका विपद्यते।') इत्यन्ते सागरिकावधबन्धाग्निनिमित्तविद्रव इति।

विद्रव है वध, बन्ध आदि।

। उदाहरण—ललितराम मे घोषणा की जाती है नेपथ्य से—जो सामपाठियों का मुँह बन्द करके उन्हें खूब तङ्ग करता था, बालपन में अश्वसूत्र की मालाओं को चुरा कर और पुनः उन्हें लौटाकर खेल करता था, जो आप लोगों का हृदय है, वही लव बाँध करके कहीं ले जाया जा रहा है। उसके कन्धे बाण से भरे हैं और वह मूर्च्छा के घोरान्धकार मे लीन होकर विवश है। रत्नावली मे अन्तःपुर मे सहसा ऐसी अग्नि उत्पन्न हो गई है, जो ज्वाला के शिखरों से प्रासादों के स्वर्णशृङ्ग की भाँति शोभा धारण करती है, जिसका प्रखर ताप घने उपवनों के वृक्षों के अग्रभाग को जला देने से प्रकट हो रहा है, जो धुँए की उड़ान से क्रीडापर्वत को मानो जल भरे बादलों से काला बना रही है, और जो अपने दाह से रमणीलोक को आर्त कर रही है।—इत्यादि। पुनः वासवदत्ता—आर्यपुत्र, मैं अपने लिए नहीं कह रही हूँ (कि बचाइये) निष्ठुर हृदय वाली मुझसे मर्यमित सागरिका (जलने से) मर रही है।' इस प्रयास में सागरिका के वध, बन्ध और अग्नि आदि से विद्रव है।

नान्दी टीका

भरत ने विद्रव को गर्भसन्धि का अंग माना है और परिभाषा दी है—

शङ्का भयत्रास-कृतो विद्रवः समुदाहृतः ॥१९.८८

अभिनवगुप्त के अनुसार 'भय और त्रासकारी वस्तुओं से जो शंका होती है, वह विद्रव है। विद्रवति का अभिप्राय है 'विलीयते हृदयं येन' अर्थात् जिससे हृदय द्रवित हो उठे। इसके दो अर्थ रहे हैं।

अभिनवगुप्त के समक्ष विद्रव की शकुक द्वारा दी हुई एक अन्य व्याख्या थी। इसमे 'शङ्का-भय-त्रासकृतो विद्रवः' ऐसा पाठ लेकर शंका, भय और त्रास से उत्पन्न विद्रव होता है—यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है।

धनञ्जय ने उपर्युक्त दोनों का न अपना कर वध और बन्ध ही को विद्रव बनाया है, जो धात्वर्थ से समञ्जसित नहीं होता। विद्रव वस्तुतः हड़बड़ी है। धनिक ने इस त्रुटि को दूर करते हुए व्याख्या की है कि विद्रव वध, बन्ध और अग्नि से होता है।

द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥४५

यथोत्तरचरिते—

'वृद्धास्तेन विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥५.३४

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः।

यथा च वेणीसंहारे—'युधिष्ठिर—भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः!

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ॥६·२०

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति द्रवः ।

द्रव गुरुजनो का तिरस्कार है ।

उदाहरण—उत्तररामचरित मे (लव राम की निन्दा करता है)—जो वृद्ध हैं, उनके काम विचारणीय नही हैं । अर्थात् उनकी कटु आलोचना करना योग्य नही है । क्या चर्चा की जाय ? सुन्दर स्त्री (ताड़का) को मार डालने पर भी उनका यश खण्डित नही हुआ है, वे संसार मे महान् बने ही रहे । खर से युद्ध करने मे बिना पराङ्मुख हुए ही जिन्होने तीन डग भरे थे । अन्य भी—इन्द्रसूनु (बाली) को मारने मे (राम का) जो कौशल था, उस विषय मे भी लोगो को जानकारी है ।

इस कथाश मे लव ने गुरु राम का तिरस्कार किया है । अतएव यह द्रव है ।

वेणीसंहार मे—युधिष्ठिर—भगवान्, कृष्ण के बडे भाई, सुभद्रा के भाई (बलराम)—

आप सम्बन्धियो के प्रति प्रेमभाव को मन मे नहीं लाए, क्षत्रियो के धर्म पर और अपने छोटे भाई कृष्ण मे अर्जुन के बढे हुए मैत्री भाव पर भी ध्यान नही दिया । भले ही दोनो शिष्यो (भीम और दुर्योधन) के प्रति आप का समान प्रेम-सम्बन्ध हो । पर यह कौन सी पद्धति है कि आप मुझ अभागे से इस प्रकार विमुख हैं ?' इस कथाश मे बलराम गुरु का तिरस्कार युधिष्ठिर ने किया है । अतएव यह द्रव है ।

(वेणीसंहार के इस पद्य मे तिरस्कार का भाव समुदित नहीं है ।)

नान्दी टीका

द्रव की परिभाषा के प्रसंग मे कोई भी अवस्था मे बडा या पूज्य पुरुष गुरु है ।

४६. विरोधशमनं शक्तिः —

यथा रत्नावल्याम्—

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
प्रत्यासत्तिमुपागता नहि तथा देवी रुदत्या यथा
प्रक्षाल्यैव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥ ४१

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधवासवदत्ताकोपोपशमनाच्छक्ति ।
यथा चोत्तारचरिते लव आह—

'विरोधो विश्रान्त प्रसरति रसो निर्वृतिघन—
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनय प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिवहि महता कोऽप्यतिशयः ॥६ ११

४६. शक्ति है विरोध का शमन करना ।

उदाहरण—रत्नावली म राजा – मेरे बहाने बनाकर शपथ लेने स, मीठी बातो से, मनोरञ्जन करने से, कृत्रिम मुसकान से, पैर पर गिरने से, और सखियो की वाणी से देवी वासवदत्ता वैसे प्रसन्न न हुई जैसे स्वय रोते हुए, उसने अपन अश्रुजल से धोकर कोप को दूर कर दिया ।

इस कथाश मे सागरिका की प्राप्ति मे बाधा डालने वाली वासवदत्ता का कोप शान्त होने से शक्ति है ।

दूसरा उदाहरण उत्तररामचरित म लव की एकोक्ति है—'विरोध समाप्त हो गया, शान्ति-निर्भर रस स्फुट हुआ । औद्धत्य कही चला गया, विनय मुझे विनम्र बना रहा है । इस (राम) को देखन पर मैं तत्क्षण कुछ परवश हो चला हूँ । तीर्थों की भाँति महापुरुषो की कोई बहुमूल्य विशेषता होती है ।' (इस कथाश म विरोध के शान्ति की चर्चा होने से शक्ति है ।)

नान्दी टीका

शक्ति मे विरोधी का प्रशम (प्रसादन) होता है ।

अभिनवगुप्त क अनुसार शक्ति का स्रोत बुद्धि या विमर्श होते हैं । अर्थात् इस सन्ध्यग से बौद्धिक शक्ति प्रमाणित होती है ।

—तर्जनोद्वेजने द्युति ।

यथा वेणीसंहारे— एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलदिङ्निकुञ्ज पूरितातिरिक्तमुद्भ्रान्तसलिलचरशतसकुल श्रासोद्वृत्तनक्रग्राहमालोड्य सरसनिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरणाभिहितम्—

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदा
मा दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीवं रिपुं भाषसे ।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान्नृपशो ! विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥ ६ ७

इत्यादिना 'त्यक्तोत्थित सरभसम्' इत्यनेन दुर्वचनजलावलोडनाभ्या

दुर्योधनतर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां भीमस्य द्युतिरुक्ता ।

द्युति है डाँट फटकार और उद्वेग उत्पन्न करना।

उदाहरण—'वेणीसंहार' में कृष्ण की यह बात सुनकर भीम ने उस जलाशय का मन्थन कर डाला, जिससे उसका जल चारो दिशाओं में बाहर बह चला, सभी जलाश्रित जीव विकल हो गये, भय से नाक और ग्राह उलट गये। फिर भयकर नाद से गर्ज कर कुमार भीम ने कहा—अपना जन्म विमल चन्द्रवंश में बताते हो। अब भी गदा धारण करते हो। दुःशासन के गर्मागर्म रक्त रूपी सुरा को पीने से मत्त मुझको रिपु बताते हो। मधु और कैटभ को मारने वाले कृष्ण के प्रति दर्पान्ध होकर उद्धत चेष्टायें करते हो। मेरे भय से, हे नर पशु, समर को छोड कर इस समय कीचड मे छिप रहे हो। यहाँ से लेकर 'उद्वेगपूर्वक छिपने का स्थान छोडकर उठा हुआ (दुर्योधन)' इस स्थल तक के कथाश मे दुर्वचन और जलमन्थन आदि के द्वारा दुर्योधन को डाँट फटकार और उद्वेग उत्पन्न करने से पाण्डवो को विजय के लिए अनुकूल होने से और दुर्योधन को उठाकर सामने ला देने से यह भीम की द्युति है।

गुरुकीर्तन प्रसङ्गः —

यथा रत्नावल्याम् वसुभूति —'देव यासौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली नामायुष्मती वासवदत्ता लावाणके दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रतिदत्ता।' इत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसङ्गाद् गुरुकीर्तनेन प्रसङ्ग ।

तथा मृच्छकटिकायाम्—'चाण्डालक.—एस सागलदत्तस्स सुओ अज्जविणअदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो, वावादिदु वज्झट्ठाणं णीअदि। एदेण किल गणिआ वसन्तसेणा सुवण्णलोमेण वावादिदि त्ति।' ('एष सागरदत्तस्य सुत आर्यविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते। एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति।

चारुदत्तः—मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यद्
सदसि निविडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्॥१०.१२

इत्यनेन चारुदत्तवधसूचनया अवधाभ्युदयानुकूलं गुरुकीर्तनमिति प्रसङ्गात् प्रसङ्ग ।

प्रसङ्ग है गुरुजनों की उपलब्धियों की वर्णना।

उदाहरण—रत्नावली मे वसुभूति—हे देव (वत्सराज) सिंहलेश्वर ने वासवदत्ता को जला हुआ सुनकर पहले से माँगी हुई अपनी आयुष्मती कन्या रत्नावली को

आपके लिए दे दिया। यहाँ सिद्धेश्वर का कीर्तन हो रहा है, जिसमे रत्नावली की प्राप्ति के अनुकूल उसके आभिजात्य को प्रकट करने वाले उसके गुरुओं की चर्चा हो रही है।

मृच्छकटिक मे चाण्डालक—यह सागरदत्त का पुत्र, आर्य-विनयदत्त का नाती चारुदत्त वध करने के लिए वध्यभूमि ले जाया जा रहा है। इसके द्वारा गणिका वसन्तसेना स्वर्ण के लोभ से मार डाली गई।

चारुदत्त—सैकड़ो यज्ञो के द्वारा पवित्र किया हुआ मेरा गोत्र सभास्थलो मे घने चैत्यो के बीच वेदघोष पूर्वक उच्चारित होता था। मरण की स्थिति मे वर्तमान मेरा नाम अयोग्य मनुष्यो के द्वारा घोषणा मे उच्चारित किया जा रहा है।' इस कथाश मे चारुदत्त के वध की सूचना के द्वारा उसके अवध और अभ्युदय के अनुरूप पूर्वजो की उपलब्धियो की चर्चा होने से प्रसंग नामक अंग है।

—छलनं चावमाननम् ॥४६

यथा रत्नावल्याम्— राजा—'अहो निरनुरोधा मयि देवी। इत्यनेन वासवदत्तायेष्टासंपादनाद्वत्सराजस्यावमाननाच्छलनम्। यथा च रामाभ्युदये सीताया परित्यागेनावमाननाच्छलनमिति।

छलन किसी का तिरस्कार है।

उदाहरण—रत्नावली मे राजा—अहो देवी मेरे प्रतिकूल है। यहाँ वासवदत्ता के द्वारा वत्सराज का अभीष्ट न पूरा होने देने के कारण वत्सराज का तिरस्कार होने से छलन हुआ। रामाभ्युदय मे सीता का परित्याग करने से उनकी अवमानना होने से छलन हुआ।

नान्दी टीका

दशरूपक के छलन का नाम भरत के नाट्यशास्त्र मे छादन मिलता है। नाट्यशास्त्र मे छन्दन पाठ भी मिलता है। छादन से अभिप्राय है अपमान और कलङ्क का अपवारण (दूर करना)।

धनञ्जय ने छलन को अवमानन बताया है। यह ठीक नही प्रतीत होता, क्योकि छल् धातु का अवमानना से कोई सम्बन्ध नहीं है।

व्यवसायः स्वशक्त्युक्ति —

यथा रत्नावल्याम्—'ऐन्द्रजालिक —

किं धरणीए मिअंको आआसे महिहरो जले जलणो।
मज्झण्ह्म्मि पओसो दाविज्जउ देहि आणत्ति ॥४८

अथवा किं बहुआ जंपिएण—

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिअएण जं महसि दट्ठुम्।
तं ते दावेमि फुड गुरुणो मन्तप्पहावेण ॥' ४८

('किं धरण्यां मृगांक आकाशे महीधरो जले ज्वलनः।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देह्याज्ञप्तिम्॥
अथवा किं बहुना जल्पितेन।
मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन जं महसि द्रष्टुम्।
तत्तो दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण॥')

इत्यनेनेन्द्रजालिको मिथ्याग्निसंभ्रमोत्थापने वत्सराजस्य हृदयस्थ-सागरिकादर्शनानुकूला स्वशक्तिमाविष्कृतवान्।

यथा च वेणीसंहारे—

'नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा।
वध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणे क्षम.॥' ६.६

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदंडशक्तिमाविष्करोति।

४७ व्यवसाय है अपनी शक्ति की वर्णना।

उदाहरण—रत्नावली में ऐन्द्रजालिक—

आज्ञा दें क्या दिखलाऊँ—पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल में अग्नि, मध्याह्न में सन्ध्या?

अथवा बहुत कहने से क्या!

मेरी यह प्रतिज्ञा है। मैं कहता हूँ कि हृदय से जो कुछ देखना चाहते हो, वह गुरुमन्त्र के प्रभाव से स्पष्ट दिखाऊँगा। इस कथांश में ऐन्द्रजालिक कृत्रिम अग्नि की भ्रान्ति उत्पन्न करके वत्सराज के हृदय में विराजमान सागरिका के दर्शन के लिए साधक अपनी शक्ति को प्रकट करता है।

वेणीसंहार में—

प्रतिज्ञा टूट जाने से भीरु उस वीर (भीम) के द्वारा आज तुम्हारा केशपाश बाँधा जायगा। वही इसे संवारने में समर्थ है।

इस कथांश में युधिष्ठिर अपनी दण्डशक्ति प्रकट करते हैं।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय की व्यवसाय की परिभाषा सर्वथा भिन्न-भिन्न है। *भरत के अनुसार व्यवसाय है प्रतिज्ञा हेतु-सम्भव। इसकी व्याख्या अभिनवगुप्त ने की* है, जिसके अनुसार अंगीकृत काम के साधनों को पा लेना व्यवसाय है।

धनञ्जय के अनुसार व्यवसाय है अपनी शक्ति की वर्णना। धनञ्जय के व्यवसाय और विरोध प्राय समान ही हैं।

—संरब्धानां विरोधनम्।

यथा वेणीसंहारे—'राजा – रे रे मरुत्तनय! किमेवं वृद्धस्य राज्ञ पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे? अपि च—

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।
अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥५.३०
(भीम क्रोधं नाटयति) अर्जुन—आर्य प्रसीद, किमत्र क्रोधेन ?
अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा॥५.३१
भीम—अरे भरतकुलकलङ्क!
अद्यैव किं न विशसेयमहं भवन्त
दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन्।
विघ्नं गुरू न कुरुतो यदि मत्कराग्र—
निर्भिद्यमानरणितास्थनि ते शरीरे॥५.३२
अन्यच्च मूढ!
शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि।
आसीदेतत्तव कुनृपते कारणं जीवितस्य
कुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने॥५.३३
राजा—दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो! नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः। किन्तु—
द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम्॥५.३३
इत्यादिना संरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति।

विरोधन है आवेश भरे लोगों का (अपनी शक्ति को) वर्णन करना।

उदाहरण—वेणीसंहार में राजा—रे रे भीम, क्यों इस प्रकार वृद्ध राजा के सामने अपने निंदनीय कर्म की प्रशंसा करते हो और मेरा द्यूतदासी भार्या (द्रौपदी) केश पकड़कर मुझ भुवनपति (दुर्योधन) की आज्ञा से राजाओं के समक्ष, तुम्हारे (भीम के), तुम्हारे (अर्जुन के), उस पशु राजा युधिष्ठिर) के और उन दोनों (नकुल तथा सहदेव) के सामने घसीटी गई। यह तो बताओ, इस वैर परम्परा में उन मारे गये राजाओं ने क्या किया था? भुजाओं के पराक्रम-रूपी अधिक धन के कारण घोर अभिमानी मुझे बिना जीते हुए ही तुम्हें गर्व क्यों कर हो गया?

(भीम क्रोध का अभिनय करते हैं) अर्जुन—आर्य प्रसन्न हो, क्रोध से क्या? सौ भाइयों के मारे जाने से दुःखी यह (दुर्योधन) वाणीमात्र से (हमारा) अप्रिय कर रहा है, कर्म से अशक्त है। इसके प्रलाप से क्यों व्यथा की जाय?

भीम—अरे भरतकुल कलङ्क,

बटु बोलने वाले, क्या मैं तुम्हे आज ही दु.शासन का साथ देने के लिए न मार डालता, यदि ये दो गुरुजन (धृतराष्ट्र और गान्धारी) मेरी गदा के सिरे से प्रहार करने पर चरचराहट से टूटती हड्डियों वाले तेरे शरीर को तोडे जाते हुए रोकते नहीं।

और भी मूढ,

जैसे स्त्रियाँ रो-धोकर शोक दूर करती हैं, वैसे ही मैंने तुमसे भी (भाइयो का मरण-शोक दूर कराया है। तुम अपने भाई दु शासन की छाती के तोडे जाने के दृश्य के साक्षी बने। यही दोनो काम तुम्हारे दुष्ट राजा के जीवन के कारण रहे, जब तुम्हारे कुल-कमलिनी के लिए हाथी के समान भीम को क्रोध उत्पन्न हुआ।

राजा—दुरात्मन्, भरतकुल कलङ्क, पाण्डव पशो, मैं तुम्हारी तरह डींग नहीं हाँकता। किन्तु

शीघ्र ही तुम्हारे भाई रणभूमि पर मेरी गदा से प्रहार का हुई पसलियो के टूटने से भीषण तुमको निद्रित पायेंगे।' इस कथाश मे आवेश मे आये हुए भीम और दुर्योधन की अपनी शक्ति की वर्णना है।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय की विरोधन की परिभाषायें सर्वथा भिन्न हैं। भरत के अनुसार विरोधन कार्य के अत्यय (समाप्ति) को प्राप्ति है, किन्तु धनजय के अनुसार आवेश मे आये हुए लोगो का अपनी शक्ति की प्रशसा करना विरोधन है। ऐसी स्थिति मे धनजय का विरोध प्राय व्यवसाय नामक पूर्वोक्त मन्ध्यग से अभिन्न लगता है।

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना ॥ ४७

यथा वेणीसहारे—'पाञ्चालक —अहं च देवेन चक्रपाणिना इत्युपक्रम्य 'कृतं सदेहेन —

पूर्यन्ता सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम्।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुत संशय ॥ ६१२

इत्यादिना 'मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिर.' इत्यन्तेन द्रौपदी-केशसंयमन-युधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनति।

प्ररोचना है होने वाली घटना को हुई-सी बताना।

उदाहरण—वेणीसहार मे पाञ्चालक—'मैं देव चक्रपाणि के द्वारा' आदि से लेकर 'सन्देह का अवसर नही—'

आपके राज्याभिषेक के लिए रत्नकलश जलपूर्ण किये जायें। द्रौपदी बहुत दिनो से छोडे हुए वेणीबन्ध सँवारने का उत्सव करे। क्षत्रद्रुम का कर्तन करने वाले और

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीना मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी।
अस्मिन्वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥५.३०
(भीम क्रोधं नाटयति) अर्जुन —आर्य प्रसीद, किमत्र क्रोधेन ?
अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥५.३१
भीम —अरे भरतकुलकलङ्क !
अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं
दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन्।
विघ्नं गुरू न कुरुतो यदि मत्कराग्र—
निर्भिद्यमानरणितास्थनि ते शरीरे ॥५.३२
अन्यच्च मूढ !
शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्परित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि।
आसीदेतत्तव कुनृपते कारणं जीवितस्य
क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥५.३३
राजा—दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो ! नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः। किन्तु—
द्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥५.३३
इत्यादिना संरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति।

विरोधन है आवेश भरे लोगों का (अपनी शक्ति की) वर्णना करना।

उदाहरण—वेणीसंहार में राजा—रे रे भीम, क्यों इस प्रकार वृद्ध राजा के सामने अपने निन्दनीय कर्म की प्रशंसा करते हो और भी द्यूतदासी भार्या (द्रौपदी) केश पकड़कर मुझ भुवनपति (दुर्योधन) की आज्ञा से राजाओं के समक्ष, तुम्हारे (भीम के), तुम्हारे (अर्जुन के) उस पशु राजा (युधिष्ठिर) के और उन दोनों (नकुल तथा सहदेव) के सामने घसीटी गई। यह तो बताओ, इस वैर परम्परा में उन मारे गये राजाओं ने क्या किया था? भुजाओं के पराक्रम-रूपी अधिक धन के कारण घोर अभिमानी मुझे बिना जीते हुए ही तुम्हें गर्व क्या कर हो गया?

(भीम क्रोध का अभिनय करते हैं) अर्जुन—आर्य प्रसन्न हों, क्रोध से क्या? सौ भाइयों के मारे जाने से दुःखी यह (दुर्योधन) वाणीमात्र से (हमारा) अप्रिय कर रहा है, कर्म से अशक्त है। इसके प्रलाप से क्यों व्यथा की जाय?

भीम—अरे भरतकुल कलङ्क

कटु बोलने वाले, क्या मैं तुम्हें आज ही दु:शासन का साथ देने के लिए न मार डालता, यदि ये दो गुरुजन (धृतराष्ट्र और गान्धारी) मेरी गदा के सिरे से प्रहार करने पर चरचराहट से टूटती हड्डियों वाले तेरे शरीर को तोड़े जाते हुए रोकते नहीं।

और भी मूढ़,

जैसे स्त्रियाँ रो-धोकर शोक दूर करती हैं, वैसे ही मैंने तुमसे भी (भाइयों का मरण-शोक दूर कराया है। तुम अपने भाई दु:शासन की छाती के तोड़े जाने के दृश्य के साक्षी बने। यही दोनों काम तुम्हारे दुष्ट राजा के जीवन के कारण रहे, जब तुम्हारे कुल-कमलिनी के लिए हाथी के समान भीम को क्रोध उत्पन्न हुआ।

राजा—दुरात्मन्, भरतकुल कलङ्क, पाण्डव पशो, मैं तुम्हारी तरह डींग नहीं हाँकता। किन्तु

शीघ्र ही तुम्हारे भाई रणभूमि पर मेरी गदा से प्रहार का हुई पसलियों के टूटने से भाषण तुमको निद्रित पायेंगे।' इस कथांश में आवेश में आये हुए भीम और दुर्योधन की अपनी शक्ति की वर्णना है।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय की विरोधन की परिभाषायें सर्वथा भिन्न हैं। भरत के अनुसार विरोधन कार्य के अत्यय (समाप्ति) की प्राप्ति है, किन्तु धनजय के अनुसार आवेश में आये हुए लोगों का अपनी शक्ति की प्रशंसा करना विरोधन है। ऐसी स्थिति में धनजय का विरोध प्राय व्यवसाय नामक पूर्वोक्त सन्ध्यङ्ग से अभिन्न लगता है।

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना ॥ ४७

यथा वेणीसंहारे—'पाञ्चालक —अहं च देवेन चक्रपाणिना इत्युपक्रम्य 'कृतं सन्देहेन —

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम्।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥ ६१२

इत्यादिना 'मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति देवो युधिष्ठिरः' इत्यन्तेन द्रौपदी-केशसंयमन-युधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति।

प्ररोचना है होने वाली घटना को हुई-सी बताना।

उदाहरण—वेणीसंहार में पाञ्चालक—'मैं देव चक्रपाणि के द्वारा' आदि से लेकर 'सन्देह का अवसर नहीं—'

आपके राज्याभिषेक के लिए रत्नकलश जलपूर्ण किये जायें। द्रौपदी बहुत दिनों से छोड़े हुए वेणीबन्ध सँवारने का उत्सव करे। क्षत्रवृक्ष का कर्तन करने वाले और

प्रखर कुठार से चमकते हुए हाथ वाले परशुराम तथा क्रोधान्ध भीम के समरभूमि में आने पर सन्देह का अवसर नहीं रह जाता। यहाँ से आरम्भ करके 'देव युधिष्ठिर मंगल करने का आदेश देते हैं' यहाँ तक द्रौपदी के केश बाँधने और युधिष्ठिर के राज्याभिषेक इन दो भावी घटनाओं को सिद्ध हुआ सा बताने के कारण यह कथांश प्ररोचना है।

नान्दी टीका

सिद्धामन्त्रण से अभिप्राय है असिद्ध को भी सिद्ध बताना। यहाँ एकान्त सफलता न मिलने पर भी लक्षण मात्र देखकर भावी घटना को घटित बता दिया जाता है। यह धनिक का मन्तव्य है।

विकत्थना विचलनम्—

यथा वेणीसंहारे—अर्जुन —तात! अम्ब!

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥५.२७

भीम —

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाञ्चति ॥'५.२८

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद्विचलनमिति।

यथा च रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायण —

देव्या मद्वचनात्तयाभ्युपगतः पत्युर्वियोगस्तदा
सा देवस्य कलत्रसंघटनया दुःखं मया स्थापिता।
तस्याः प्रीतिमयं करिष्यति जगत्स्वामित्वलाभः प्रभोः
सत्यं दर्शयितुं तथापि वदनं शक्नोमि नो लज्जया ॥४.२०

इत्यनेनाप्यपरेणापि यौगन्धरायणेन 'मया जगत्स्वामित्वानुबन्धी कन्यालाभो वत्सराजस्य कृतः।' इति स्वगुणानुकीर्तनाद्विचलनमिति।

रत्नावली मे यौगन्धरायण—

'मेरे कहने से देवी को पति से हाथ धोना पड़ा। देव (वत्सराज) का (नई) पत्नी मिल जाने से देवी मेरे द्वारा दु ख मे डाली गई। अब प्रभु (वत्सराज) का जगत्स्वामी बन जाना देवी को प्रीति प्रदान करेगा। यह सब तो ठीक है, किन्तु मैं लज्जा के कारण अब उन्हें मुँह दिखाने मे असमर्थ हूँ।—इस कथांश से और यौगन्धरायण के दूसरे वक्तव्य से कि मैंने वत्सराज को ऐसा कार्यारम्भ कराया कि उससे सकल जगत्स्वामित्व भी उसे प्राप्त हुआ'—यह अपने गुण का बखान होने से विचलन हुआ।

आदान कार्यसंग्रह. ।

यथा वेणीसंहारे—'*भीम—ननु भो समन्तपञ्चकसंचारिण !*

रक्षो नाहं न भूतं रिपुरुधिरजलाप्लाविताङ्ग प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहन क्रोधन क्षत्रियोऽस्मि !
भो भो राजन्यवीरा समरशिखिशिखादग्धशेषा कृतं व-
स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥६ ३७

इत्यनेन समस्तरिपुवधकार्यस्य गृहीतत्वादादानम्।

यथा च रत्नावल्याम्—सागरिका—(दिशोऽवलोक्य) दिट्ठिआ समन्तादो पज्जलिदो भअव हुअवहो अज्ज करिस्सदि दुक्खावसाणम्।' ('दिष्ट्या समन्तात् प्रज्वलितो भगवान् हुतवहोऽद्य करिष्यति दु खावसानम्'।) इत्यनेना*न्यपरेणापि दु खावसानेन कार्यस्य संग्रहादादानम्। यथा च*—'जगत्स्वामित्वलाभ प्रभो' इति दर्शितमेवम्। इत्येतानि त्रयोदशाङ्गानि। तत्रैतेषामपवाद शक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानि प्रधानानीति।

आदान सहकारी कार्यों की गणना है।

उदाहरण—'वेणीसंहार मे भीम—अरे पूरे पञ्चक प्रदेश मे विचरण करने वालो—

मैं राक्षस नही हूँ, न भूत हूँ। शत्रु के रक्त रूपी जल से नहाये हुए अगो वाला मैं क्षत्रिय हूँ, जिसने प्रतिज्ञा रूपी गम्भीर महासागर को पार कर लिया है। समराग्नि की लपट मे जलने से बचे हुए राजाओ, आप लोगो का डरना व्यर्थ है, जो आप लोग मरे हुए हाथी और घोडों के बीच आड लेकर बैठे है।' इस कथांश मे भी शत्रुओं के मारे जाने के कार्यों का परिगणन होने से यह आदान है।

'रत्नावली मे—सागरिका—(दिशाओं की ओर देखकर), भगवान् अग्निदेव मेरे सौभाग्य से प्रज्वलित है। वे आज मेरे दु खो का अन्त करेंगे।' इससे और अन्य वाक्यों के द्वारा भी दु खावसान के द्वारा कार्य का परिगणन होने से आदान है। जैसे स्वामी का जगत्स्वामित्व का लाभ' यह पहले ही बताया जा चुका है।

धनञ्जय के अनुसार आदान मे कार्य (फल) का संग्रह (चर्चा) होता है। भरत के अनुसार बीज के फल की प्राप्ति आदान मे होती है।[1]

भरत निर्दिष्ट अवमर्श संधि के कतिपय संध्यंग दशरूपक के इस प्रकरण मे नही मिलते। यथा—खेद, निषेधन, व्यवहार तथा युक्ति। दशरूपक मे बताये हुए द्रव, और विचलन इस प्रकरण मे नाट्यशास्त्र मे नही हैं।

इनमे से भरत के अनुसार खेद मानसिक श्रम के कारण उत्पन्न थकावट है। अभीष्ट वस्तु के प्रति अनिच्छा निषेध है, प्रत्यक्ष वचन व्यवहार है और बीच-बीच मे रुक कर मन्तव्य प्रकट करना युक्ति है।[2]

धनञ्जय ने अवमर्श संधि के अंगों को भरत के नाट्यशास्त्र मे निर्दिष्ट क्रम के अनुसार नही रखा है, यद्यपि वे प्रथम तीन सन्धियो के अंगो को भरत के बताये क्रम के अनुसार गिनाते हैं। वे केवल १३ अंग अवमर्श मे बताते हैं, जहाँ भरत ने १५ अंग गिनाये हैं। धनंजय ने अवमर्श मे भरत के चार संध्यंगों को छोड़कर दो नये संध्यंगो को रखा है। पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों ने भी सन्ध्यंग-क्रम को पूर्वोक्त भरत के क्रम के अनुसार नही रखा है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नाट्य शास्त्रीय बहुविध धाराओं मे तत्कालीन और परवर्ती आचार्यों को अवगाहन करने का अवसर था।

अवमर्श संधि के ये १३ अङ्ग हैं। इनमे अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान प्रधान हैं।

निर्वहण-सन्धिः

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥४८
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।

यथा वेणीसंहारे—'कञ्चुकी—(उपसृत्य सहर्षम्) महाराज! वर्धसे वर्धसे, अयं खलु कुमारभीमसेन सुयोधनक्षतजारुणीकृतसकलशरीरो दुर्लक्ष्यव्यक्ति इत्यादिना द्रौपदीकेशसंयमनादीना मुखसंध्यादिबीजाना निजनिजस्थानोपक्षिप्तानामेकार्थतया योजनम्।

यथा च रत्नावल्यां सागरिकारत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थाना मुखसंध्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजैककार्यार्थित्वम्। 'वसुभूति—(सागरिकां निर्वर्ण्य अपवार्य) बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या। इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसन्धि।

---

1. 'कार्यस्य समापनामादानम्' यह अभिनवगुप्त की व्याख्या है।
2. सागर नन्दी, रामचन्द्र और विश्वनाथ खेद को अवमर्शाङ्ग मे स्वीकार करते हैं। सागर नन्दी और विश्वनाथ निरोध को स्वीकार करते हैं।

४८ जिस कथांश मे बिखरे हुए यथास्थान मुखसन्धि आदि मे कहे हुए बीजानुवर्ती अर्थ (घटना सम्बन्धी वक्तव्य) प्रधान अर्थ से जोड दिये जाते हैं, वह निर्वहण है। यह पूरे रूपक के वक्तव्यों का फलात्मक उपसहार है।

उदाहरण—वेणीसहार मे कञ्चुकी—(निकट पहुँच कर हर्षपूर्वक) 'महाराज ये कुमार भीम दुर्योधन के रक्त से लथपथ लाल शरीर वाले, कठिनाई से पहचान मे आने वाले इत्यादि अपने अपने स्थान पर सूचित कथन से द्रौपदी के केश सँवारने आदि की मुखसन्धि आदि की बीजानुवर्ती बातो को प्रधान अर्थ का अङ्ग सा बताकर जोडा गया है।

रत्नावली में सागरिका, रत्नावली, वसुभूति, बाभ्रव्य आदि से सम्बद्ध और मुखसन्धि आदि चारो सन्धियो मे बिखरे हुए अर्थो (घटनात्मक वक्तव्यो) का वत्सराज के एककार्यार्थ (प्रधान प्रयोजन सागरिका की प्राप्ति) का अग बना दिया गया है। वसुभूति सागरिका को देखकर और अपवार्य विधि से) अरे बाभ्रव्य, यह राजपुत्री (रत्नावली) के सर्वथा समान है। इत्यादि कथाश से निर्वहण सन्धि बताई गई है।

नान्दी टीका

भरत ने निर्वहण सन्धि की परिभाषा दी है—

समानयमर्थाना मुखाद्याना सबीजिनाम्।
नानाभावोत्तराणा यद् भवेन्निर्वहण तु तत् ॥१९४३

अर्थात् निर्वहण सन्धि मे पहले की चार सन्धियो की घटनाओ को फलशालिनी अन्तिम घटना से सूचित कर देते हैं। पूर्वोक्त कथाशो मे बीजात्मक सुख-दु खमय नाना भाव आते हैं, उन सबको भी फलशालिनी घटना मे निर्वहण सन्धि को कथा के माध्यम से सूचित कर देते हैं। समानयन=फलनिष्पत्ति मे नियोजन। भावोत्तर सुख, दु ख, हास, शोक आदि भावो से उत्कृष्ट बने हुए (अर्थ)।

इसमे फलयोग या फलागम नामक कार्यावस्था रहती है। वह कथाश फलयोग है, जिसमे अभीष्ट और योग्य फल मिले।

धनञ्जय की परिभाषा भरत के समान पडती है, किन्तु उन्होने 'भावोत्तराणा-मर्थानाम्' इस अश को छोड दिया है।

अथ तदङ्गानि

सधिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९
प्रसादानन्दसमया कृतिर्भाषोपगूहने।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५०

निर्वहण सन्धि के १४ अङ्ग हैं—सन्धि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषण, उपगूहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

सन्धिर्बीजोपगमनम्

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति —बाभ्रव्य ! सुसदृशीयं राजपुत्र्या। बाभ्रव्य —ममाप्येवमेव प्रतिभाति।' इत्यनेन नायिकानुराग-बीजोपगमात् संधिरिति।

यथा च वेणीसंहारे-'भीम भवति यज्ञवेदिसंभवे ! स्मरति भवती यत्तन्मयोक्तम्—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि
रुत्तंसयिष्यति कचास्तव देवि भीमः ॥

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य बीजस्य पुनरुपगमात् सन्धिरिति।

सन्धि बीज की चर्चा करना सन्धि है।

उदाहरण—'रत्नावली में—वसुभूति—हे बाभ्रव्य, यह तो सर्वदा राजपुत्री (रत्नावली) के समान है। बाभ्रव्य—मुझको भी ऐसा ही लग रहा है।' इस कथांश में नायिकानुराग विषयक बीज की पुनः जानकारी होने से सन्धि नामक अङ्ग है।

जैसे वेणीसंहार में—भीम—श्रीमति द्रौपदि, क्या आपको स्मरण है कि मैंने कहा था, हे देवि, फड़कती हुई बाँह से चलाई गई प्रचण्ड गदा के प्रहार से चूर्ण की हुई दोनों जाँघों वाले दुर्योधन के घन जमे हुए रक्त से सने लाल हाथों वाला भीम तुम्हारे केशपाश को सँवारेगा।

इस कथांश में मुखसन्धि में सूचित बीज को पुनः ग्रहण करने से सन्धि है।

नान्दी टीका

बीज में कही हुई बात को स्मरण कराना सन्धि है।

—विबोधः कार्यमार्गणम्।

यथा रत्नावल्याम्—'वसुभूति —(निरूप्य) देव कुत इयं कन्यका? राजा—देवी जानाति। वासवदत्ता—अज्जउत्त! एसा सागरादो पाविअत्ति भणिअ अमच्चजोगन्धराअणेण मम हत्थे णिहिदा। अदो ज्जेव सागरिअत्ति सद्दावीअदि। (आर्यपुत्र! एषा सागरात्प्राप्तेति भणित्वामात्ययौगन्धरायणेन मम हस्ते निहिता। अत एव सागरिकेति शब्दाप्यते।') राजा—(आत्मगतम्) यौगन्धरायणेन न्यस्ता। कथमसौ ममानिवेद्य करिष्यति।' इत्यनेन रत्नावली-लक्षणकार्यान्वेषणाद्विबोधः।

यथा च वेणीसंहारे—भीम —मुञ्चतु मुञ्चतु मामार्य क्षणमेकम्। युधिष्ठिर —किमपरमवशिष्टम्? भीम —सुमहदवशिष्टम्, संयमयामि तावदनेन दु शासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दु शासनावकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिर —गच्छतु भवान्। अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम्।' इत्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोध इति।

विबोध है मुख्य कार्य की ओर ध्यान जाना।

उदाहरण—रत्नावली में—वसुभूति—(देख कर) हे राजन्, कहाँ से यह कन्या आई? राजा—देवी महारानी जानती है। वासवदत्ता—आर्यपुत्र, 'यह सागर से मिली' यह कहकर अमात्य यौगन्धरायण ने मेरे संरक्षण में इसे रख दिया। अतएव इसे सागरिका पुकारते हैं। राजा—(आत्मगत) यौगन्धरायण ने रख दिया, वह मुझसे बिना बताये कैसे यह सब कर डालेगा?' इस कथांश से रत्नावली के पहचान जाने से कार्य (नायिका से समागम) की ओर राजा का ध्यान पुन हो गया।

'वेणीसंहार में भीम—छोड़े, छोड़ आर्य, मुझे क्षण भर के लिए। युधिष्ठिर—क्या करना शेष रह गया, भीम—बहुत रह गया? तब तक इस दु शासन के रक्त से रञ्जित अपने हाथ से दु शासन के द्वारा खींचे हुए द्रौपदी के केशपाश को सँवार आऊँ। युधिष्ठिर—आप जायें, द्रौपदी वेणीसंहार का अनुभव करें।' इस कथांश में केश संयमन कार्य की ओर ध्यान जाने से विबोध है।

नान्दी टीका

भरत के नाट्यशास्त्र में विबोध का नाम भूल से निरोध मिलता है।

ग्रथन तदुपक्षेपो –

यथा रत्नावल्याम्— यौगन्धरायण —देव! क्षम्यतां यद्देवस्यानिवेद्य मयैतत्कृतम्।' इत्यनेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम —पाञ्चालि! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दु शासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना। तिष्ठतु स्वयमेवाहं संहरामि।' इत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

ग्रथन है कार्य की सूचना देना।

उदाहरण—'रत्नावली में यौगन्धरायण—क्षमा करें, आप को बिना बताये मेरे द्वारा यह किया गया।' इस कथांश से वत्सराज का रत्नावली की प्राप्ति-रूपी कार्य की सूचना होने से ग्रथन है 'वेणीसंहार में—भीम—द्रौपदि, मेरे जीते जी दु शासन के द्वारा विसंष्ठुल की हुई अपनी वेणी को मत सँवारना। रुको, मैं स्वयं सँवारूँगा। इस कथांश में द्रौपदी के केशपाश के सँवारने का काम बताने से ग्रथन है।

—अनुभूताख्या तु निर्णयः ॥ ५१

यथा रत्नावल्याम्—यौगन्धरायण.—(कृताञ्जलि.) देव श्रूयताम्, इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धेनादिष्टा यथा—योऽस्याः पाणि ग्रहीष्यति, स सार्वभौमो राजा भविष्यति। तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुश प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता, तदा लावणिके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्य प्रहित।' इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णय।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम — देव देव अजातशत्रो ! क्वाद्यापि दुर्योधनहतक ? मया हि तस्य दुरात्मन —

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषण्णा चतुरुदधिपय.सीमया सार्धमुर्व्या।
भृत्या मित्राणि योधा कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥ ६.३८

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान्निर्णय इति।

निर्णय है किसी घटना विषयक अपने अनुभव को बताना।

उदाहरण—'रत्नावली में यौगन्धरायण—(हाथ जोडकर) राजन्, सुनें। यह सिंहलेश्वर की कन्या है, जिसके विषय में सिद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि जो इससे पाणिग्रहण करेगा, वह सार्वभौम राजा होगा। उसमें विश्वास होने से हम लोगों के द्वारा स्वामी के लिए अनेक बार प्रार्थना करने पर भी सिंहलेश्वर के द्वारा देवी वासवदत्ता के मानसिक खेद का परिहार करते हुए जब वह नहीं दी गई तो लावाणक में देवी वासवदत्ता जल गई—यह समाचार प्रसिद्ध करके सिंहलेश्वर के पास बाभ्रव्य को भेज दिया गया।' इस कथांश में यौगन्धरायण अपनी अनुभूत घटना को बताता है—यह निर्णय है।

'वेणीसंहार में भीम—देव, देव, अजातशत्रो (युधिष्ठिर), अब कहाँ रहा अभागा दुर्योधन ? मेरे द्वारा उस दुरात्मा का शरीर भूमि पर पटक कर उसके चन्दन रूपी रक्त को अपने शरीर पर लगा लिया गया। उसकी लक्ष्मी को आर्य (युधिष्ठिर) में प्रतिष्ठित कर दिया गया, चार समुद्रों की सीमा वाली पृथ्वी के साथ इस युद्ध की अग्नि में उसके मित्र, योद्धा और सम्पूर्ण कुरुकुल जल मरा। हे राजन् अब तो केवल उस दुर्योधन का नाममात्र रह गया, जिसे आप कह रहे हैं।' इस कथांश में अपनी अनुभूत घटनाओं का वर्णन करने में निर्णय नामक अंग है।

५२. परिभाषा मिथो जल्पः —

यथा रत्नावल्याम्—"रत्नावली—(आत्मगतम्) कथावराहा देवीए ण

सवकुणोमि मुह दसिदुं (कृतापराधा देव्यै न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम्)। 'वासवदत्ता—(सास्रं पुनर्बाहू प्रसार्य) एहि अयि णिट्ठुरे! इदाणी पि बन्धुतिणेहं दसेहि। (अपवार्य) अज्जउत्त! लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिससत्तणेण। ता लहुं अवणेहि से बन्धणम्। (एहि अयि निष्ठुरे! इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय। आर्यपुत्र! लज्जे खल्वहमनेन नृशंसत्वेन। तल्लघ्वपनयास्या बन्धनम्।') राजा—यथाह देवी! (बन्धनमपनयति) वासवदत्ता—(वसुभूति निर्दिश्य)! अज्ज! 'अमच्चजोगन्धरायणेण दुज्जणीकदम्हि, जेण जाणन्तेणाचक्खिदम्!' ('आर्य! अमात्ययौगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि जानतापि येन नाख्यातम्।')" इत्यनेनान्योन्यवचनात् परिभाषणम्।

यथा च वेणीसंहारे—भीम —कृष्ट्वा येनासि राज्ञा सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन!' इत्यादिना 'क्वासौ भानुमती योपहसति पाण्डवदारान्।' इत्यन्तेन भाषणात् परिभाषणम्।

५२ परिभाषा पारस्परिक बातचीत है।

उदाहरण—'रत्नावली में—रत्नावली—(स्वगत) देवी के प्रति अपराध की हुई उन्हें मुँह नहीं दिखा सकती। वासवदत्ता—(आँसू भरकर और बाहु फैलाकर) आओ हे निष्ठुर, अब भी तो बन्धु स्नेह प्रकट करो। (अकेले से) आर्यपुत्र, मुझे इस नीचता से लज्जा उत्पन्न हो रही है। शीघ्र ही इसका बन्धन दूर करें। राजा—देवी जैसा कहती हैं। (बन्धन खोलने लगता है)। वासवदत्ता—(वसुभूति की ओर संकेत करते हुए) अमात्य यौगन्धरायण के द्वारा बुरी बनाई गई हूँ, जिसने जानते हुए भी बताया नहीं।' इस कथांश में एक दूसरे से बातचीत करने से परिभाषण है।

वेणीसंहार में—भीम—(द्रौपदी से) 'राजाओं की सभा में जिस नरपशु दुःशासन के द्वारा तुम घसीटी गईं' यहाँ से लेकर 'कहाँ है, वह भानुमती, जो पाण्डवपत्नियों को हँसती है।' यहाँ तक भाषण देने के कारण परिभाषण है।

नान्दी टीका

भरत के अनुसार परिभाषण है परिवाद, अर्थात् आत्म निन्दा। अभिनवगुप्त के अनुसार परिभाषण के संवादकर्ता एक दूसरे से अपने अपराधों का रहस्योद्घाटन करते हैं। परिभाषण का एक अर्थ निन्दा करना है, जिसे धनंजय और धनिक ग्रहण करने में असमर्थ रहे।

दशरूपक में मिथः जल्प को परिभाषण कहा गया है। परि=मिथः। भाषण=जल्प। इस प्रकार का परिभाषण तो रूपक में सर्वत्र होता है। अनवस्था दोष से यह परिभाषा चिन्त्य है।

—प्रसादः पर्युपासनम्।

यथा रत्नावल्याम्—'देव! क्षम्यताम्' इत्यादिना दर्शितम्।

यथा च वेणीसंहारे—'भीम —(द्रौपदीमुपसृत्य) देवि पाञ्चालराजतनये, दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेण ।' इत्यनेन द्रौपद्या भीमसेनेनाराधितत्वात् प्रसाद इति ?

प्रसाद है किसी की आराधना करना ।

उदाहरण 'रत्नावली मे—देव क्षमा करें ।' आदि कथांश मे प्रकट है। वेणीसंहार मे—भीम—(द्रौपदी के पास जाकर) हे देवि, द्रौपदि, शत्रुकुल का क्षय होने पर बधाई ।' इस कथांश मे भीम के द्वारा द्रौपदी की आराधना की गई है ।

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः —

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—यथाह देवी (रत्नावली गृह्णाति)'

यथा च वेणीसंहारे—द्रौपदी—णाध विसुमरिदह्मि एद वावारं। णाधस्स पसादेण पुणो सिक्खिस्सम् (केशान् बध्नाति) (नाथ ! विस्मृतास्म्येत व्यापारम् । नाथस्य प्रसादेन पुन शिक्षिष्ये ।') इत्याभ्यां प्रार्थितरत्नावलीप्राप्ति-केशसंयमनयोर्वत्सराजद्रौपदीभ्यां प्राप्तत्वादानन्द. ।

आनन्द है अभीष्टार्थ की प्राप्ति ।

उदाहरण— रत्नावली मे राजा—जैसा देवी कहती है । (वह रत्नावली का ग्रहण कर लेता है ।)

वेणीसंहार मे—द्रौपदी—नाथ, इस काम (वेणीसंहार) को भूल चुकी हूँ। आप की कृपा से फिर सीखूँगी (वह केशों को बाँधती है) ।' इन कथांशो मे अभीष्ट रत्नावली की प्राप्ति और केश का सँवारना वत्सराज और द्रौपदी के द्वारा प्राप्त होने से आनन्द नामक अङ्ग है ।

—समयो दु खनिर्गमः ॥ ५२

यथा रत्नावल्याम्—'वासवदत्ता—(रत्नावलीमालिङ्ग्य) समस्सस बहिणिए ।' ('समाश्वसिहि भगिनिके ।) इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दु खनिर्गमात् समय ।

यथा च वेणीसंहारे—'भगवन् ! कुतस्तस्य विजयादन्यत्, यस्य भगवान् पुराणपुरुष स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसंभूतमूर्तिं
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वापि न त्वा
भवति जगति दु खी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ।।' ६ ४३

इत्यनेन युधिष्ठिरदु खापगमं दर्शयति ।

समय है दुःख का दूर हो जाना।

उदाहरण—'रत्नावली मे वासवदत्ता (रत्नावली का आलिंगन करके)—बहिन, आश्वस्त हो, आश्वस्त हो।' इस कथांश से दोनों बहनों का परस्पर मिलने से दुःख का मिट जाना समय है।

'वेणीसंहार मे—युधिष्ठिर—भगवन्, विजय छोडकर उसे और क्या मिलेगी, जिसके लिए भगवान् पुराण पुरुष स्वयमेव नारायण मङ्गल कामना करते है ?

हे देव, गौरवशाली महदादि का क्षोभ उत्पन्न करने वाली (प्रकृति) से उत्पन्न विग्रह वाले गुणी, प्रजा के उदय और नाश के कारणभूत, अजन्मा, अमर और अचिन्त्य आप के चिन्तन मात्र से ही कोई ससार मे दुःखी नहीं रह जाता। फिर आप के साक्षात् दर्शन से अनुपलभ्य क्या रहा ?'

इस कथांश से युधिष्ठिर का दुःख मिटना प्रकट है।

समय—सम+अय। अमरकोश के अनुसार अय शुभावहो विधि अर्थात् अय सौभाग्य है। अतएव समय परम सौभाग्य है, दुःख का अत्यन्ताभाव।

५३. कृतिर्लब्धार्थशमनम्—

यथा रत्नावल्याम्—'राजा—को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते ? वासवदत्ता—अज्जउत्त ! दूरे से मादुउलं। ता तधा करेसु, जधा बन्धुअणं ण सुमरेदि।' (आर्यपुत्र ! दूरेऽस्या मातृकुलम्। तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति।') इत्यन्योन्यवचसा लब्धाया रत्नावल्या राज्ञ सुश्लिष्टये उपशमनात् कृतिरिति।

यथा च वेणीसंहारे—'कृष्ण —एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकि—' इत्यादिना 'अभिषेकमारब्धवन्तस्तिष्ठन्ति' इत्यन्तेन प्राप्तराज्यस्याभिषेकमङ्गले स्थिरीकरणं कृति।

५३ कृति है प्राप्त वस्तु का स्वाभाविक रूप से अङ्गीकरण या दृढीकरण।

उदाहरण—'रत्नावली मे राजा—'कौन देवी के अनुग्रह का समादर नहीं करता ?' वासवदत्ता—'आर्यपुत्र, इसका मातृकुल दूर है। तो आप ऐसा करें, जिससे यह अपने बन्धुजनों का स्मरण न करे।' इस परस्पर की बातचीत से प्राप्त हुई रत्नावली का वत्सराज से सविशेष मेलजोल बढाने के लिए जो उपशमन (शान्तिमय व्यवहार) से अङ्गीकरण है, वह कृति है।

वेणीसहार मे कृष्ण—'ये भगवान् व्यास, वाल्मीकि ...' इत्यादि से लेकर 'अभिषेक का समारम्भ करते हुए विराजमान हैं' यहाँ तक राज्य प्राप्ति का अभिषेक का मागलिक विधियों के द्वारा स्थिरीकरण (सारे वातावरण को सुषम कर देना) कृति है।

नान्दी टीका

अभिनव गुप्त के अनुसार क्रोध आदि का प्रशमन करना द्युति है। किसी वस्तु को प्राप्त करने में क्रोध, आवेश, सम्भ्रम आदि रहते हैं। इनको वस्तु की प्राप्ति होने पर दूर करना कृति है।

धनञ्जय की कृति भरत के अनुसार द्युति है। इसमें पाये हुए फल को शान्त वातावरण बनाकर सुप्रतिष्ठित होने की बात कही जाती है।

—मानाद्याप्तिश्च भाषणम्।

यथा रत्नावल्याम्—राजा—अत परमपि प्रियमस्ति ?

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतु प्रिया।
देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज्जिताः कोसलाः
किं नास्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ॥'

इत्यनेन कामार्थमानादि लाभाद् भाषणमिति।

मानादि प्राप्ति की चर्चा भाषण है। जिससे मानादि प्राप्त हों, उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन होता है।

उदाहरण—रत्नावली में—'राजा इससे बढ़कर भी क्या कुछ प्रिय हो सकता है ?— विक्रमबाहु (सिंहल नरेश) अपने समान हो गया, अर्थात् उससे श्वसुर का सम्बन्ध हो गया। पृथ्वी ललाम-भूता प्रिया सागरिका समुद्र-पर्यन्त भूमि की प्राप्ति का कारणभूत मुझे (पत्नी रूप में) मिली। देवी भी भगिनी से मिलाकर प्रसन्न कर ली गई। कोशल देश जीत लिया गया। हे श्रेष्ठ अमात्य, तुम्हारे होने पर फिर क्या नहीं रहा, जिसके लिए स्पृहा की जाय ?'

इस कथांश में कामार्थ मानादि का लाभ— (विषयक कृतज्ञता ज्ञापन) होने से भाषण है।

नान्दी टीका

भाषण नामक सन्ध्यंग में किसी को सम्मानित करने की जो चर्चा होती है, वही गर्भसन्धि के संग्रह नामक सन्ध्यंग में भी होती है। अभिनवगुप्त ने बताया है कि गर्भसन्धि में अंग वैकल्पिक होता है, किन्तु निर्वहण सन्धि में यह अवश्यभावी है।

कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ॥ ५३

कार्यदर्शनं पूर्वभावः। यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायण —एवं विज्ञाय भगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम्। वासवदत्ता—फुडं ज्जेव किं ण भणेसि ? पडिवाएहि से रअणमालं त्ति।' ('स्फुटमेव किं न भणसि ? प्रतिपादयास्मै रत्नमालामिति।') इत्यनेन 'वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्' इति

कायस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात् पूर्वभाव इति ।

अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनम्। यथा वेणीसंहारे— (नेपथ्ये) महासमरानलदग्ध शेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय ।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात् क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनममुना पार्थिवान्तःपुराणि ।
कृष्णायाः केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्ट्या बद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ॥ ६४२

युधिष्ठिर —'देवि ! एष ते मूर्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तल चारिणा सिद्धजनेन । इत्येतेनाद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति । लब्धार्थशमनात् कृतिरपि भवति ।

पूर्वभाव मे कार्य (क्या किया जाय) का परिचय मिलता है ।

उपगूहन मे अद्भुतवस्तु की प्राप्ति होती है ।

कार्यदर्शन पूर्वभाव है । उदाहरण— रत्नावली मे यौगन्धरायण—ऐसा जानकर अपनी भगिनी सागरिका के विषय मे अब क्या करना है ?—इस सम्बन्ध मे देवी सर्वेसर्वा हैं । वासवदत्ता—स्पष्ट ही क्यो नही कहते कि इनके (आर्यपुत्र वत्सराज के) गले मे रत्नमाला डाल दी जाय । इस कथन मे वत्सराज को रत्नावली दी जाय— यौगन्धरायण के इस अभिप्राय को वासवदत्ता के द्वारा जान लिया गया—यह पूर्व भाव है ।

नान्दी टीका

पूर्वभाव के स्थान पर नाट्यशास्त्र मे पूर्ववाक्य मिलता है । दशरूपक के अनुसार पूर्वभाव मे श्रोता अपने कर्तव्य का संकेत पाने की चर्चा करता है ।

भरत के पूर्ववाक्य के परिभाषानुसार इसमे पहले कही हुई बात का प्रत्यक्ष रूप सामने आता है । अर्थात् पहले जिस घटना की भविष्य-वाणी की गई थी वह घटित होकर सामने आ जाती है ।

परवर्ती नाट्याचार्यों मे से कतिपय पूर्ववाक्य और अन्य पूर्वभाव नाम को ग्रहण करते हैं ।

अद्भुत वस्तु की प्राप्ति उपगूहन है । उदाहरण— वेणीसंहार मे (नेपथ्य मे) महासमर की अग्नि से जलने पर भी बचे हुए राजाओ का कल्याण हो—

जिस (केशपाश) के खुले होने से राजाओं पर प्रहार करने वाले क्रोधान्ध पाण्डवो के द्वारा सभी दिशाओं में राजाओं के अन्तःपुर की रानियाँ प्रतिदिन खुले केशों वाली बनाई गई अर्थात् उन्हें वैधव्य का दुःख भोगना पड़ा, वही कृष्णा का

केशपाश क्रुद्ध यम के सखा के समान कौरवों के लिए धूमकेतु है। वह सौभाग्य से बँध गया है। अब प्रजा का संहार समाप्त हो और राजाओं का कुशल हो।

युधिष्ठिर—देवि, यह तुम्हारे केश का प्रसाधन आकाशचारी सिद्धों के द्वारा अभिनन्दित है।' इस कथन में अद्भुत अर्थ की प्राप्ति (सिद्धों के द्वारा अभिनन्दन) होने से उपगूहन है। यहाँ लब्धार्थ-शमन से धृति होती है।

नान्दी टीका

उपगूहन में अद्भुत-प्राप्ति पद में अद्भुत (अलौकिक) तो है ही। कतिपय आचार्यों का मत है कि दु:साध्य भी अद्भुत है।

५४. वराप्ति काव्यसंहार

यथा—'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।' इत्यनेन काव्यार्थसंहरणात् काव्यसंहार इति।

५४ काव्यसंहार में वर पाने का कथन होता है।

उदाहरण—'आपका और क्या महान् प्रिय करूँ। इस कथन से काव्यार्थ समाप्ति कर देने से काव्यसंहार होता है।

प्रशस्ति शुभशंसनम्।

यथा वेणीसंहारे—'प्रीतश्चेद्भवान् तदिदमेवमस्तु -

अकृपणमति काम जीव्याज्जनः पुरुषायुषं
भवतु भगवन् भक्तिर्द्वैतं विना पुरुषोत्तमे।
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततसुकृती भूयाद् भूपः प्रसाधितमण्डलः॥ ६४६

इति शुभशंसनात् प्रशस्ति। इत्येतानि चतुर्दशनिर्वहणाङ्गानि। एवं चतुःषष्ट्यङ्गसमन्विताः पञ्चसंधयः प्रतिपादिताः।

प्रशस्ति शुभशंसन है।

उदाहरण—वेणीसंहार में युधिष्ठिर कहते हैं—आप प्रसन्न हैं तो ऐसा हो।

मानव उदारमति रहकर पूर्ण जीवन जिये। पुरुषोत्तम (भगवान्) के प्रति अद्वैत भगवद्भक्ति हो। राजा भुवन को प्रभावित करने वाला, विद्वानों का प्रेमी, गुणों का विशेषज्ञ, सदा पुण्यशाली और राजमण्डल का शिरोमणि हो।' इसमें शुभ की चर्चा करने से कारण प्रशस्ति है। ये १४ अंग निर्वहण सन्धि के हैं। इस प्रकार ६४ अङ्गों से गुँथी हुई पाँच सन्धियाँ बताई गईं।

नान्दी टीका

काव्य-संहार और प्रशस्ति वस्तुतः सन्ध्यंग नहीं हैं, क्योंकि सन्ध्यंग होने के

लिए तत्सम्बन्धी कथांश का बीजफलानुवर्ती होना आवश्यक लक्षण है। काव्य सहार और प्रशस्ति मे ऐसा नही होता।

जैसा धनिक ने बताया है, पूर्वोक्त ६४ सन्ध्यगो मे से कुछ प्रधान और शेष अप्रधान है। इससे यह स्पष्ट है कि नाटककार प्रधान सन्ध्यगो को प्राथमिकता देते हैं। सभी सन्ध्यगो को किसी भी एक नाटक मे स्थान नहीं मिल पाता।

अभिनवगुप्त ने भरत की कारिकाओ के अनुसार स्पष्ट किया है कि किसी एक ही सधि मे कोई एक या अनेक सन्ध्यग एक या अनेक बार आ सकते हैं।

सन्ध्यगो का क्रम पूर्वोक्त रूपको मे अपनाना आवश्यक नही है। कोई भी सन्ध्यग किसी सधि मे किसी दूसरे सन्ध्यग के पश्चात् आ सकता है। किन्तु कतिपय सन्ध्यगो को तो जहाँ बताया गया है वही रहना चाहिए। यथा, उपक्षेप परिकर और परिन्यास मुखसधि के आरम्भ मे इसी क्रम मे रहेंगे ही।

सन्ध्यगो के बीच बीच मे सन्ध्यन्तर और लास्याङ्ग भी आते रहते है।

एक ही कथांश अनेक सन्ध्यगो का उदाहरण हो सकता है।

कतिपय सन्ध्यग जिस सन्धि के अन्तर्गत बताये गये है उनके अतिरिक्त दूसरी सधियो मे भी प्रयुक्त हो सकते है। उदाहरण के लिए युक्ति नामक सन्ध्यग मुखसन्धि म पचम है, किन्तु अर्थ के सम्प्रधारण के लिए इसे अन्य सन्धियो मे भी रखा जाता है।

पटप्रकार चाङ्गाना प्रयोजन मित्याह

उक्ताङ्गाना चतु षष्टि षोढा चैषा प्रयोजनम् ।।५४

पूर्वोक्त अङ्गों के छ प्रयोजन बताते है।

इन ६४ अङ्गो के छ प्रकार के प्रयोजन होते है।

कानि पुनस्तानि षट प्रयोजनानि ?

५५ इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्ति प्रकाशनम्।

राग प्रयोगस्याश्चर्य वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ।। ५५

विवक्षितार्थनिबन्धन गोप्यार्थगोपन प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयराग वृद्धिश्चमत्कारित्व च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गै षट्प्रयोजनानि सपाद्यन्त इति।

ये छ प्रयोजन क्या है ?

५५ (१) इष्ट अर्थ की रचना (२) गोप्यगुप्ति (३) प्रकाशन (४) प्रयोग का राग (५) आश्चर्य और (६) वृत्तान्त का अनुपक्षय।

ये क्रमश है (१) जो बात कहना चाहता है, उसका निबन्धन (२) जो बात छिपाना चाहता है, उसको प्रकट न होने देना। (३) जो बात प्रकाश मे लाना चाहता है, उसका प्रकाशन (४) अभिनयात्मक रमणीयता का सवर्धन (५) चमत्कारपरायणता और (६) काव्य के इतिवृत्त का विस्तार। इन तत्त्वो से छ प्रयोजन निर्मित किये जाते हैं।

नान्दी टीका

भरत और धनञ्जय दोनो ने सन्ध्यगों के छ प्रयोजन बताये है। भरत ने छ प्रयोजनो की व्याख्या की है। यथा

इष्ट प्राप्ति (इष्टार्थस्य रचना) मे अभीष्ट प्रयोजन की रसास्वादमयी विस्तारणा होती है। यह सभी सन्ध्यगों का प्रयोजन है। वृत्तान्तानुपक्षय का अभिप्राय है कथाशरीर को क्षीण न होने देना। सभी सन्ध्यगों का यह प्रयोजन है।

प्रयोग-रागप्राप्ति के अन्तर्गत ऐसे तत्त्व लाये जाते हैं, जिनसे उस कथाश की रमणीयता द्विगुणित हो। पर्युपासन, नर्म, नर्मद्युति आदि इसके उदाहरण हैं। गुह्यगूहन का उपयोग पुनरुक्ति से बचने के लिए होता है और गोपनीय कथाश प्रकट नही किये जाते।

आश्चर्यवदभिख्यान के द्वारा किसी पुरानी घिसी-पिटी कथा मे ऐसी बातें जोड दी जाती हैं कि उस कथा मे श्रोता को आश्चर्य का अनुभव होता है।

अर्थोपक्षेपक

पुनर्वस्तुविभागमाह—

> ५६ द्वेधा विभाग कर्तव्य सर्वस्यापीह वस्तुनः।
> सूच्यमेव भवेत किंचिद् दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥ ५६

वस्तु का विभाजन एक और प्रकार से बताते हैं।[1]

५६. सारी कथावस्तु के दो भाग करना चाहिए—(१) थोडा तो सूच्य मात्र होता है और (२) शेष दृश्य श्रव्य होता है।

नान्दी टीका

कतिपय विद्वान् श्रव्य को दृश्य से अलग मानते हैं। यह अनावश्यक और निराधार है।

कीदृक्सूच्यं कीदृग्दृश्यश्रव्यमित्याह—

> ५७. नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तर ।
> दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तर ॥ ५७

कैसा सूच्य है और कैसा दृश्य और श्रव्य है—यह बताते है—

---

[1] यह विभाजन अभिनयात्मक है। यह मूलत वस्तु का विभाजन नहीं, अपितु वस्तु विस्तर का विभाजन है। वही वस्तु का विभाजन वास्तविक है जो वस्तु की विभिन्नताओं पर आधारित हो।

५७. सूच्य में कथावस्तु का विस्तर नीरस और अनुचित होता है। दृश्य वस्तु विस्तर मधुर, उदात्त और सर्वत्र रस-भाव से निर्भर होता है।

नान्दी टीका

वस्तु इतिवृत्त है और वस्तु विस्तर से तात्पर्य है किसी घटना का वर्णन। नियमानुसार सूच्य मे वस्तु-विस्तर नीरस और अभिनय की दृष्टि मे अनुचित, अयोग्य या असम्भव होना चाहिए।

दृश्य को मधुर और उदात्त ही होना चाहिए—यह सर्वथा आवश्यक नही प्रतीत होता। अभिज्ञानशाकुन्तल मे पञ्चम अङ्क मे दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान न तो मधुर है और न उदात्त।

किसी रूपक मे क्या दृश्य हो और *क्या* सूच्य हो, यह आगे काव्य-बन्ध का निर्णय करते हुए अङ्क की परिभाषा मे स्पष्ट किया जायेगा।

सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह—

५८ अर्थोपक्षेपकै सूच्यं पञ्चभि. प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकै. ॥५८

सूच्य की निबन्धन विधि बताते हैं।

५८ सूच्य को पांच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा प्रतिपादित करना चाहिए। वे पाँच हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य और अङ्कावतार।

नान्दी टीका

सूच्य अर्थोपक्षेपक के द्वारा दिखाया जाय और दृश्य अङ्क मे दिखाया जाय—यह धनञ्जय का वक्तव्य अर्धसत्य है। आगे दशरूपक की १६३ की नान्दी टीका मे हम सोदाहरण स्पष्ट करेंगे कि सूच्य अङ्क भाग मे भी मिलता है और वह भी पर्याप्त मात्रा में। प्रवेशक और विष्कम्भकादि मे केवल सूच्य ही नही होता, दृश्य भी होता है। अभिज्ञानशाकुन्तल के छठें अङ्क के पूर्व प्रवेशक मे धीवर पर मार पड़ती है—यह दृश्य ही तो है।

यहाँ यह जान लेना उपयोगी होगा कि प्रवेशकादि मे ऐसी ही वस्तु दृश्य होगी, जो फलानुवर्ती न हो। फल से ऐसे दृश्य का साक्षात् सम्बन्ध नही होना चाहिए। अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क के पूर्व प्रवेशक मे ठोकर लगने से फूल भूमि पर बिखर जाते हैं—यह दृश्य परोक्ष रूप से ही फलानुवर्ती कथा का अंग है।[1]

तत्र विष्कम्भ —

५९. वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥५९

१. इस घटना से शकुन्तला का भावी अनिष्ट व्यङ्ग्य है।

६० एकानेककृत शुद्ध सङ्कीर्णो नीचमध्यमै ।

अतीतानां भाविनां च कथावयवानां ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।

स द्विविध शुद्ध सङ्कीर्णश्चेत्याह—

एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्यां शुद्धो भवति मध्यमाधमपात्रैर्युगपत्प्रयोजित सङ्कीर्ण इति ।

५९ विष्कम्भक—पहले ही घटित या भविष्य में होने वाले कथांश को बताने वाला और संक्षेप में अर्थ (कथा की घटनाओं से सम्बद्ध बातें) प्रकट करने वाला विष्कम्भक होता है । इसमें केवल मध्यम वर्ग के पात्र एक या अनेक हों तो शुद्ध विष्कम्भक होता है । यदि मध्यम और अधम दोनों वर्ग के पात्र साथ ही रहें तो वह सङ्कीर्ण कोटि का विष्कम्भक है ।

अतीत और भावी कथा के अवयवों का ज्ञापक और मध्यम कोटि के एक या दो पात्रों के द्वारा प्रयोजित विष्कम्भक होता है ।

नान्दी टीका

प्रवेशक और विष्कम्भक को वृत्त और वर्तिष्यमाण घटनाओं तक ही सीमित करना ठीक नहीं है । वर्तमान घटना के कथांश भी इनके द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं । यथा, उत्तररामचरित के छठें अङ्क के पूर्व मिश्र विष्कम्भक में विद्याधर उसी समय चल रही लड़ाई का वर्णन प्रस्तुत करता है ।

कारिका ५९ तथा ६० की अवलोक टीका में धनञ्जय की भ्रान्ति चिन्त्य है । पाठक ६०वीं कारिका के प्रथम चरण को ५९वीं कारिका के साथ पढ़ें तो विष्कम्भ का अभिप्राय ठीक समझ में आवेगा ।

अथ प्रवेशक —

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजित ॥६०

६१ प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्त शेषार्थस्योपसूचक ।

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते । अनुदात्तोक्त्या नीचेन नीचैर्वा पात्रै प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवाद । अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

प्रवेशक—उसके (विष्कम्भक के) समान अनुदात्त उक्तियों से निबद्ध प्रवेशक होता है । यह नीच पात्रों के द्वारा अभिनीत होता है । यह दो अङ्कों के बीच में रखा जाता है । यह उन दो अङ्कों में न कही हुई घटनाओं की सूचना देता है ।

तद्वत् से अभिप्राय है भूत-भविष्य की घटनाओं को प्रवेशक में विष्कम्भ की भाँति बनाया जाता है। अनुदात्त उक्ति से एक नीच या अनेक नीच पात्रों के द्वारा अभिनीत होने से विष्कम्भक के लक्षण का अपवाद होता है। दो अङ्कों के बीच में होना है—इससे प्रथम अङ्क के पूर्व इसका निषेध है।[१]

नान्दी टीका

इस प्रसङ्ग में 'प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्त' यह वक्तव्य विचारणीय है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रवेशक को दो अङ्कों के बीच में होना चाहिए, न कि किसी अङ्क का आरम्भिक भाग बनकर। आजकल मुद्रित रूपकों में प्रवेशक और विष्कम्भक को अङ्क के भागरूप में दिया जाता है। यह भूल है। रूपकों की बहुत हस्तलिखित प्रतियों में प्रवेशक या विष्कम्भक के समाप्त हो जाने पर अङ्क संख्या का निर्देश किया जाता है। यही रीति समीचीन है।

वास्तव में प्रवेशक और विष्कम्भक सर्वथा अलग अलग प्रकार के वस्तु विन्यास हैं और शास्त्र की दृष्टि से मुद्रित रूपकों में भी इन्हें अङ्क से अलग-थलग दिखाना चाहिए। धनिक ने भी अपनी टीका में 'प्रथमाङ्क प्रतिषेध' लिखकर इस भ्रान्ति की जड़ जमाई है। धनिक का यह वक्तव्य चिन्त्य है।

प्रवेशक और विष्कम्भक में संवाद द्वारा या अकेले ही जो व्यक्ति सूचना देते हैं, वे नीच और मध्यम आदि कोटि के होते हैं। दशरूपक में यह नहीं बताया गया कि उत्तम, मध्यम और नीच पुरुष और स्त्री कौन हैं। भरत ने इनके लक्षण बनाए हैं। यथा,

उत्तम—जितेन्द्रिय, ज्ञानी, शिल्पज्ञ, शास्त्रज्ञ, गम्भीर, उदार, स्थिर, त्यागी और गुणी।

मध्यम—लोकोपचार-चतुर, शिल्पशास्त्र विशारद, विज्ञानी और मधुर।

अधम—रूखा बोलने वाला, दुःशील, कुसत्त्व, स्थूल-बुद्धि, क्रोधी, घातक, मित्रहन्ता, छिद्रदर्शी, पिशुन, कृतघ्न, उद्धत, आलसी कलही, स्तैन, सूचक, पापी और परद्रव्यापहारी।

भरत के भी उपर्युक्त लाक्षणिक विशेषण कुछ उपयोगी नहीं हैं। उत्तम, मध्यम आदि पुरुषों की मर्यादा और पद की दृष्टि से निर्धारित होना चाहिए। तभी कुछ स्पष्टता आती। व्यावहारिक रूप में देखा जा सकता है कि जहाँ-कहीं प्रवेशक हैं, उनके पात्र इतने नीच नहीं हो हैं, जितना भरत ने बताया है। उदाहरण के लिए उत्तररामचरित के षष्ठ अङ्क के पूर्व मिश्र-विष्कम्भक में, विद्याधर-दम्पती का संवाद है। इन दोनों

१ किसी अङ्क के पहले एक या अनेक प्रवेशक और विष्कम्भक हो सकते हैं। अभिज्ञान-शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क के पूर्व तीन विष्कम्भक हैं।

मे कौन मध्यम है और कौन अधम—यह भरत के पूर्वोक्त विशेषणो के आधार पर नही निर्णीत हो सकता। मध्यम और अधम का अन्तर उनकी उक्ति के औदार्य से कही-कही स्पष्ट हो सकता है।

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥६१

नेपथ्यपात्रेणार्थसूचनं चूलिका। यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (ततः प्रविशति तपोधना)। इति नेपथ्यपात्रेण वासन्त्यात्रेयीसूचनाच्चूलिका।

यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः, प्रवर्त्यन्तां प्रवर्त्यन्तां मङ्गलानि—

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान् कौशिकमुनि
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्रमधुना।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधरः
शरण्यो लोकानां दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥' ४१

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवै रामेण परशुरामो जित इति सूचनाच्चूलिका।

चूलिका—जवनिका की दूसरी ओर स्थित पात्रों के द्वारा जो घटनात्मक सूचना दी जाती है वह चूलिका है।

नेपथ्यपात्र के द्वारा घटना का सूचना देना चूलिका है।

उदाहरण—'उत्तररामचरित मे द्वितीय अङ्क के आरम्भ म (नेपथ्य मे) तपोधना का स्वागत। (इसके पश्चात् तपोधना प्रवेश करती है)' इस कथाश मे नेपथ्य-पात्र वनदेवता के द्वारा आत्रेयी के आने की सूचना होने से चूलिका है।

वीरचरित मे चतुर्थ अङ्क के आदि मे—(नेपथ्य मे)' भो भो देवो, मंगल रसव करें—

कृशाश्व मुनि के शिष्य, भगवान् विश्वामित्र विजयी हो। सूर्यवंश म अब क्षात्रधर्म ससार मे विजयी हो। क्षत्रियो के सहारक (परशुराम) का जीतने वाले, ससार का अभयदान का व्रत धारण करने वाले, लोको को शरण देने वाले, सूर्यवश के चन्द्र (राम) विजयी हो।, इस कथाश म नेपथ्य के पात्र देवताओ के द्वारा 'राम ने परशुराम को परास्त किया' यह सूचना होने से चूलिका है।

नान्दी टीका

चूलिका की परिभाषा और इसके उदाहरण से धनिक और धनञ्जय ने भ्रमास्पद स्थिति उत्पन्न कर दी है। वास्तव मे चूलिका और नेपथ्योक्ति को सर्वथा एक दूसरे से भिन्न बनाना आवश्यक था, जो न भरत ने नाट्यशास्त्र मे किया और न परवर्ती

नाट्याचार्यों ने ही इनको पृथक्-पृथक् बताया। परिणाम यह हुआ कि इन दोनो की गुथी बन गई है।

चूलिका मूलत सूत, मागध और वन्दियो आदि की उक्ति है, जिनसे अङ्कान्त मे राजा या नायक को समय की गति-विधि का ज्ञान होता है। यह दो अङ्को को सुश्लिष्टतया जोड देने के उद्देश्य से प्रयुक्त होती है। कोहल ने बताया है—

त्रिधाङ्कोऽङ्कावतारेण चूड्याङ्कमुखेन वा।
अर्थोपक्षेपण चूडा बह्वर्थे सूत-वन्दिभि ॥

नेपथ्योक्ति का चूलिका से अन्तर नीचे स्पष्ट किया गया है[1]

नेपथ्योक्ति	चूलिका
(क) नेपथ्योक्ति के वक्ता राम और भीम जैसे नायक पुरुष हो सकते है। उत्तर रामचरित और वेणीसहार के तृतीय अङ्क मे राम और भीम की नेपथ्योक्ति प्रसिद्ध हैं।	चूलिका सूत, मागध, वन्दी या इनके सजातीय अनुत्तम और अनायक पुरुषों की उक्ति होती है।
(ख) नेपथ्योक्ति का वागभिनय प्रशस्त होता है।	चूलिका मे वागभिनय या किसी प्रकार के अन्य अभिनय का अभाव होता है।
(ग) प्रायश वर्त्तमानकालिक घटना के विषय मे उसका कर्त्ता भी नेपथ्योक्ति करता है।	भूतकालिक घटना के विषय मे प्राय घटक से व्यतिरिक्त पुरुष सूचना देते है।

६२ अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्य छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनम्।

अङ्कान्त एव पात्रमङ्कान्तपात्रम्। तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्यै सूचन तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति। यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—'(प्रविश्य) सुमन्त्र —भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवत सभार्गवानाह्वयत। इतरे—क्व भगवन्तौ ? सुमन्त्र —महाराजदशरथस्यान्तिके। इतरे—तदनुरोधात्तत्रैव गच्छाम' इत्यङ्कसमाप्तौ '(तत प्रविशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामा) इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनककथार्थविच्छेद उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति।

६२. अङ्कास्य—अङ्क के अन्त मे आने वाले पात्रो के द्वारा आगे आने वाले अक के आरम्भ की घटना की सूचना अङ्कास्य है।

अङ्क के अन्त म आया हुआ पात्र अङ्कान्त-पात्र है। उस पात्र के द्वारा छिन्न

---

१. विशेष विवरण के लिए दशरूपक तत्त्वदर्शनम् के पृष्ठ ६६-६८ द्रष्टव्य।

(अगले) अङ्क के मुख भाग की घटना की सूचना होती है। इस सूचना के द्वारा अगले अङ्क का अवतार होता है। पूर्व अङ्क के अन्त में सूचना अङ्कास्य अर्थात् अगले अंक का आस्य (मुख) है।

उदाहरण—महावीरचरित में द्वितीय अङ्क के अन्त में—(प्रवेश करके) सुमन्त्र—भगवत्स्वरूप वसिष्ठ तथा विश्वामित्र आप लोगों को परशुराम के साथ बुला रहे हैं।

अन्य लोग—वे दोनों महानुभाव कहाँ हैं?
सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास।
अन्य लोग—उनके आदेश से वहीं चल रहे हैं।

यहाँ अङ्क समाप्त होने पर अगले अङ्क में (तब रंगपीठ पर वसिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम हैं।) इस कथांश में पूर्व अङ्क के अन्त में आये पात्र सुमन्त्र के द्वारा शतानन्द और जनक की कथा का विच्छेद करके अगले अंक के आरम्भिक भाग की घटना की सूचना होने से अङ्कास्य है।

नान्दी टीका

अंक के अंत में अङ्कास्य हो सकता है, जिसके द्वारा अगले अङ्क के आरम्भिक भाग की कथावस्तु की सूचना दे देते हैं। इस परिभाषा को व्यावहारिकता में दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं। पहले तो यह कि अर्थोपक्षेपक होने के नाते इसे किसी अङ्क का भाग नहीं होना चाहिए और परिभाषा तथा उदाहरण को देखने से यह स्पष्ट है कि इसे अङ्क का भाग बताया गया है। अङ्क में तो सरस वस्तु-विस्तर मात्र होता है। अतएव अङ्कास्य अङ्कान्त में होने से नीरस वस्तु विस्तर नहीं रहा।

यहाँ धनिक की टीका भिन्न पाठ को लेकर की गयी है। इस पाठ में छिन्ना-ङ्कास्यार्थसूचनम् से अङ्कास्य से अङ्क का मुख अर्थ लिया गया है और व्याख्या की गई है। अङ्कास्य में अगले अंक के प्रारम्भ में आने वाले कथांश का संकेत होता है। धनिक की व्याख्या में जो पाठ समुदित है, वही ठीक है, क्योंकि वह समसामयिक है।

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ॥६३

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितः एव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्यः सोऽङ्कावतारः, यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते विदूषकः —तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्थभवदो दूदं विसज्जय। अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावयिस्सदि।' ('तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतकोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं विसर्जयतम्। अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थापयिष्यति!') इत्युपक्रमे मृदङ्ग-शब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्तपात्रसङ्क्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्यावतरणादङ्कावतार इति।

अङ्कावतार—अगला अङ्क पिछले अंक के अन्त के पात्र और कथावस्तु से अनुबद्ध हो तो अगले अंक का इस प्रकार अपृथक् रूप से आना अङ्कावतार है।

जहाँ अङ्कान्त के प्रविष्ट पात्र के द्वारा सूचना दी जाती है कि पूर्व अङ्क से अविच्छिन्न घटना को समन्वित करके अगला अंक आ रहा है और (पूर्वापर अङ्कों के बीच मे प्रवेशक विष्कम्भकादि नहीं है तो अगले अंक को अङ्कावतार कहते हैं। उदाहरण के लिए मालविकाग्निमित्र मे प्रथम अङ्क के अन्त में विदूषक—तो आप दोनो देवी के प्रेक्षागृह मे जाकर संगीत की सज्जा करके महाराज के पास दूत भेजें। अथवा मृदङ्ग-ध्वनि ही इन्हें उठा देगी।' यहाँ से लेकर मृदङ्गशब्द सुनने के पश्चात् सभी पात्र जो प्रथम अङ्क मे कार्यशील थे, वे निष्क्रान्त होकर द्वितीय अङ्क के आदि मे कार्यशील हैं। इस प्रकार प्रथम अङ्क के कथार्थ को न तोड़ते हुए द्वितीय अङ्क का अवतार अङ्कावतार है।

नान्दी टीका

अङ्कावतार के अर्थोपक्षेपक होने की बात असमंजस में डाल देती है। वस्तुतः इसमे किसी अर्थ (वृत्त या घटना) की सूचना होना ही नहीं। परिभाषा के अनुसार इसमे तो अङ्कान्त मे केवल यही बताया जाता है कि अगले अङ्क की कथा पिछले अङ्क की कथा के अनुक्रम मे है। कथा का क्रम टूटा नहीं है और पिछले अङ्क के अन्त के पात्र अगले अङ्क के आरम्भ मे आ जाते हैं।

वस्तुतः अङ्कास्य और अङ्कावतार अर्थोपक्षेपक नहीं हैं। ये केवल पूर्वोत्तर अङ्कों को सुश्लिष्ट विधि से जोड देने के उपक्रम मात्र हैं। कोहल ने स्पष्ट किया है कि पूर्वोत्तर अङ्कों का सुश्लिष्ट अनुक्रम अङ्कावतार, अंकमुख और चूलिका के द्वारा होता है।[1]

प्रवेशक और विष्कम्भक भी पूर्वोत्तर अङ्कों का संश्लेषण करते हैं और ऐसा करने के लिए उनके बीच की घटी कथा की सूचना दे देते हैं।

निष्कर्ष यह है कि

(क) प्रवेशक, विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य और अङ्कावतार—ये पाँचो ही जैसे तैसे पूर्वोत्तर अङ्कों का संश्लेषण करते हैं।

(ख) अर्थोपक्षेपण (अनभिनीत कथावस्तु की सूचना देने) के कारण प्रवेशक, विष्कम्भक और चूलिका मात्र अर्थोपक्षेपक हैं।[2]

(ग) चूलिका नेपथ्योक्ति से भिन्न तत्त्व है।

(घ) अंकास्य और अंकावतार अर्थोपक्षेपक नहीं है।

---

१ त्रिधाङ्कोऽङ्कावतारेण चूडयाङ्कमुखेन वा ।
अर्थोपक्षेपण चूडाबह्वर्थं सूत्रवन्दिभिः ॥
ना० शा० १८ १६ पर अभिनवभारती में उद्धृत।

२ चूलिका मे आवश्यक रूप से अर्थोपक्षेपण नहीं होता। कभी-कभी तो चूलिका मे केवल काल-वर्णनमात्र होता है। ऐसी चूलिका अर्थोपक्षेपक नहीं कही जा सकती।

६४ एभि. संसूचयेत् सूच्य दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।

इन (अर्थोपक्षेपकों) के द्वारा कथा के सूच्य भाग की सूचना देनी चाहिए। दृश्य भाग को अङ्कों के द्वारा प्रेक्षणीय बनाना चाहिए।

नान्दी टीका

सूच्य, दृश्य और श्रव्य का विवेचन दशरूपक में स्पष्ट नहीं है। इसे स्पष्ट करने के लिए लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर इनकी विशेषतायें अधोविद्य प्रदर्शित हैं।

रूपक की घटनायें प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से दो प्रकार की होती है—अनुकृत और अननुकृत। इनमें से अनुकृत प्रत्यक्ष होने के कारण दृश्य हैं। अनुकृत घटना के कर्त्ता की भूमिका में रंगपीठ पर भूतकालीन घटना का वर्तमान रूप अनुकरण के द्वारा पात्र प्रस्तुत करता है। इस अनुकरण या अभिनय के द्वारा प्रेक्षक को तथा रंगपीठ के उच्च-कोटिक पात्रों को भी उस घटना का ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए शकुन्तला का प्रस्थान स्पष्ट है। सूच्य नामक अननुकृत घटना के प्रस्तुतीकरण के दो स्थान होते हैं (१) अङ्क के पहले और (२) अङ्क के मध्य में। प्रथम कोटि का सूच्य अंक के आरम्भ होने के ठीक पूर्व विष्कम्भक और प्रवेशक के रूप में होता है। इसमें मध्यम और अधम पात्रों के संवाद के द्वारा घटना-विषयक चर्चा प्रेक्षकों के लिए प्रस्तुत कर दी जाती है। उस घटना के कर्त्ता की भूमिका में पात्र का आना आवश्यक नहीं है और घटना का अनुकरण तो होता ही नहीं। जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में दुर्वासा का शाप। द्वितीय कोटि में आने वाली चूलिका और आकाशवाणी हैं। ये दोनों आकस्मिक रूप से अंक के मध्य भाग में चलती हुई कथा के प्रसंग में किसी भूत या भावी घटना की सूचना मात्र प्रस्तुत कर देती हैं। इस सूचना का उपयोग प्रेक्षकों के लिए तो होता ही है, साथ ही रंग के पात्रों के लिए इसका तात्कालिक महत्त्व सविशेष होता है, जिससे चलती हुई घटना में महत्त्वपूर्ण मोड़ आ जाता है।

द्वितीय कोटि में अधिक महत्त्वपूर्ण है ऐसी घटनाओं की सूचना जो उस घटना के प्रत्यक्षदर्शी या दूतादि की वार्ता या पत्र के सन्देश से या किसी महत्त्वपूर्ण पात्र की एकोक्ति से प्रेक्षकों को तथा रंग के महत्त्वपूर्ण पात्रों का भी बताई जाती है। इसमें प्रत्यक्ष-दर्शी-दत्त सूचना का उदाहरण स्वप्नवासवदत्त के प्रथम अंक में ब्रह्मचारी द्वारा लावाणक दाह है अथवा रत्नावली के चतुर्थ अंक में विजयवर्मा द्वारा नायक को कोसल विजय की सूचना है। दूतादि के द्वारा प्रस्तुत सूचना का उदाहरण मुद्राराक्षस में चाणक्य और राक्षस को दिये हुए समाचार हैं कि शत्रु ने क्या क्या कर लिया है या करने वाला है। पत्र का उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अंक में दुष्यन्त के लिए शकुन्तला के द्वारा लिखी हुई चिट्ठी है कि हमें काम जला रहा है। एकोक्ति का सूचनात्मक उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तल के द्वितीय अंक के आरम्भ में विदूषक की उक्ति है कि दुष्यन्त शकुन्तला के प्रेम में निमग्न है।

उपर्युक्त द्वितीय कोटि के उदाहरणों से प्रतीत होगा कि जहाँ उनके श्रोता रग के पात्र हैं वहाँ उनकी प्रतिक्रिया प्रेक्षक के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है।

श्रव्य नामक अलग से वस्तु विभाग विलष है। दृश्य और सूच्य दोनों श्रव्य होते हैं। स्वय धनञ्जय ने अन्यत्र कही इसकी चर्चा नही की है और न उपयोगिता बनाई है। इसका स्थान कहाँ हो—वह भी धनञ्जय ने नही कहा है।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह—

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु विधेष्यते ॥ ६३

केन प्रकारेण त्रैध तदाह—

६४· सर्वेषा नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च।

तत्र—

सर्वश्राव्य प्रकाश स्यादश्राव्य स्वगत मतम् ॥ ६४

सर्वश्राव्य यद्वस्तु तत्प्रकाशमित्युच्यते। यत्तु सर्वस्याश्राव्य तत्स्वगत-मितिशब्दाभिधेयम्।

पुन वस्तु का विभाग बताते हैं—

नाट्यधर्म की दृष्टि से वस्तु और भी तीन प्रकार की होती है।

नान्दी टीका

नाट्यधर्म का अभिनय मे उपयोग होता है। कोई वस्तु जैसे दैनिक लोक व्यवहार में देखी जाती है, वैसे ही यदि रङ्गपीठ पर दिखाई जाय तो वह लोकधर्म है। जैसे कोई लता हो, उस पर पुष्प हो तो उन्हें चुनना लोकधर्म है, किन्तु बिना लता और पुष्प के ही यदि कोई पात्र रग पर पुष्पावचयन का अभिनय करता है तो यह नाट्यधर्म है, अर्थात् केवल अभिनय के ससार म ऐसा होता है।

नाट्य धर्म और लोकधर्म पूर्वोक्त आङ्गिक अभिनय के क्षेत्र मे ही नही होते, अपितु वाचिक अभिनय मे भी इनका प्रचुर प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए स्वगत-भाषण लें। पास ही वक्ता पात्र रगपीठ पर है, किन्तु वह प्रतिवक्ता का स्वगत-भाषण नही सुन रहा है, फिर भी दूरस्थ प्रेक्षक उसके स्वगत भाषण को सुनते हैं। यह सब नाट्यधर्म की महिमा है।

वे कौन से तीन प्रकार हैं—

६४ सभी पात्रों के सुनने योग्य, कुछ लोगो के सुनने योग्य और किसी के न सुनने योग्य।

सर्वश्राव्य को प्रकाशम् और अश्राव्य को स्वगत मानते हैं। जो (रग पर) सबके सुनने योग्य हो उसको प्रकाशम् ऐसा कहते हैं। जो किसी के सुनने के लिए नहीं हो उसे स्वगतम्—ऐसा नाम दिया गया है।

नान्दी टीका

स्वगत अश्राव्य है, अर्थात् यदि वक्ता पात्र के लिए प्रतिवक्ता का उत्तर नहीं अपेक्षित हो तो ऐसा वक्तव्य स्वगत है। इस प्रसङ्ग मे कतिपय ऐसी बातो की चर्चा आवश्यक है, जिनकी ओर धनञ्जय ही नहीं, भरत और अभिनवगुप्त का भी ध्यान नही गया। सबसे पहले एकोक्ति को लें। अंग्रेजी मे उसे Soliloquy कहते है। संस्कृत रूपकों म इसे स्वगत के अन्तर्गत रखते हैं। क्या ऐसा करना पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार ठीक है? अंग्रेजी में स्वगत को aside नाम देकर उस एकोक्ति से सर्वथा भिन्न रखा गया है।

स्वगत अश्राव्य है। अर्थात् कोई दूसरा भी पात्र उस रगपीठ पर होना ही चाहिए, जिसके लिए वक्ता का वक्तव्य अश्राव्य है। किन्तु रंग पर कोई दूसरा पात्र हो ही नहीं, और नायक अपनी मानसिक उधेड-बुन को तार स्वर से बोल रहा हो तो इसे एकोक्ति कहेंगे, स्वगत नहीं। स्वगत के लिए अन्य अपेक्षाओं के साथ रगपीठ पर वक्ता और प्रतिवक्ता दोनों की उपस्थिति आवश्यक है।

स्वगत को तीन विधियों से प्रस्तुत करते हैं— (१) प्रकाशम् से पूर्व (२) प्रकाशम् के पश्चात् और (३) बिना प्रकाशम् के ही स्वतन्त्र रूप से।

स्वगत प्रायुक्ति के रूप में होता है, एकोक्ति में प्रत्युक्ति का भाव नहीं है।[1]

नियतश्राव्यमाह—

६५. द्विधान्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम्।

अन्यत्तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन।

नियत-श्राव्य बताते हैं—

६५ यह जो दूसरा नाट्यधर्म है, वह दो प्रकार का है—जनान्त और अपवारित।

नियत श्राव्य दो प्रकार का होता है—जनान्तिक और अपवारित।

तत्र जनान्तिकमाह—

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥ ६५

अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्यात्तज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्।

यस्य न श्राव्यं तस्यान्तरा ऊर्ध्वसर्वाङ्गुलं वक्रानामिकं त्रिपताकालक्षणं करं कृत्वान्येन सह यन्मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति।

हाथ को त्रिपताक मुद्रा बनाकर उससे अन्य पात्रों का दुराव करके कथा-कथा के मध्य केवल दो पात्रों की परस्पर बातचीत जनान्तिक है। यह जनान्त अर्थात् दो व्यक्तियों के वैशिष्ट्य सान्निध्य में होती है।

---

1. एकोक्ति और स्वगत के विशेष विवेचन के लिये द्रष्टव्य दशरूपकम् दर्पण पृ० ७२-७३।

जिसको नहीं सुनना है, उसकी ओर त्रिपताक करमुद्रा—(सभी ऊपर उठाकर और अनामिका को मोड लेना) बना कर किसी दूसरे व्यक्ति से जो बात-का विषय है, वह जनान्तिक है।

अथापवारितम्—

रहस्य कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ॥ ६६

परावृत्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति।

अपवारित मे दूसरे पात्र की ओर मुडकर केवल उसी से रहस्य कहा जाता है।

मुडकर अन्य से रहस्य कहना अपवारित है।

नान्दी टीका

भरत के अनुसार अपवारित मे त्रिपताक-करमुद्रा के द्वारा अपवारण होना चाहिए। धनञ्जय ने ऐसा कुछ भी नही बताया है। वे अपवारित की प्रस्तुति के के लिए परावृत्य (मुडकर) मात्र निर्दिष्ट करते है।

जनान्तिक और अपवारित का अन्तर अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है, जिसके अनुसार जनान्तिक मे बात किसी एक पात्र से छिपाई जाती है। अपवारित मे बात बहुत से पात्रों से छिपाई जाती है।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह—

६७ किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।

श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम् ॥ ६७

नाट्यधर्म से सम्बद्ध होने के कारण आकाशभाषित बताते हैं।

अन्यपात्र के रगपीठ पर न होने पर 'क्या कहते हो' इत्यादि कहा जाता है। बिना कहा हुआ भी मानो सुन कर अकेले ही पात्र रगपीठ पर उत्तर मे बोलता जाता है—यह आकाशभाषित है।

नान्दी टीका

आकाशभाषित वस्तुत कल्पित पात्र से कल्पित बातचीत है।

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि। तेषाम-भारतीयत्वान्नाममात्र-प्रसिद्धाना केषाचिद्देशभाषात्मकत्वान्नाट्यधर्मत्वाभावा-ल्लक्षणं नोक्तमित्युपसंहरति—

अन्य भी नाट्यधर्म प्रथमकल्प आदि कतिपय विद्वानो के द्वारा बताये जाते हैं। ये नाट्यधर्म भरत के नाट्यशास्त्र मे नही मिलते, केवल नाममात्र उनका सुना जाता है। वे केवल देशभाषाओ मे प्रयुक्त होते है और उनमे नाट्यधर्म का अभाव है। अतएव उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गई है।

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ॥६८

वस्तुविभेदजातम्—वस्तु=वर्णनीयं तस्य विभेदजातं नाम भेदाः । रामायणादि बृहत्कथा च गुणाढ्यनिर्मिता विभाव्य आलोच्य । तदनु= एतदुत्तरम् । नेत्रिति—नेता वक्ष्यमाणलक्षण, रसाश्च तेषामानुगुण्याच्चित्राम्= विचित्रां, कथाम्—आख्यायिकाम् । चारूणि यानि वचांसि प्रपञ्चैर्विस्तरै-रासूत्रयेदनुप्रन्थयेत् ।

तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्—

चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो नृपः ॥
योगानन्दयशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः ।
चन्द्रगुप्तः कृतो राज्ये चाणक्येन महौजसा ॥

इति बृहत्कथायां सूचितम्, श्रीरामायणोक्तं वीरचरितादि । आदिपदात् भारतादुद्धृतम् शकुन्तलादि यथाभिज्ञानशाकुन्तलादि ज्ञेयम् ।

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपकावलोके प्रथमः प्रकाशः

अथ द्वितीयः प्रकाशः

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेद. प्रतिपाद्यते[1]—

१. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष. प्रियंवद. ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥ १

२. बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक. ॥ २

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतो यथा वीरचरिते—

यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे विद्यातपोव्रतनिधौ तपता वरिष्ठे ।
दैवा त्कृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥४ २१

मधुर'=प्रियदर्शन । यथा तत्रैव—

राम राम नयनाभिरामताम्राशयस्य सदृशी समुद्वहन् ।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयक सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥२ ३७

त्यागी=सर्वस्वदायक यथा—

त्वचं कर्ण शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहन ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥

दक्षः—क्षिप्रकारी । यथा वीरचरिते—

स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनु ।
शुण्डार कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥ १ ५३

प्रियंवद'=प्रियभाषी । यथा तत्रैव—

उत्पत्तिर्जमदग्नित स भगवान् देव पिनाकी गुरु—
र्वीर्यं यत्तु न तद्गिरा पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभि ।

---

१ यह नायक भेद साधारणत अङ्गी नायको के लिए प्रयुक्त होना चाहिए, जो उत्तम प्रकृति के होते हैं। मध्यम और अधम प्रकृति के अङ्ग नायको पर यह नायक-भेद सर्वथा सामञ्जस्यपूर्ण नहीं है।

त्याग सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवत किं वा न लोकोत्तरम् ॥ २३६

रक्तलोक —यथा तत्रैव—

त्वय्यास्त्राता यस्तवाय तनूज—
स्तेनाद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात् ।
राजन्वन्तो रामभद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमा पूर्णकामाश्चराम ॥ ४४४

एवं शौचादिष्वप्युदाहार्यम् । तत्र शौच नाम मनोनैर्मल्यादिना कामाद्यनभिभूतत्वम् । यथा रघौ—

का त्व शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारण ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिना रघूणा मन परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ १६ ८

वाग्मी—यथा हनुमन्नाटके—

बाह्वोर्बल न विदित न च कार्मुकस्य
त्रैयम्बकस्य तनिमा तत एप दोष ।
तच्चापल परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥ १ ३८

रूढवशो यथानघराघवे

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्त्रसतानमल्ली
मालाम्लानस्तबकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्रा ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि
प्रत्यूषोऽय सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्द ॥ ३ २१

स्थिरो वाङ्मन क्रियाभिरचञ्चल । यथा वीरचरिते—

प्रायश्चित्त चरिष्यामि पूज्याना वो व्यतिक्रमात्
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥ ३ ८

यथा वा भर्तृहरिशतके—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।
विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ २६

युवा प्रसिद्ध । बुद्धिर्ज्ञानम् । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यथा मालविकाग्निमित्रे—

'यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत्तद्विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥' १ ५

रूपकों का परस्पर भेद समझाने के लिए कथावस्तु का भेद बताकर अब नायक-भेद बतलाते हैं—

१-२ नेता विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष प्रियभाषी, लोकप्रिय, पवित्र, वाग्मी, प्रसिद्ध वंशोत्पन्न, स्थिर, युवा, बुद्धि-उत्साह स्मृति प्रज्ञा कला और मान से समलङ्कृत, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्र को नेत्र बनाये हुए और धार्मिक होता है। १-२

नेता या नायक विनय आदि गुणों से सम्पन्न होता है ।

विनीत का उदाहरण महावीरचरित म—राम परशुराम से क्षमा याचना करते हैं—

ब्रह्मवादियों के द्वारा जिसके चरणों की वन्दना की जाती है, जिनका धन विद्या, तप और व्रत है, जो तपस्वियों मे श्रेष्ठ हैं, उन महात्मा आप के प्रति सयोग से मेरे द्वारा अविनय हुआ। इस विषय मे आप क्षमापूर्वक प्रसन्न हो। हे भगवन्, आप के समक्ष हाथ जोडता हूँ।

मधुर = प्रियदर्शन का उदाहरण महावीरचरित मे—

हे राम, अपने महानुभाव के अनुरूप नेत्रों के लिए रमणीयता धारण करते हुए, बुद्धि मे परे गुणों की रमणीयता वाले आप सर्वथा ही मेरे हृदय मे सर्वथा प्रतिष्ठित है।

त्यागी = सब कुछ दान कर देने वाला। उदाहरण—कर्ण ने त्वचा, शिवि ने मांस, जीमूतवाहन ने प्राण और दधीचि ने हड्डियाँ दे दी। महात्माओं के लिए कुछ भी अदेय नही।

दक्ष = क्षिप्रकारी स्फूर्तिशाली। उदाहरण महावीरचरित मे—राम का देवों के तेज स जाज्वल्यमान और त्रिपुर का विनाशक धनुष सामने प्रकट है। यह मानो चमकते हुए सहस्र वज्रों से निर्मित है। जिस प्रकार हस्तिशावक पर्वत पर अपनी सूँड रखता है वैसे ही वत्स राम ने धनुष पर अपनी बाँह रखी ही थी कि धनुष को खीची हुई प्रत्यञ्चा से गर्जना हुई और वह टूट गया।

प्रियंवद = प्रियभाषी। उदाहरण महावीरचरित से—आपका जन्म जमदग्नि मे हुआ है। प्रसिद्ध भगवान् देव पिनाकधारी शिव आपके गुरु हैं। आपकी वीरता वाणी का विषय नही है, पराक्रम से ही प्रकट है। आपके सात्विक त्याग की मर्यादा सात समुद्रों से सीमित पूरी पृथ्वी तक सुविदित है। आप सत्य, ब्रह्म और तप की निधि है। भगवत्स्वरूप आपका व्यक्तित्व किस दिशा मे लोकोत्तर नही है।

रक्तलोक = लोकप्रिय। उदाहरण—महावीरचरित मे भरत के मामा और भरत दशरथ से कहते हैं—

त्रयी (तीनो वेद) के रक्षक आपके ये पुत्र राम हैं। आप स्वामी हैं। आपकी कृपा से नियुक्त होने पर उनके द्वारा रंजित सभी लोक कल्याणयुक्त तथा पूर्ण काम हो।

इसी प्रकार शौचादि के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

शौच है मन की निर्मलता के द्वारा कामादि पर विजय। उदाहरण—रघुवंश में कुश अयोध्या की अधिष्ठातृदेवी से कहते हैं—

हे शुभे, आप कौन हैं? किसकी पत्नी आप हैं? मेरे पास आने का प्रयोजन क्या है? आप इन प्रश्नों का उत्तर यह समझकर दें कि रघुवंशियों का मन परस्त्री से विमुख प्रवृत्ति वाला होता है।

वाग्मी—व्याख्यान देने में निपुण। उदाहरण—हनुमन्नाटक में राम परशुराम से—मुझे अपना बाहुबल विदित नहीं था और न शिव के धनुष की क्षीणता ज्ञात थी। अतएव यह अपराध हो गया। हे परशुराम जी, आप मेरी चपलता क्षमा करें। बालकों की गड़बड़ियाँ महापुरुषों की प्रसन्नता के लिए होती हैं।

रूढ़वंश=प्रसिद्ध कुल का उदाहरण—अनर्घराघव में विश्वामित्र राम का परिचय जनक को देते हैं—जो राजपुत्र सूर्यवंश की क्षत्रिय परम्परा रूपी बेले की माला के खिले हुए गुच्छे के मधुप उत्पन्न हुए हैं, उनमें से सबसे बड़े राम ताड़का रूपी कालरात्रि के लिए प्रभात हैं और सुचरित का कथा रूपी कन्दली के प्रधान कन्द हैं।

स्थिर=वाणी, मन और क्रिया से धीर। उदाहरण परशुराम विश्वामित्र से महावीरचरित में कहते हैं—आप पूज्यजनों का उल्लंघन करने का प्रायश्चित्त मैं करूँगा, किन्तु शस्त्रग्रहण के महाव्रत को मैं दूषित नहीं करूँगा, अर्थात् छोड़ूँगा नहीं। भर्तृहरिशतक में

नीचे लोग तो विघ्न के भय से काम आरम्भ ही नहीं करते। मध्यम कोटि के लोग काम आरम्भ कर के विघ्नित होने पर रुक जाते हैं। उत्तम लोग विघ्नों से बार-बार मार खाने पर भी हाथ में लिए हुए काम को छोड़ते नहीं।

युवा प्रसिद्ध ही है। बुद्धि=ज्ञान। प्रज्ञा थोड़े भी प्राप्त किये हुए ज्ञान में चार चाँद लगा देती है प्रज्ञा का उदाहरण मालविकाग्निमित्र में—अभिनय के विषय में मेरे द्वारा उस (मालविका) को जो रस-विषयक उपदेश दिये जाते हैं, उन-उनको अपने विशेष चमत्कार के द्वारा बाला मानो मुझ ही पुनः सीखने के लिए प्रस्तुत कर देती है।

नान्दी टीका

१. द्वितीय प्रकाश में नायक विषयक चर्चा की गई है। संस्कृत नाटकों में नायक पद से तीन प्रकार के अभिप्राय व्यक्त किये जाते हैं। यथा

(क) नायक प्रधान या अङ्गी नायक है। जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त। यह नायक शब्द का अतिविशेष वचनात्मक प्रयोग है।

(ख) नायक प्रधान नायक, प्रतिनायक, नायिका, पताका नायक है। यह नायक शब्द का मध्यम-सामान्य-वचनात्मक प्रयोग है।

(ग) सभी कथापुरुष पूर्वोक्त के साथ ही अमात्य, कञ्चुकी, विदूषक, भृत्य, चेट चेटी इत्यादि। यह नायक शब्द का महासामान्य-वचनात्मक प्रयोग है।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने चार प्रकार के धीरोदात्तादि प्रधान नायक गिनाये हैं। यहाँ चार की सीमा बना देना वस्तुत: ठीक नहीं है। भाण और प्रहसन के नायकों को इन चार में से किसी कोटि में नहीं रखा जा सकता। प्रधान नायक अधम भी तो हो सकते हैं। अतएव नायक का अधम कोटिक एक और भेद मानना योग्य है। अभिनवगुप्त के अनुसार प्रहसन और भाण के नायक अधम कोटि के होते हैं। ये उत्तम और मध्यम कोटि के पूर्वोक्त चारों नायकों से भिन्न हैं।

नामक्रम से इनका लक्षण बताते हैं—

धीरललित निश्चिन्त, कलाओं में आसक्त, सुखी और कोमल होता है। ३

सचिव आदि के द्वारा (नायक का) योग क्षेम सिद्ध हो जाने के कारण वह (धीर ललित) चिन्तारहित होता है। अतएव वह गीतादि कलाओं में मन लगाता है और भोग विलास में प्रवृत्त होता है। शृङ्गारपरायण होने से वह कोमल जीवनवृत्ति वाला मृदु होता है।

उदाहरण—रत्नावली में राजा उदयन विदूषक से कहता है—राज्य के सभी शत्रु परास्त हो चुके हैं। सारा राज्यभार योग्य मन्त्रियों पर डाल दिया गया है। प्रजा उचित संरक्षण से प्रसन्न है और उनके सारे कष्ट दूर कर दिये गये हैं। प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता वसन्त ऋतु और तुम। ऐसी परिस्थिति में काम (मदन) यथेष्ट धृति (उत्सव) प्राप्त करे। मैं समझता हूँ कि मेरे लिए तो यह महान् उत्सव का समय है।

अथ शान्त —

४. सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिक्-सचिवादीनां प्रकरणनेतृणामुपलक्षणम्। विवक्षितं चैतत्। तेन नेतृसामान्यादिगुण-संभवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव, न लालित्यम्। यथा मालतीमाधव-मृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादि।

'नन उदयगिरेरिवैष एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान्।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु-
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः॥' मालतीमाधवे २ १०

इत्यादि। यथा वा—

'मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।

मम निधनदशाया वर्तमानस्य पापे—
एतदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्' ।। मृच्छकटिके १० १२

४. धीरशान्त—द्विजादि (नेता के पूर्वोक्त) सामान्य गुणों से युक्त होने पर धीरशान्त कहे जाते है।

विनय आदि नेता के सामान्य गुणो मे युक्त धीरशान्त द्विजादिक हैं। इस द्विजादिक मे विप्र, वणिक्, सचिव आदि प्रकरण कोटि के रूपक के नायक को भी लाक्षणिक रूप से समझा जाय। यही मन्तव्य (कारिकाकार का) है। इन विप्रादि मे (धीरललितोचित) निश्चिन्त्यादि गुण होने पर भी उनकी धीरशान्तता ही मानी जाती है, उनको धीरललित नही कहते।

उदाहरण के लिए मालतीमाधव मे धीरललित है—उदयगिरि से अद्वितीय कलावान्, समुदित गुणो की ज्योति से सुन्दर, इस लोक मे नेत्रधारियो के महोत्सव का कारण बालचन्द्र के समान माधव (नायक) प्रकट हुआ।

मृच्छकटिक मे—सैकडो यज्ञो के द्वारा पवित्र किया हुआ जो गोत्र यज्ञभूमि के गम्भीरब्रह्म (वेद) घोष से ब्रह्म-सभाओ में सर्वप्रथम समलङ्कृत होता था, वही मेरे मरने की घडी मे पापी और नीच मनुष्यो के द्वारा घोषणा का विषय बना है।

अथ धीरोदात्त :—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थन. ।। ४
५ स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रत. ।

महासत्त्व =शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्त सत्त्वः । अविकत्थन = अनात्मश्लाघनः। निगूढाहङ्कार =विनयच्छन्नावलेप. । दृढव्रत =अङ्गीकृतनिर्वाहक । धीरोदात्त यथा नागानन्दे—'जीमूतवाहनः—

शिरामुखै स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन् ।।५ ५

यथा च रामं प्रति—

'आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रम· ।।' हनुमन्नाटके ३·२५

यच्च केषाचित् स्थैर्यादीना सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे क्वचित्-संकीर्तनं तत्तेषा तत्राधिक्यप्रतिपादनार्थम्।

ननु च कथ जीमूतवाहनादिर्नागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते ? औदार्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्ति । तच्च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते। जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादित. । यथा नागानन्दे

तिष्ठन्भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
यत्संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः ।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरो-
रायासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः ॥' १७

इत्यनेन ।

'पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
वनं याम्यहमप्येष तथा जीमूतवाहनः ॥' १४

इत्यनेन च । अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च वीतरागवच्छान्तता । अन्यच्चात्रायुक्तं यत्तथाभूतं राज्यसुखादौ निरभिलाषं नायकमुपादायान्तरा तथाभूतमलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यच्चोक्तम्—सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्त' इति । तदपि पारिभाषिकत्वादवास्तवमित्यभेदकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्ध-युधिष्ठिर-जीमूतवाहनादिव्यवहाराः शान्ततामाविर्भावयन्ति ।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्तं सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्त्यमिति न तज्जीमूतवाहनादौ परिहीयते । न ह्येकरूपैव विजिगीषुता । यः केनापि शौर्यत्यागदयादिनायानतिशेते स विजिगीषुः, न यः पराक्रमेणार्थग्रहादिप्रवृत्तः । तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः । रामादेरपि जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन भूम्यादिलाभः । जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसम्पादनाद्विश्वमप्यतिशेत इत्युदात्ततमः । यच्चोक्तम्—'तिष्ठन्भाति' इत्यादिना विषयसुखपराङ्मुखतेति तत् सत्यम्—कार्पण्यहेतुषु स्वसुखतृष्णासु निरभिलाषा एव जिगीषवः । तदुक्तम् अभिज्ञानशाकुन्तले ।

'स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥' ५७

मलयवत्यनुरागोपवर्णनं त्वशान्तरसाश्रयं शान्तनायकतां प्रत्युत निषेधति । शान्तत्वं चानहङ्कृतत्वं, तच्च विप्रादेरौचित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विप्रादेः शान्तता न स्वपरिभाषामात्रेण । बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकामनिष्कामकरुणत्वादिधर्मत्वाद्भेदः । अतो जीमूतवाहनादेर्धीरोदात्तत्वमिति ।

४५ धीरोदात्त अपनी महत्त्वता से सविशेष शोभा पाने वाला, अतिशय गम्भीर, क्षमाशील, डींग न हाँकने वाला, स्थिर, अपने अहंकार को न प्रकट होने देने वाला और हाथ में लिये काम को प्राणपण से पूरा करने वाला होता है।

महासत्व=शोक, क्रोध आदि से जिसका अन्त सत्व क्षीण नहीं होता। अविकत्थन=अपनी प्रशंसा न करने वाला। निगूढाहंकार=जिसका स्वाभिमान विनय के कारण प्रकट नहीं होता। दृढव्रत=अङ्गीकृत कार्य का निर्वाह करने वाला।

धीरोदात्त—उदाहरण के लिए नागानन्द में जीमूतवाहन गरुड से कहता है—

हे गरुड, आप खाते खाते क्यों रुक गये? सिराओं से रक्त निकल रहा है। अब भी मेरे शरीर में मांस है। क्या आपकी भूख मिटी हुई मैं नहीं देखता हूं।

राम के विषय में—

अभिषेक के लिए आमन्त्रित और वन के लिए विसर्जित उस राम के मुख पर कोई परिवर्तन मेरे द्वारा नहीं देखा गया।

स्थिर आदि को धीरोदात्त का सामान्य गुण गिनाया गया है। फिर उस विशेष (धीरोदात्त) का लक्षण करने में क्यों पुनः गिनाया गया? इसका उत्तर है धीरोदात्तादि में स्थिरादि गुणों की अतिशयता बताना धनञ्जय का अभीष्ट है।

प्रश्न—नागानन्द में जीमूतवाहनादि को उदात्त क्यों कहते हैं? औदात्य तो वह व्यावहारिक वृत्ति है, जिसमें कर्ता सर्वोपरि बन जाय। वह (उदात्त होना) विजिगीषु होने पर ही सुसिद्ध होता है। जीमूतवाहन तो कवि के द्वारा ऐसा वर्णित है कि वह विजय का इच्छुक नहीं है। नागानन्द में वह अपने विषय में कहता है—भूतल पर पिता के सामने खड़े रहने पर जैसी शोभा है क्या वैसी शोभा सिंहासन पर बैठने पर है? जो सुख पिता के चरणों को दबाने में है क्या वह राज्यभोग में है? क्या तीनों लोकों को भोगने में वैसा सन्तोष है जो गुरुजनों का जूठन खाने में है? गुरुजनों को छोड़कर राज्यशासन करना भ्रान्ति मात्र है। क्या राज्य में कोई अच्छाई भी है? और भी—पैतृक परम्परा से प्राप्त ऐश्वर्य को छोड़कर माता पिता की सेवा करने के लिए मैं वन में जाऊँगा, जैसे जीमूतवाहन। यह सूत्रधार का कहना है।

अतः जीमूतवाहन के अत्यन्त शान्तिप्रधान होने के कारण और परम करुणामय होने से उसमें शान्तता है जैसी वैरागियों में होती है।

जीमूतवाहन को धीरोदात्त मानने में एक और कठिनाई है कि ऐसे नायक का राज्य सुखादि के प्रति विरक्त बनाकर फिर उन ही नायिका मलयवती का प्रेमी बनाया गया है। (ये सब प्रणयात्मक बातें धीरशान्त नायक के योग्य हैं न कि धीरोदात्त के लिए।)

प्रश्न करने वाले के इस तर्क के पक्ष में क्या कहा जा सकता है, उसे वह स्वयं प्रस्तुत करता है।

ऐसा प्रश्नकर्ता ने कहा है—यह जो धीरशान्त की परिभाषा है, वह सत्य वास्तविकता का बोध नहीं कराती। अर्थात् इस परिभाषा के बल पर यह नहीं कहा जा सकता कि जिस जिसमें ये सामान्य गुण पाये जायेंगे, केवल वे ही द्विजादि (विप्र,

अपनी उपलब्धियों के द्वारा सबसे अधिक ऊँचा हो। ऐसी उपलब्धियाँ केवल भौतिक दृष्टि से ही नहीं आँकी जानी चाहिए। भर्तृहरि के शब्दों में 'स्वार्थो यस्य परार्थ एव स नृणामग्रणी.' अर्थात् नेता या सबसे ऊँचा तो वही है, जो परोपकार को ही स्वार्थ समझता है। इस दृष्टि से देखने पर औदात्य की दृष्टि से जीमूतवाहन अनन्यतम है।

इसी प्रकार युधिष्ठिर और बुद्ध भी धीरोदात्त कोटि में आते हैं।

अथ धीरोद्धत.।

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ॥५

६. धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः।

दर्प =शौर्यादिमद.। मात्सर्यम् =असहनता। मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तु-प्रकाशनं माया। छद्म वञ्चनामात्रम्। चल.=अनवस्थित.। चण्ड.=रौद्र.। स्वगुणशंसी=विकत्थनो धीरोद्धतो भवति। यथा जामदग्न्यः—'कैलासोद्धार-सारत्रिभुवनविजय' इत्यादि महावीरचरिते २१६। यथा च रावणः—'त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहरणमहा बाहवो रावणस्य।' इत्यादि।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिन, वत्स-वृषभमहोक्षादिवन्न जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललितादिरस्ति। तदा हि महा-कविप्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात्। जातेरनपायित्वात्, तथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्य —

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥'

इत्यादिना रावणं प्रति धीरोदात्तत्वेन 'कैलासोद्धारसार—' इत्यादि-भिश्च रामादीन् प्रति प्रथमं धीरोद्धतत्वेन, पुन —'पुण्या ब्राह्मणजाति' इत्यादि-भिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णित, न चावस्थान्तराभिधानमनुचितम्। अङ्गभूत-नायकाना नायकान्तरापेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वात्। अङ्गिनस्तु रामादे-रेकप्रबन्धोपात्तान् प्रत्येकरूपत्वारम्भोपात्तावस्थातोऽवस्थान्तरोपादानमन्याय्यम्। यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मना वालिवधादमहासत्त्वतया वावस्था-परित्याग इति।

वक्ष्यमाणं च दक्षिणाद्यवस्थानाम् 'पूर्वा प्रत्यन्ययाहृतः' इति नित्य-सापेक्षत्वेनाविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधानमङ्गाङ्गिनोऽप्यविरुद्धम्।

धीरोद्धत नायक घमण्डी, असहिष्णु, माया और धोखाधड़ी का व्यवहार करने वाला, चञ्चल, और डींग मारने वाला होता है।

दर्प=शौर्य आदि का मद। मात्सर्य=असहिष्णुता। माया=मन्त्र के द्वारा

अविद्यमान वस्तु को प्रकट कर देना। छद्म = ठगना। चल = अस्थिर। चण्ड = रौद्र। विकत्थन = आत्मप्रशंसक धीरोद्धत होता है।

उदाहरण—परशुराम है—'कैलास को उखाड़ देने की शक्ति वाले और त्रिभुवन का विजय करने से महिमान्वित भुजाओं वाले रावण के रणमद की बात की बात में दूर करने वाले कार्तवीर्य की सहस्रों भुजाओं को काटपीट कर छिन्न-भिन्न कर देने वाले यह परशुराम इत्यादि। दूसरा उदाहरण रावण है—'त्रिलोक का ऐश्वर्य-लक्ष्मी का बलपूर्वक अपहरण करने में समर्थ बाहु हैं रावण की' इत्यादि।

धीरललितादि शब्द नायक की उन अवस्थाओं का प्रकट कर देते हैं, जिनमें तात्कालिक तत्सम्बन्धी विशिष्ट लक्षण नायक में आरोपित होते है। अर्थात् जब नायक निश्चिन्त कलासक्त, सुखी और मृदु अवस्था में हो तो उसे धीरललित कहेंगे।

वही नायक अपने कार्यों और अवस्थाओं के अनुरूप कभी धीरोदात्त, धीरप्रशान्त या धीरोद्धत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उपर्युक्त चार भेद केवल अवस्था भेद के कारण एक ही नायक के लिए वैसे ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे एक ही बैल का अवस्था-परिवर्तन के क्रम से कभी बछवा, फिर उसके बढ़ने पर वृषभ और पूर्ण वयस्क होने पर महोक्ष नाम देते हैं। धीरललितादि नाम जातिरूप नहीं है कि नायक किसी काव्य में यदि आरम्भ में धीरललित है तो अन्त तक धीरललित ही रहेगा। महाकवियों की रचनाओं में एक ही नायक परस्पर विरुद्ध कोटियों का देखा जा सकता है। यह सम्भव नहीं होता, यदि नायक का कोई एक ही अनपाय' (न परिवर्तन होने वाला) रूप होता। जाति अनपायी होती है, अर्थात् किसी को एक बार प्राप्त हो गई तो फिर बदलती नहीं। धीरललितादि विशेषण जातिगत नहीं हैं। उदाहरण के लिए भवभूति के द्वारा परशुराम का स्वरूप अनेकविध प्रस्तुत किया गया है। वे धीरोदात्त रूप में नीचे लिखे सन्दर्भ में वर्णित हैं—'ब्राह्मणों की हानि करने से अलग रहना आप लोगों के अभ्युदय के लिए है। अन्यथा आप लोगों का यह मित्र परशुराम खिन्नता का अनुभव करेगा।' इसमें रावण के प्रति परशुराम धीरोदात्त हैं। महावीरचरित में ही पूर्वोक्त कैलासोद्धारसार इत्यादि श्लोक में व रामादि के प्रति धीरोद्धत हैं। आगे चलकर इसी नाटक में 'पुण्या ब्राह्मणजातिः' इत्यादि श्लोक में धीरोद्धत बताये गये हैं। इस प्रकार नायक को धीरोदात्तादि अनेक अवस्थाओं में वर्णित करना अनुचित नहीं है। किन्तु यह अप्रधान नायक (कथापुरुषों) के लिए ही छूट है कि वे अनेक अवस्थाओं में वर्णित हों। वे प्रधान नायक के समान महासत्त्वादि उच्चकोटिक गुणों से शाश्वत रूप में समलङ्कृत नहीं होते। अङ्गी (प्रधान) नायक रामादि किसी काव्य में आद्यन्त एक ही प्रकार के रखे जाते हैं। उनकी कोटि *बदलना न्यायोचित नहीं है। जैसे राम* धीरोदात्त हैं तो छल पूर्वक उनका बालि को मारना अपने (धीरोदात्त) रूप का त्याग होने से अनुचित है, क्योंकि ऐसा करते समय वे धीरोद्धत कोटि में आ जाते हैं।

आगे चलकर नायक के दक्षिण आदि भेद अवस्थानुसार बनाये जायेंगे—पहिली नायिका के प्रति नायक दक्षिण होता है, जब किसी दूसरी नायिका के प्रति प्रणयासक्त होता है। इस प्रकार की अवस्था का परिवर्तन तो अङ्गी नायक और अङ्ग (अप्रधान) नायक सबके लिए ठीक ही है।

अथ शृङ्गारनेत्रवस्था.

स दक्षिणः शठो धृष्ट. पूर्वां प्रत्यन्यया हृत ॥६

नायकप्रकरणात्पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययापूर्वनायिकयापहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थ । तदेव पूर्वोक्ताना चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायक ।

शृंगारी नेता की अवस्थायें—

नायिका के प्रति वह दक्षिण, शठ, धृष्ट होता है, जब वह किसी दूसरी नायिका के प्रति आसक्त हो जाता है।६

पूर्वा का अर्थ पहले की नायिका लेना है, क्योंकि नायक का प्रकरण चल रहा है। ऐसी स्थिति मे पूर्वा विशेषण का विशेष्य प्रकरणानुरूप नायिका ग्रहण किया गया। अन्या का अर्थ दूसरी नायिका है। जब दूसरी नायिका के प्रति नायक का चित्त अनुरागी होता है तो उस नायक की तीन अवस्थायें और भी होती हैं। इस प्रकार नायक की चार अवस्थायें नायिका के सम्बन्ध मे हुई। धीरललितादि चारो भेदो मे से प्रत्येक की इन चार अवस्थाओ के होने पर सब मिलाकर सोलह अवस्थायें हो गईं।

७ दक्षिणोऽस्या सहृदय —

योऽस्या ज्येष्ठाया हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिण । यथा ममैव—
प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
रतिक्रीडा कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनय ।
सविश्रम्भ कश्चित् कथयति च किञ्चित्परिजनो
न चाह प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम् ॥'

यथा वा मालविकाग्निमित्रे
उचित प्रणयो वरं विहन्तुं बहव खण्डनहेतवो हि दृष्टा ।
उपचारविधिर्मनस्विनीना ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्य ॥'

७ दक्षिण नायक पहले की नायिका के प्रति सहृदय रहता है।

जो नायक ज्येष्ठ (पहले की) नायिका के प्रति सहृदय व्यवहार करता है, वह दक्षिण है। उदाहरण है धनिक का श्लोक—दिखाई देने पर नायक प्रसन्न हो जाते हैं, उनके साथ नई-नई प्रेम-निर्भर रति-क्रीडायें होती हैं। प्रतिदिन उनकी विनय अनुपम

है। फिर भी विश्वासी मित्र कहीं कुछ-कुछ (उनके अन्य नायिका से सम्बन्ध के विषय में) कहते हैं। मुझ उनकी बातों में विश्वास नहीं है। मुझे तो उनमें कोई विकार नहीं दिखाई देता।

मालविकाग्निमित्र में नायक विदूषक से कहता है इरावती को यह इच्छा कि उसके साथ प्रणयवश ही क्या जाय ठुकराई जा सकती है, इसको न मानने के अनेक कारण सोचे जा सकते हैं। मनस्विनी स्त्रियों के प्रति कृत्रिम प्रेमभाव-प्रदर्शन, यद्यपि वह पहले से अधिक हो क्यों न हो, सहृदयता से रहित होने पर स्पृहणीय नहीं रहता।

अथ शठः —

—गूढविप्रियकृच्छठ ।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद्विशेष । यथा अमरुशतके—

'शठाऽन्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्य नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।
तदेतत् क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वद्वहुवचो—
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥' १०८

शठ छिपे-छिपे (अन्य नायिका से प्रेम करते हुए) (पहले की नायिका के प्रति) अप्रिय करता है।

दक्षिण और शठ दोनों प्रकार के नायक नई नायिका के प्रति अपना मन आसक्त कर लेते हैं, और इस प्रकार पुरानी नायिका के प्रति अप्रिय करते हुए समान हो है, किन्तु दक्षिण नायक पहली नायिका के प्रति सहृदय होता है और शठ नायक को पहली नायिका का ध्यान नहीं रहता है। यही दोनों में अन्तर है। उदाहरण है अमरुशतक में— शठ नायक के प्रति उसकी पूर्व नायिका की सखी का उपालम्भ—पहली नायिका के साथ आश्लेष को प्रशिथिल कर लिया, जब नई नायिका के आते हुए उसकी काञ्ची व मणियों की रुनझुन तुमने सुनी। यह बात कहा कैसे कही जाय? यह नायिका तो तुम्हारी बातों में आकर बेहोश सी वैसे ही व्यवहार करती है, मानो घी और मधु रूपी तुम्हारी मीठी बातों में आकर वास्तविकता के प्रति सुन्न है।

अथ धृष्ट —

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टा—

यथामरुशतके—

'लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥ ६०

धृष्ट नायक के अङ्ग पर (अन्य नायिका के साथ प्रणय-व्यापार से उभरे हुए) विकार (चिह्न) होते हैं।

ललाट पर महावर के चिह्न हैं, दोनों ओर केयूर नामक आभूषण के चिह्न गले पर हैं, मुँह पर काजल की कालिमा है और आँखों पर पान की ललाई लगी है। प्रातःकाल ऐसा रूप बनाये हुए धृष्ट नायक को देखकर मृगाक्षी (पूर्व नायिका) की श्वासोच्छ्वास-प्रक्रिया ही बन्द हो गई।

भेदान्तरमाह

अनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥ ७

यथा —

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥'

किमवस्थः पुनरेषां वत्सराजादिर्नाटिकानायकः स्यात् ? इत्युच्यते— पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूलः, परतस्तु दक्षिणः। ननु च गूढविप्रियकारित्वाद्वयक्तरविप्रियत्वाच्च शाठ्यधाष्टर्येऽपि कस्मान्न भवतः, न तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तेर्ज्येष्ठां नायिकां प्रति सहृदयत्वाद्दक्षिणतैव, न चोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायकस्य स्नेहेन न भवितव्यमिति वाच्यम्, अविरोधात्।। महाकविप्रबन्धेषु च—

'स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु—
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥'भोज० ३०२

इत्यादावपक्षपातेन सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात्।

तथा च भरतः —

'मधुस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति।
अवमानितश्च नार्या विरज्यते स तु भवेज्ज्येष्ठः' ॥ना०शा० ३.५६

इत्यत्र 'न रागं याति न मदनस्य वशमेति' इत्यनेनासाधारण एकस्या स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति, अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्यमिति। षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाष्टाचत्वारिंशन्नायकभेदा भवन्ति।

अनुकूल नायक उसे कहते हैं जिसको एक ही नायिका होती है। उदाहरण है उत्तररामचरित मे—

सीता का वनवास का आदेश देने के पहले उसके चित्रदर्शन के पश्चात् सोते हुए विरहभावना के उद्वेग से बडबडाने पर राम उनका स्पर्श करते हुए कहते है—

सुख और दुःख की सभी अवस्थाओं मे हम दोनों (नायक और नायिका) का अद्वैत (एकत्व) बना रहा, जिसमें हृदय का सर्वथा विश्राम रहा, वृद्धावस्था में भी जिसमें रस कभी कम नहीं हुआ। समय की गति से एक दूसरे के प्रति आवरण के दूर हो जाने पर स्नेह-तत्त्व के परिपक्व हो जाने पर प्रमाढ़ैत बना रहा। उस भाग्यशाली मानव का कल्याण हो, जिसे ऐसा प्रमाद्वैत प्राप्त हुआ हो।

रत्नावली नाटिका के नायक को पूर्वोक्त चार भेदों मे से किसमें रखा जाय? उत्तर—पहले उनकी एक ही नायिका होने पर किसी दूसरी से प्रेम ही नहीं था। वे अनुकूल हैं। आगे चलकर वे दक्षिण नायक हो जाते हैं।

शंका—क्यों कर पहली नायिका के प्रति उनको गूढ विप्रियकारी होने से शठ और प्रत्यक्ष ही विप्रियकारी होने से धृष्ट नहीं कहा जाय?

उत्तर

ऐसा नहीं। पहली नायिका के प्रति ऐसा विप्रिय करते हुए भी वत्स राजादि नायक नाटिका की समाप्ति तक ज्येष्ठा नायिका से सहृदयता पूर्वक व्यवहार करने से दक्षिण ही है। ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों नायिकाओं के प्रति नायक का स्नेह नहीं हो सकता ऐसा कहना ठीक नहीं। ज्येष्ठा और कनिष्ठा दोनों के प्रति स्नेह में कोई विरोध नहीं पड़ता। महाकवियों के प्रबन्ध में भी ऐसा है—कंचुकी कहता — यह जानकर कि आज कुन्तलेश्वर का कन्या स्नातुस्नान कर चुकी है, और आज का दिन अगरान की बहन के लिए गणनानुसार है। कमला रानी ने जुए में आज की रात अपने लिए जीत रखी है, आज की रात महादेवी के साथ बिता कर उन्हें राजा का प्रेम न करता है, मैंने राजा को जब यह सब बताया तो राजा दो तीन घड़ी किंकर्तव्यविमूढ पड़े रहे। इसमें बताया गया है कि नायक का अनेक नायिकाओं के प्रति समान प्रेम है। भरत ने भी कहा है—ज्येष्ठ नायक मधुर, त्यागी और काम के वश में न आने वाला होता है। किसी नायिका से अपमानित होने पर वह विरक्त हो जाता है। इससे दक्षिण नायक का किसी एक मे ही स्नेह होना निषिद्ध है। अतएव वत्सराजादि का नाटिका की समाप्ति तक दाक्षिण्य ही है।

पूर्वोक्त सोलह प्रकार के नायकों की ज्येष्ठ, मध्यम, और अधम तीन कोटियाँ होने से ४८ भेद हुए।

सहायानाह—

८. पताकानायकस्त्वन्य. पीठमर्दो विचक्षण ।

तस्यैवानुचरो भक्त किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ॥ ८

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेष पताका। तन्नायक पीठमर्द प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहाय.। यथा मालतीमाधवे मकरन्द, रामायणे सुग्रीव ।

नायक के सहायक बताए जाते हैं—

८ पताकावृत्त का नायक पीठमर्द कहा जाता है। वह कार्यकुशल होता है। वह अपने नायक का सहचर और भक्त होता है और गुणों की दृष्टि से उससे कुछ न्यून पड़ता है।

पहले बता चुके हैं कि प्रासङ्गिक इतिवृत्त पताका है। उसका नायक पीठमर्द है, जो प्रधान इतिवृत्त के नायक का सहायक होता है। जैसे मालतीमाधव में मकरन्द और रामायण में सुग्रीव ।

सहायान्तरमाह—

९. एकविद्यो विटश्चान्यो, हास्यकृच्च विदूषक ।

गीतादिविद्याना नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विट । हास्यकारी विदूषक । अस्य विकृताकारवेषादित्व हास्यकारित्वेनैव लभ्यते। यथा शेखरको नागानन्दे विट विदूषक प्रसिद्ध एव।

नायक के दूसरे सहायक बताते हैं—

९ एक विद्या का ज्ञाता विट होता है। विदूषक हँसाने का काम करता है। विट और विदूषक ये दो सहायक हुए।

नायक के लिए उपयोगी गीतादि अनेक विद्याओं में किसी एक को जानने वाला विट होता है। हँसाने का काम विदूषक करता है। विदूषक के विकृत आकार और वेशादि से हँसी उत्पन्न होती है। नागानन्द में शेखरक विट है। विदूषक प्रसिद्ध ही है।

अथ प्रतिनायक —

लुब्धो धीरोद्धत स्तब्ध पापकृद् व्यसनी रिपु ॥९

तस्य नायकस्येत्थम्भूतः प्रतिपक्षनायको भवति। यथा रामयुधिष्ठिरयो रावणदुर्योधनौ।

प्रतिनायक रिपु (शत्रु) होता है लोभी, धीरोद्धत, स्तब्ध, पापी और व्यसनी।

नायक का ऐसा प्रतिपक्षी नायक (प्रतिनायक) होता है। राम और युधिष्ठिर के प्रतिनायक क्रमशः रावण और दुर्योधन हैं।

अथ सात्त्विका नायकगुणा —

शोभा विलासो माधुर्यगाम्भीर्य स्थैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः[1] पौरुषा गुणाः ॥ १०

नायक के सात्त्विक गुण

१०. शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, तेज, ललित, औदार्य—ये आठ पुरुषोचित गुण सात्त्विक हैं ।

नान्दी टीका

रूपकों में नायक के सात्त्विक गुणों का विशेष महत्त्व है, क्योंकि इनका अभिनय सात्त्विक अभिनय है और रस की निष्पत्ति की दिशा में सात्त्विक अभिनय का सर्वोपरि महत्त्व है । सात्त्विक अभिनय में चित्तवृत्तियों का प्रस्तुतीकरण होता है ।[2]

तत्र शोभा यथा—

११ नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते ।

नीचे घृणा यथा वीरचरिते—

'उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पित ।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति ॥' १.३७

गुणाधिके स्पर्धा यथा—

'एतां पश्य पुरःस्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः ।
इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते-
र्मन्दं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ॥

शौर्यशोभा यथा ममैव—

'अन्त्रैः स्वैरपि, संयताग्रचरणो मूर्च्छाविरामक्षणे
स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गमं वर्मयन् ।
भग्नानुद्वलयन् निजान् परभटान् सन्तर्जयन्निष्ठुरं
धन्यो धाम जयश्रिय पृथुरणस्तम्भे पताकायते ॥

दक्षशोभा यथा वीरचरिते—

'स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनु ।

---

१. 'सात्त्विकाः' के स्थान पर 'सत्त्वजा' पाठान्तर है ।

२. तत्र सात्त्विकाभिनये प्रकृतेः. चित्तवृत्तेरनुकरणं. पातैः प्रतनुते. ।. ना० शा० भाग. २, पृ० ४१८ गा० ओ० सी०

शुण्डार वलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक—
स्तस्मिन्नाहित एव गजितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ॥'१.५३

११. शोभा का लक्षण है नीच के प्रति घृणा, अपने से बढे चढे लोगों के प्रति स्पर्धा, शौर्य और दक्षता।

नीचे के प्रति घृणा महावीरचरित मे—

भयङ्कर रूप वाली ताडका के उत्पात का देख कर भी न कॉपने वाले राम जब उसे मारने के लिए नियुक्त हुए तो उसके स्त्री होने के कारण सोच-विचार मे पड गये।

अधिक गुण वालो के प्रति स्पर्धा।

यह सामने का भूभाग देखें—यहाँ क्रीडा के लिए किरात बने हुए शिव, अर्जुन के द्वारा धनुर्दण्ड से पूरे बलपूर्वक चूडा मे मारे गये। हिमालय पर अर्जुन की इस अद्भुत कथा को सुनकर उसके द्वारा अपनी दोनो भुजायें धीरे धीरे मण्डलाकार बना ली गईं।

शौर्य शोभा का उदाहरण।

घायल वीर की मूर्छा दूर होने के क्षण मे उसके पैर की अंगुलियाँ आंतो से फँस रहा थी, उसके अंग प्रत्यङ्ग घायल होने से शस्त्र से भरे थे, फिर भी रोमाञ्च होन से ऐसा लगता था कि उसने मानो कवच धारण कर रखा है। उसने भागते हुए अपने वीरो को उत्साहित किया और शत्रु वीरों को निष्ठुरता से डाँटा। जयलक्ष्मी का वह धाम रणस्तम्भ की पताका की भाँति सुशोभित था।

महावीरचरित मे दक्षशोभा का उदाहरण है—

राम के लिए देवो के तेज से जाज्वल्यमान और त्रिपुर का विनाशक धनुष सामने प्रत्यक्ष है। यह मानो चमकते हुए सहस्र वज्रो से निर्मित है। जिस प्रकार हस्ति-शावक पर्वत पर अपनी सूँड रखता है, वैसे ही वत्स राम ने धनुष पर अपनी बाँह रखी ही थी कि धनुष की खींचा हुई प्रत्यञ्चा मे गर्जना हुई और वह टूट गया।

अथ विलास —

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः ॥ १२

यथा उत्तररामचरिते।

'दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥६ १८

विलास का लक्षण है धैर्यशालिनी गति और दृष्टि तथा स्मितपूर्ण वाणी। १२

उदाहरण—कुश को देखकर राम कहते है—अपनी दृष्टि से तीनो लोको के

सत्वसार को इसने तृणवत् बना दिया है। धीरोद्धत गति से पृथ्वी को झुकाये-सा जा रहा है। कुमारावस्था में होने पर भी पर्वत की भांति गौरव धारण कर रहा है। यह मूर्तिमान् वीर रस है या दर्प है।

अथ माधुर्यम्—

१२ श्लक्ष्णो विकारो माधुर्यं सक्षोभे सुमहत्यपि।

महत्यपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम्। यथा हनुमन्नाटके—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम्।
मुहु पश्यञ्छृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणा परिवृढः।।' १ १८

१२. माधुर्य का लक्षण है महान् क्षोभ होने पर भी थोड़ा सा ही विकार प्रकट होना।

बड़े विकार का कारण होने पर भी मधुर विकार होना माधुर्य है। हनुमन्नाटक में उदाहरण है—हस्तिशावक का दन्तद्युति को धारण करने वाले जानकी के कपोल पर कामभाव के हास्य से युक्त और गण्डस्थल पर रोमाञ्चित अपने मुखकमल को छाया बारबार देखते हुए और राक्षसों की सेना का कल-कल निनाद सुनते हुए रघुवंशियों में श्रेष्ठ राम अपने जटाजूट की गाँठ को दृढता से बाँधने लगे।

अथ गाम्भीर्यम्—

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेण विकारो नोपलक्ष्यते ।। १२

मृदु विकारोपलम्भाद् विकारानुपलब्धिरन्येति माधुर्यादन्यद् गाम्भीर्यम् यथा।

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः।।'

गाम्भीर्य के प्रभाव से पूर्वोक्त विकार प्रकट ही नहीं हो पाता।

माधुर्य में थोड़ा थोड़ा विकार दिखाई देता है। गाम्भीर्य में विकार सर्वथा अदृश्य रहता है। यही दोनों का अन्तर है। उदाहरण—राम को अभिषेक के लिए बुलाया गया या उनको वन में जाने के लिए विसर्जित किया गया। (इन दोनों स्थितियों में) मुझे उनमें थोड़ा भी आकार-परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ा।

अथ स्थैर्यम्—

१३. व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि।

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्।। ३.८

१३ स्थैर्य—विघ्नों का समूह आने पर भी अपने पराक्रम पर डटे रहना है।

उदाहरण—महावीरचरित में परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं—आप पूज्य जनों का उल्लंघन करने का प्रायश्चित्त मैं करूंगा। किन्तु शस्त्र-ग्रहण के महाव्रत को मैं दूषित नहीं करूँगा।

अथ तेज —

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥ १३

यथा—

ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी।
अङ्गुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः ॥'

तेज है प्राण जाने का समय होने पर भी अपमानादि बातें न सहना ॥१३

उदाहरण—कहिए हम मनस्वी कौन कुम्हड़े के नये फल है, जो अँगुली दिखलाने मात्र से निष्प्राण हो जाते है ?

अथ ललितम्—

१४ शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः। तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम्। यथा ममैव—

'लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण।
किं वा ममैव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम् ॥'

१४ ललित है शृङ्गारित आकार और चेष्टायें जो स्वाभाविक और मृदु हों।

स्वाभाविक शृगार मृदु (कोमल) होता है। इस प्रकार की शृगारमयी चेष्टा ललित है। उदाहरण है धनिक की रचना—

नायक के लावण्य और मन्मथविलास का सवर्धन स्वाभाविक सुकुमार और मनोहर है। वह नायिका का उपदेशक बन चुका है। काम नायिका को विषम ताप पहुँचा रहा है। वह अपनी सखी से पूछती है कि इस उपदेशक प्रियतम को भी काम ने मेरे ही समान क्या विषम रूप से सन्तप्त कर रखा होगा ?

अथौदार्यम्—

प्रियोक्त्याजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥१४

प्रियवचनेन सहाजीवितावधेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च। यथा नागानन्दे—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत् किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ॥'

मदुपग्रहो यथा—

'एते वयममी दारा कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥' कुमार० ६ ६३

औदार्य है प्रिय बातों को कहते हुए जीवन दान भी दे देना और सज्जन को अपने पक्ष मे रखना । १४

प्रिय वचन के साथ जीवन रहने तक दान देना और सज्जनो को अपने पक्ष मे रखना औदार्य है । उदाहरण नागानन्द मे है—

सिराओ से रक्त अभी निकल रहा है । अब भी मेरे शरीर मे मास है । आपकी तृप्ति नही हुई है—यह मैं देख रहा हूं । फिर हे गरुड, आप खाते-खाते रुक क्यों गये ?

सदुपग्रह का उदाहरण है—ये हम लोग रहे । यह कुल की प्राणभूता कन्या है । कहे, आप लोगो का किससे कार्य है ? हम लोगों को बाह्य वस्तुओ के प्रति चिन्ता नही है ।

नायिका

१५. स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा ।

तद्गुणेति । यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति, स्वस्त्री, परस्त्री, साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा ।

१५ नायक के समान गुण वाली नायिका तीन प्रकार की होती हैं-स्वा (अपनी पत्नी), अन्या (प्रणयिनी नायिका, जिससे गान्धर्व विधि से प्रेम चल रहा है) और साधारण स्त्री (वेश्या, गणिकादि) ।

नायिका यथासम्भव नायक के समान गुणो वाली होती है । स्वस्त्री, परस्त्री और साधारण स्त्री—ये तीन विभाग नायिकाओ के हैं ।

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह—

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ॥ १५

शीलं=सुवृत्तम् । पतिव्रता, अकुटिला लज्जावती पुराचारनिपुणा स्वीया नायिका । तत्र शीलवती यथा—

'कुलवालिआए पेच्छह जोव्वणलाअण्णविब्भमविलासा ।
पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घरं एन्ते ॥'
('कुलबालिकायाः प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः ।
प्रवसन्तीव प्रोषिते आयान्तीव प्रिये गृहमायाते ॥')

आर्जवादियोगिनी यथा—

'हसिअं अविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलाससच्छाअम् ।
भणिअं सहावसरलं धण्णाण घरे कलत्ताणं ॥
('हसितमविकारमुग्धं भ्रमितं विरहितविलाससच्छायम् ।
भणितं स्वभावसरलं धन्यानां गृहे कलत्राणाम् ॥'

लज्जावती यथा—

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परचिन्ताणिप्पिवासाइं ।
अविणअदिम्मोहाइं धण्णाणं घरे कलत्ताइं ।।'
('लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परचिन्तानिष्पिपासानि ।
अविनयदिङ्मोहानि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥')

सा चैवंविधा स्वीया मुग्धा-मध्या-प्रगल्भा-भेदात्त्रिविधा ।

स्वीया नायिका के विभाग के साथ ही उसके सामान्य लक्षण बताते हैं—

*स्वीया तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। वह शील, ऋजुता (सरलता) आदि से युक्त होती है। १५

शील सदाचार है। इससे स्वीया नायिका का पतिव्रता कुटिलता-रहित लज्जावती और पुराचार (लोकयात्रा) में निपुण होना अभिप्रेत है।

शीलवती नायिका का उदाहरण है—श्रेष्ठ कुल की बालिका के यौवन, लावण्य, विभ्रम और विलास, प्रिय के प्रवास करने पर मानो प्रवास कर जाते हैं और प्रिय के आने पर पुनः लौट आते हैं।

आर्जवादि से युक्त नायिका—वड़भागी वे लोग हैं, जिनके घर में स्त्रियों का हँसना निर्विकार होते हुए भी मन को मोह लेता है, जिनका घूमना-फिरना विलास रहित होने पर भी शोभन है और बोलना स्वभावतः सरल है।

लज्जावती नायिका—जिनका पर्याप्त प्रसाधन लज्जामात्र है, जो दूसरों की चिन्ता के विषय में इच्छारहित हैं और अविनय के पथ पर जिन्हें दिशाभ्रम है, अर्थात् उसे जानती तक नहीं, ऐसी स्त्रियाँ जिनके घर में हों, वे धन्य हैं।

स्वीया नायिका उपर्युक्त प्रकार की होती है। स्वीया नायिकायें मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीन प्रकार की होती है।

१६. मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथा रमणे वामशीला मृदूपायप्रसादना मुग्धनायिका।

तत्र वयोमुग्धा यथा—

विस्तारी स्तनभार एष गमितो न स्वोचितामुन्नतिं
रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।

मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते ॥

यथा च ममैव—

उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम् ।
अपर्याप्तमुरो वृद्धेः शंसत्यस्याः स्तनद्वयम् ॥

काममुग्धा यथा—

'दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥

रतवामा यथा—

व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥' कुमार ८ २ •

मृदुः कोपे यथा—

प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
कितवचरितेनासज्याङ्के विनम्रमुखैव सा ।
चिबुकमलिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठे रुदत्यपि चुम्बिता ॥

एवमन्येऽपि लज्जासंवृतानुरागनिबन्धना मुग्धाव्यवहारा निबन्धनीया यथा—

'न मध्ये संस्कारं कुसुममपि बाला विषहते
न निःश्वासैः सुभ्रूर्जनयति तरङ्गव्यतिकरम् ।
नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्तुः प्रतिमुखं
प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्रं चलयति ॥

१६ मुग्धा नायिका की अवस्था और कामवृत्ति नूतन होती है । वह रति के प्रति अनिच्छुक रहती है और क्रोधी होने पर भी कोमल बनी रहती है ।

मुग्धा नायिका वह है जिसमें यौवन और काम प्रथम बार प्रकट हुए हैं । वह रमण में वाम होती है और सरलता से प्रसन्न की जा सकती है ।

वयोमुग्धा—स्तन कुछ बढ़ तो गए किन्तु वे पूर्ण ऊंचाई न प्राप्त कर सके । त्रिवली रेखामात्र से स्पष्ट हुई किन्तु उनका उतार चढ़ाव स्पष्ट न हुआ । उसके बीच में आधी लम्बी कुछ कुछ भूरी रोमावली भी बन गई । यौवन और शैशव के मिलन से मिश्रित वय, रमणीय होता है ।

गोलाई की सीमा रेखा बनाये हुए, कली रूप में बँधे हुए उस वयोमुग्धा नायिका के उरोजद्वय मानो उच्छ्वास लेते हुए कह रहे हैं कि हमारी पूरी वृद्धि के लिए छाती पर पर्याप्त अवकाश नहीं है।

काममुग्धा—दृष्टि अलसाई हुई है, शिशुओं की क्रीडा में कोई रुचि न रही। सखियों के सम्भोग विषयक वार्तालाप को जानने के लिए उधर कान लगाती है। पुरुषों की गोद में नि शंक भाव से बैठ जाने का प्रवृत्ति अब पहल जैसी नहीं रही। ऐसा करने वाली बाला धीरे धीरे नूतन यौवनावस्था के प्रभाव से सयत हो चली है।

रति मे वाम—पार्वती ने पूछने पर उत्तर नहीं दिया। वस्त्र पकड़े जाने पर भी चले जाने की इच्छा की, पराङ्मुख होकर सोई। यह सब शिव की प्रसन्नता के ही लिए हुआ।

कोप मे मृदु—बाला के लिए पहला अवसर है कि प्रियतम के अपराध करने पर उसे मन्यु (कोप) हुआ। वह विकार मानो नहीं प्रकट कर रही है, केवल मुख नीचे करके बैठी रो रही है। उसका धूर्त-चरित वाला नायक उसे अक में लेकर उसके चिबुक (ठोडी) और मस्तक को ऊँचा करके उसके अश्रुसिक्त होठ चूम लेता है। वह बाला किसी प्रकार प्रणयभाव प्रकट नहीं करती।

मुग्धा नायिका का लज्जा के कारण अप्रत्यक्ष अनुराग-निबन्धन (सयम) पूर्ण होता है। उसका व्यवहार इस प्रकार चित्रित किया जाय। जैसे

पात्र मे रखे आसव मे प्रतिबिम्बित प्रियतम के मुख की छाया को मुग्धा नायिका देख रही है और उसे देखते ही रहना चाहती है। उसको यह सह्य नहीं कि उस आसव पर पुष्प का सस्कार (शोभा या आस्वादवर्धक वस्तु डालना) हो। (क्योंकि ऐसा होने देने पर नायक के मुख की छाया आसव मे नहीं दिखाई देती।) इसी भय से सुभ्रू नायिका अपने नि.श्वास भी धीमा रखती है कि कहीं आसव मे लहर उठने से छाया विकृत न हो जाय। उस नवविवाहिता वधू को प्रियतम की छाया देखते हुए रोमाञ्च हो आया है। वह आसव न तो पीती है और न उसे हिलाती-डुलाती है। (ऐसा करने मे छाया-दर्शन असम्भव हो जाता।)

अथ मध्या—

मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तसुरतयोग्या मध्या।

तत्र यौवनवती यथा—

'आलापान् भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तियातं
नीवीग्रन्थि प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ् मध्यनिम्नो नितम्बः।
उत्पुष्यत्पार्श्वमूर्च्छत्कुचशिखरमुरो नूनमन्त स्मरेण
स्पृष्टा कोदण्डकोट्या हरिणशिशुदृशो दृश्यते यौवनश्री ॥'

कामवती यथा—

'स्मरनवनदीपूरेणोढा. पुनर्गुरुसेतुभि—
यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथा ।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालाकृष्टं पिबन्ति रसं प्रिया: ॥'

मध्या सम्भोगे यथा—

ताव च्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति ।
जाव ण कुवलयदलसच्छइं मउलेन्ति णअणाइं ॥गाथा० १ ५
('तावदेव रतिसमये महिलाना विभ्रमा विराजन्ते ।
यावन्न कुवलयदल-सच्छाये मुकुलयतो नयने ॥
एवं धीरायामधीराया धीराधीरायामप्युदाहार्यम् ।

मध्या नायिका का यौवन और काम पूर्ण विकसित हैं । वह रमण करते समय मूच्छित तक हो जाती है ।१६

मध्या को तरुणाई और काम पूर्णतः प्राप्त होते हैं । वह इस योग्य होती है कि रमण करते करते मूच्छित हो जाय ।

यौवनवती मध्या—अशरीर ही काम के द्वारा अपने धनुष की नोक से मृगछौने के समान नेत्रों वाली इस नायिका की यौवनश्री भीतर ही भीतर प्रभावित कर दी गई है । इसके भ्रूविलास उसकी वाणी को सयमित कर रहे हैं । अर्थात् वह भ्रूविलासों से ही काम लेती है, बातचीत की आवश्यकता उसके लिए कम हो रह गई है । उसके चलने मे बाहों का आगे पीछे होना शोभाशाली है । उसका नितम्ब मध्यभाग मे कुछ निम्न हो चुका है और उसकी वृद्धि के कारण नीवी की ग्रन्थि अधिक विस्तृत बनानी पड़ती है । उसकी छाती पर उच्छ्रित कुच के शिखर पार्श्व-भाग के विकास से समृद्ध है ।

कामवती मध्या—काम की नदी मे जो बाढ़ आई, उसमे कामवती मध्या नायिका और उसके नायक बह चले, पर बड़े-बड़े सेतुओं (गुरुओं) से रक्षित वे विधृत (अलग) बने रहे । ऐसी स्थिति मे उनके मनोरथ अपूर्ण रहे । वे चित्रालिखित से निश्चल अंगों से परस्पर उन्मुख होकर नयनरूपी नलिनी-नाल से प्राप्त रस का पान करते हैं अर्थात् दूर से परस्परावलोकन का रस ले रहे हैं ।

मध्या का सम्भोग—रति के समय तब तक ही महिलाओं के लीला-विलास अच्छे लगते हैं, जब तक कमलदल के समान शोभाशाली उनके नेत्र मुकुलित नहीं हो जाते ।

(इस प्रकार अन्य उदाहरण धीरा, अधीरा और धीराधीरा के दिये जा सकते हैं ।)

अथास्या मानवृत्ति. —

१७. धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या, मध्या साश्रु कृतागसम् ।
खेदयेद् दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥ १७

मध्याधीरा कृतापराधं प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत् । यथा माघे—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्या
पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै
भवतु यत सदृशोश्चिराय योग ॥'७ ५३

धीराधीरा साश्रु सोत्प्रासवक्रोक्त्या खेदयेत्, यथामरुशतके—

'बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।
तत् किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन् मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥'५७

अधीरा साश्रु परुषाक्षरम् यथा—

'यातु यातु किमनेन तिष्ठता मुञ्च मुञ्च सखि मादरं कृथा ।
खण्डिताधरकलङ्कितं प्रियं शक्नुमो न नयनैर्निरीक्षितुम् ॥'

एवमपरेऽपि व्रीडानुपहिता स्वयमनभियोगकारिणो मध्याव्यवहारा भवन्ति, यथा –

'स्वेदाम्भःकणिकाञ्चितेऽपि वदने जातेऽपि रोमोद्गमे
विश्रम्भेऽपि गुरौ पयोधरभरोत्कम्पेऽपि वृद्धिं गते ।
दुर्वारस्मरनिर्भरेऽपि हृदये नैवाभियुक्त प्रिया—
स्तन्वङ्ग्या हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धया ।'

स्वतोऽनभियोजकत्वं हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृते लुब्धयेवेत्युत्प्रेक्षया प्रतीयते ।

१७. धीरादि की मानवृत्ति—

अपने अपराधी नायक को मध्या धीरा नायिका ताना सुनाती है, व्यंग्य बोलती है तथा आँसू गिराती है । इस प्रकार वह नायक को खेद पहुँचाती है । अधीरा मध्या नायिका क्रोध से कठोर वाणी का प्रयोग करती है ।

मध्या धीरा अपराधी प्रिय को ताने सुनाकर और व्यंग्य बोलकर खिन्न करती है ।

मध्याधीरा नायिका का प्रियतम अपराधी है । वह विटप (पल्लव) का उपहार देते हुए उसे प्रसन्न करना चाहता है । नायिका उसकी भर्त्सना करती है–हम इस उपहार

के योग्य नहीं हैं। किन्तु वह जो तुम्हारी प्रिया है, जो अकेले में तुम्हारा रस पान करती है और तुम्हारी रक्षा करती है, उसे ही यह पल्लव (विटप) दो, ताकि दो समान गुणधारियों का योग हो। (विटप का एक अर्थ है मनचला युवक)। यहाँ नई प्रेयसी को मनचला प्रेमी मिल जायेगी—यह मध्याधीरा नायिका का व्यंग्य है।)

ताना और व्यंग्य बोलने वाली धीराधीरा—नायक और मानिनी नायिका का संवाद है—हे प्रिये, नाथ। हे मानिनि, क्रोध छोड़ो। क्रोध करके मैंने क्या कर लिया है? तुम लोगों को खेद पहुँचाती हो। मेरी दृष्टि में आपका कोई अपराध नहीं है, मेरे ही सभी अपराध हैं। तो फिर तुम गद्गद स्वर से क्यों रो रही हो? किसके सामने रो रही हूँ? मेरे सामने। मैं तेरी कौन हूँ। दयिता। वही तो नहीं हूँ—इसीलिए रो रही हूँ।

अधीरा मध्या—आँखों में आँसू भरकर नायक को झिड़कती है। जैसे—

जायें, जायें। इन (नायक) के यहाँ ठहरने से क्या लाभ? हे सखि, इन्हें छोड़ो, छोड़ो। इनका आदर करना व्यर्थ है। इनके अधर (दूसरी प्रेयसी द्वारा) कलङ्कित हैं। ऐसे प्रिय को फूटी आँखों देखने में असमर्थ हूँ।

इसी प्रकार के मध्या नायिका के अन्य व्यवहार भी होते हैं, जिनमें व्रीडा (लज्जा) के तत्त्व का आवरण नहीं होता है और नायिका की ओर से नायक से मेल-मिलाप का प्रयास नहीं रहता है। जैसे—

मध्या नायिका के शरीर पर पसीने की कणिकायें उग आईं। उसे रोमाञ्च हो आया, गुरुजन के सम्बन्ध से सर्वथा निर्विघ्न वातावरण था, छाती में कँपकँपी बढ़ती जा रही थी, हृदय काम के पूर्ण वेग से निर्भर हो चला था। तब भी हठपूर्वक केश-कर्षण के साथ घनालिङ्गन-रूपी अमृत की आकांक्षावती उस मध्या नायिका ने अपनी ओर से नायक से समागम की पहल नहीं की।

नायिका ने पहल नहीं की—यह उसकी हठकेशकर्षणघनाश्लेषामृत की उत्कट इच्छा से प्रतीत होता है। (यदि की होती तो यह स्थिति नहीं आती।)

अथ प्रगल्भा—

१८. यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्के।
विलीयमानेवानन्दाद् रता रम्भेऽप्यचेतना ॥१८

गाढयौवना यथा ममैव—

'अभ्युन्नतस्स्तनमुरो नयने च दीर्घे
वक्रे भ्रुवावतितरा वचनं ततोऽपि।
मध्योऽधिकं तनुरतीव गुरुर्नितम्बो
मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥'

यथा च—

स्तनतटमनीव तुङ्गं निम्नो तु नाभिः समुन्नत जघनम् ।
विषमे मृगशावाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥'

भावप्रगल्भा यथाऽमरुशतके

न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यङ्गानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥ ९४

रतप्रगल्भाऽमरुशतके—

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनाद्
वासः प्रश्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम् ।
एतावत् सखि वेद्मि केवलमहं तस्याङ्गसङ्गे पुनः
कोऽसौ कास्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः ॥ १०१

एवमन्येऽपि परित्यक्तह्रीयन्त्रणा वैदग्ध्यप्राया प्रगल्भाव्यवहारा वेदितव्याः । यथाऽमरुशतके ।

क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः ।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रिया सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः ॥ १०७

१८ प्रगल्भा नायिका यौवनोचित काम के कारण मानो अन्धी और उन्मत्त होती है। प्रियतम के अङ्गों में आनन्द से विलीन सी होती हुई, वह काम क्रीडा के आरम्भ में ही बेसुध हो जाती है॥१८

गाढयौवना प्रगल्भा का उदाहरण—छाती पर उरोज अभ्युन्नत होते हैं, आँखें बड़ी होती हैं, भौं टेढ़ी होती हैं। टेढ़ी बातें बहुत बनाती है। कटि अति क्षीण हो जाती है। नितम्ब अतीव बड़ जाता है। चाल धीमी हो जाती है। इस अद्भुत यौवनवती का यह रूप कुछ निराला ही है।

गाढयौवना का उरोज का चढ़ाव अतीव ऊँचा है, नाभि नीची है। जघन प्रदेश ऊँचा है। मृगछौने जैसी आँख वाली के अभिनव ऊँचे नीचे (विषम) शरीर के विषय में कौन स्खलित सा नहीं हो जाता।

भावप्रगल्भा नायिका का उदाहरण—(वह कहती है) मेरा प्रिय जब सामने आता है और प्रिय बातें करता है, उस समय मेरे सभी अङ्ग नेत्र बन जाते हैं या कान? यह समझ में नहीं आता।

• रतप्रगल्भा का उदाहरण—(उसका कथन है) प्रियतम मेरी शय्या पर आया तो नीवी अपने आप बन्धन विमुक्त हो गई शिथिल मेखला के शिथिल सूत्र में फँसा हुआ वस्त्र नितम्ब पर कुछ अँटका रह गया। हे सखि, बस यहीं तक जानती हूँ।

उसके अङ्गों के सम्पर्क में आने पर—वह कौन है? मैं कौन हूँ। कामक्रीडा क्या है और कैसी है? किसी प्रकार की मुझे थोड़ी सी भी स्मृति न रहा।

इस प्रकार अन्य भी प्रगल्भा के व्यवहार होते हैं, जिनमें लज्जाविनयम का अभाव होता है और उसकी विदग्धता सविशेष होती है। उदाहरण है—प्रगल्भा की शय्या की चादर नायिका के सर्वविध प्रणय-क्रीडा का रहस्य प्रकट कर देती है—उस पर कहीं ताम्बूल के धब्बे होते हैं, कहीं चन्दन के लेप से चिह्नित होने की मलिनता होती है। कहीं चूर्ण बिखरा है। कहीं अलक्तक-रंजित पद का चिह्न है। कहीं त्रिवली के चिह्न होते हैं और कहीं केशपाश से कुसुम बिखरे होते हैं।

नान्दी टीका

भरत ने स्त्रियों के प्रथम, द्वितीय आदि चार यौवनों के लक्षण दिये हैं, जिनके समकक्ष धनञ्जय के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा प्रथम तीन के स्थान पर हैं। भरत का चतुर्थ यौवन धनञ्जय ने छोड़ दिया है।

अथास्या कोपचेष्टा—

१८ सावहित्थादरोदास्ते रतौ धीरेतरा क्रुधा।
सन्तर्ज्य ताडयेद्, मध्या मध्याधीरेव तं वदेत्॥ १८

सहावहित्थेन=आकारसंवरणेनादरेण च=उपचाराधिक्येन वर्तते सा सावहित्थादरा, रतावुदासीना क्रुद्धा—कोपेन भवति।

सावहित्थादरा यथाऽमरुशतके—

'एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत—
स्ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः॥' १८

रतावुदासीना यथाऽमरुशतके

'आयस्ता कलहं पुरेव कुरुते न स्रंसने वाससो
भग्नभ्रूगतिखण्ड्यमानमधरं धत्ते न केशग्रहे।
अङ्गान्यर्पयति स्वयं भवति नो वामा हठालिङ्गने
तन्व्या शिक्षित एष सम्प्रति कुतः कोपप्रकारोऽपरः॥'' १०६

इतरा त्वधीरप्रगल्भा कुपिता सती सन्तर्ज्य ताडयति। यथाऽमरुशतके—

'कोपात्कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा केलिनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः।
भूयोऽप्येवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदन्त्या हसन्॥' ८६

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरेव तं वदति सोत्प्रासवक्रोक्त्या । यथा तत्रैव—

'कोपो यत्र भ्रुकुटिरचना निग्रहो यत्र मौन
यत्रान्योन्यस्मितमनुनयो दृष्टिपात प्रसाद ।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्ष खलाया ॥' ३८

प्रगल्भा की कोपचेष्टा

१८. आकार से मनोभाव न प्रकट करने वाली और आदर करती हुई सी धीरा प्रगल्भा काम क्रीडा के प्रति उदासीन रहती है। अधीरा प्रगल्भा क्रोध से नायक को डांटकर उसकी ताडना करती है। मध्या प्रगल्भा मध्याधीरा की भाँति नायक से बोलती है।

अवहित्थ=आकार-सवरण-पूवक और आदर अर्थात् उपचार की अधिकता-पूर्वक व्यवहार करती है। रति मे उदासीन रहती है। क्रोध करती है।'

सावहित्यादरा —प्रगल्भा का अमरुशतक मे उदाहरण है—नायिका नायक के साथ आसन पर नही बैठती। दूर से ही प्रत्युद्गमन करके पान लाने के बहाने सह सालिंगन भी नही करती। उसमे सलाप भी नहीं करती, नौकर-चाकरो को उसके निकट नियुक्त कर देती है। उस चतुर नायिका ने नायक के प्रति कोरा उपचार दिखाते हुए अपने कोप को चरितार्थ किया।

रति मे उदासीन—का उदाहरण अमरुशतक मे—नायक के द्वारा वस्त्र खीचन पर दु खिनी नायिका पूर्ववत् कलह नही करती। उसके केश पकडने पर नायिका भौहे चला कर उसका अधर दशन नही करती। नायक के द्वारा हठपूर्वक आलिङ्गन करते समय वह सकोच नही करती हुई स्वय सर्वात्मना समर्पण कर देती है। इस तन्वी न कही से अब तो कोप प्रकट करने की एक नई विधि ही सीख ली है।

अधीर-प्रगल्भा—तो कोप करन पर डाँट फटकार के साथ अपराधी पति को ताडना करती है। उदाहरण है अमरुशतक मे—सन्ध्या के समय सखियो के सामने क्रोध करने वाली नायिका न कोमललोल-बाहुलतिका पाश से नायक को दृढतापूर्वक पकडकर केलिगृह मे ले गई। उसने टूटे-फूटे अक्षरों वाली मृदुवाणी से नायक को उसके अपराधो को बताया कि तुमने फिर पूर्ववत् अपराध किया। धन्य है वह नायक जो रोती हुई नायिका के द्वारा इस प्रकार पीटा जाता हुआ अपने अपराधो को छिपाते हुए हँस रहा है।

मध्याधीराप्रगल्भा—मध्याधीरा की भाँति नायक को उपालम्भ और व्यग्यवाणी सुनाती है। उदाहरण अमरुशतक मे—वह प्रेम था जिसमे कोप भौं चढा लेन मात्र तक सीमित था, मौन हो जाना मात्र दण्ड था, परस्पर विहँस देना अनुनय था और दृष्टिक्षेप मात्र प्रसाद था। देखो, उस भूतपूर्व प्रेम की तो अब इतिश्री हो गई कि तुम पैर पर गिरे पडे हो और बुरी मैं हूँ कि मेरा क्रोध दूर नही हो रहा है।

पुनश्च—

२०. द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिता ।

मध्याप्रगल्भाभेदाना प्रत्येक ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति। मुग्धा त्वेकरूपैव। ज्येष्ठाकनिष्ठे यथाऽमरुशतके—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छल ।
ईषद्वक्रितकन्धर सपुलक प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलका धूर्तोऽपरा चुम्बति ॥ १९

न चानयोर्दाक्षिण्यप्रेमकृतमेव व्यवहार, अपि तु प्रेम्णापि यथा चैतत्तथोक्त दक्षिणलक्षणावसरे । एषा च धीरमध्या अधीरमध्या धीराधीरमध्या-धीरप्रगल्भा-अधीरप्रगल्भा धीराधीरप्रगल्भाभेदाना प्रत्येक ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदाद् द्वादशाना वासवदत्ता-रत्नावलीवत्प्रबन्धनायिकानामुदाहरणानि महाकविप्रबन्धेष्वनुसर्तव्यानि।

२० अमुग्धा (मध्या और प्रगल्भा) के दो भेद ज्येष्ठा और कनिष्ठा होते हैं। इस प्रकार उनके सब मिलाकर १२ भेद हैं।

मध्या और प्रगल्भा के पूर्वोक्त भेदों मे से प्रत्येक ज्येष्ठ और कनिष्ठ दो दो प्रकार क होने पर उनके सब १२ भेद हैं। मुग्धा एक ही प्रकार की होती है ।

ज्येष्ठा-कनिष्ठा का उदाहरण अमरुशतक मे—

नायक ने देखा कि उसकी दो नायिकायें एक ही आसन पर बैठी हैं। पीछे से आकर उसने एक की आँखें बन्द करके प्रणय क्रीडा का कृत्रिम कार्यक्रम प्रवर्तित किया। अपने कन्धे को थोडा टेढा करके रोमाञ्च पूर्वक धूर्त नायक ने प्रेमपगी मन वाली और निगूढ हास्य से सुशोभित कपोलो वाली दूसरी नायिका का चुम्बन लिया।

इन दोनों मे ज्येष्ठा के प्रति दाक्षिण्य से और कनिष्ठा के प्रति वास्तविक प्रेम से युक्त नायक का व्यवहार होता है अपितु प्रेम से दोनो के प्रति नायक व्यवहार करता है। इस बात को दक्षिण नायक की चर्चा करते हुए पहले भी लिखा जा चुका है।

पूर्वोक्त नायिकाओं के धीरमध्या, अधीरमध्या, धीराधीरमध्या, धीरप्रगल्भा, अधीरप्रगल्भा और धीराधीर-प्रगल्भा—इन छ भेदों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिका रूप दो-दो भेद कर देने पर १२ भेद हुए। वासवदत्ता, रत्नावली नामक नाटिकाओं के समान अन्य काव्यों की नायिकाओं का अनुशीलन करने पर इन सभी भेदों का उदाहरण—स्वरूप नायिकायें ढूँढ निकालें।

अथान्यस्त्री

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाऽङ्गिरसे क्वचित् ॥ २०
२१. कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

नायकान्तरसम्बन्धिन्यन्योढा यथा—

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन् गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद्वनदीस्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥'

इयं त्वङ्गिनि प्रधाने रसे न क्वचिन्निबन्धनीयेति न प्रपञ्चिता । कन्यका तु पित्राद्यायत्तत्वादपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते, तस्या पित्रादिभ्योऽलभ्यमानाया सुलभायामपि परोपरोधस्वकान्ताभयात्प्रच्छन्नं कामित्व प्रवर्तते, यथा मालत्या माधवस्य सागरिकाया च वत्सराजस्येति । तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधाना-प्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीय । यथा रत्नावलीनागानन्दयो. सागरिका मलयवत्यनुराग इति ।

अन्य स्त्री—कन्यका या अन्योढा दूसरे से (विवाहित) हो सकती है। अङ्गी रस मे ऊढा को कहीं स्थान नहीं रहता । २०

२१ अङ्गरस और अङ्गीरस का आधार कन्या कोटि की नायिका का अनुराग स्वेच्छात वर्णनीय है।

किसी दूसरे नायक की अन्योढा का उदाहरण—अन्योढा कहना है—हे पडोसिन, थोडी देर के लिए इस घर पर भी दृष्टि डाले रखना । हमारे इस मुन्ने के पिता जी प्राय कुयें का खारा जल नहीं पीते । मैं अकेले हो तमालवृक्षो से घिरे वननदी की धारा तक जाऊँगी । मार्ग मे घने और सुर्राट टुकडे वाली नरकट की गाँठा से मेरे शरीर पर खरोंच लगना स्वाभाविक है । (इसका व्यग्यार्थ है कि कुलटा विवाहित नायिका उपपति से समागम के लिए जा रही है।)

ऐसी अन्योढा परकीया को अङ्गी प्रधान रस का आलम्बन विभाव नहीं बनाते। अतएव इसका विस्तार नहीं किया जाता है। कन्या को इसलिए अन्य स्त्री कहते हैं कि वह पिता आदि (अन्य) के अधीन तो रहती ही है, यद्यपि अविवाहित होती है। वह पितादि संरक्षकों के अधीन होने के कारण प्रत्यक्ष रूप मे नहीं मिल पाती, फिर भी मुश्किल पर सुलभ बन ही जाती है। दूसरो के द्वारा प्रस्तुत बाधा या अपनी ही पत्नी की पत्नी के भय से उस कन्या से नायक का प्रणय-व्यापार प्रच्छन्न (छिपे-छिपे) चलता है। जैसे मालती-माधव प्रकरण मे परोपरोध से मालती के साथ माधव का या

रत्नावली नाटिका मे ज्येष्ठा नायिका के भय से सागरिका के साथ वत्सराज की छिपे-छिपे कामक्रीडा चलती है। ऐसा कन्या-नायिका के साथ नायक का अनुराग स्वेच्छात अङ्ग और अङ्गी दोनों रसो मे वर्णनीय है। रत्नावली और नागानन्द मे सागरिका और मलयवती का अनुराग क्रमश अङ्गी रस और अङ्गरस के रूप में है।

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥२१

तद्व्यवहारो विस्तरत. शास्त्रान्तरे निदर्शित. । दिङ्मात्र तु—

साधारण स्त्री गणिका होती है। वह कामकला, प्रगल्भता और धूर्तता में सविशेष होती है॥ २१

गणिका का व्यवहार विस्तार पूर्वक अन्य (काम-) शास्त्र मे वर्णित है। नाम मात्र के लिए यहाँ भी उसका परिचय है—

२२. छन्नकाममुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान् ।

रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्नि स्वान्मात्रा विवासयेत् ॥२२

छन्न ये कामयन्ते ते छन्नकामा श्रोत्रियवणिग्लिङ्गिप्रभृतय । मुखार्थः अप्रयासावाप्तधन मुखप्रयोजनो वा। अज्ञो मूर्ख । स्वतन्त्रो निरङ्कुश । अहंयुरहङ्कृत । पण्डको वालपण्डादि । एतान्वहुवित्तान् रक्तेव रञ्जयेदर्थार्थम् तत्प्रधानत्वात्तद्वृत्ते । *गृहीतार्थान्कुट्टिन्यादिना निष्कासयेत् पुनः* प्रतिसन्धानाय। इद तासामौत्सर्गिकं रूपम्।

२२ अपनी काम प्रवृत्तियों को छिपाने वाले, सुख चाहने वाले, विचारहीन, स्वतन्त्र, अहंकारी, और नपुंसकों (मनुष्य रूप मे साँडों) का अनुरक्त-सी बनकर मनोरंजन करती हैं। उनके धनहीन हो जाने पर अपनी सरक्षिका से निकलवा देती हैं। २२

छन्नकाम वे हैं, जो लुके छिपे काम-वासना परितृप्त करते हैं—श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी आदि। सुखार्थ वे है, जो बिना श्रम के ही धनी बन जाते हैं या सुख की कामना करते है। अज्ञ मूर्ख है। स्वतन्त्र = निरकुश। अहयु = अहकारी। इनके बहुत धनी होने पर धन पाने के लिए अनुरक्त-सी बनकर मनोरंजन प्रस्तुत करती है। इसीलिए तो उसका धन्धा होता है। धन ले लेने पर कुट्टिनी के द्वारा निकलवा देती है, फिर आने के लिए। यह उसका स्वाभाविक रूप है।

रूपकेषु तु—

२३. रक्तैव त्वप्रहसने, नैषा दिव्यनृपाश्रये ।

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैवैषा विधेया। यथा मृच्छकटिके वसन्तसेना चारुदत्तस्य। प्रहसने त्वरक्तापि हास्यहेतुत्वात्। नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया।

२३ रुपकों में रत्त कोटि की गणिका होती है। अपवाद है प्रहसन। दिव्य कोटि के या राजा के नायक होने पर गणिका नायिका नहीं हो सकती।

प्रहसन को छोड़कर प्रकरण आदि में अनुरागमयी ही गणिका नायिका बनाई जाती है। जैसे मृच्छकटिक में वसन्तसेना चारुदत्त की है। प्रहसन में अनुराग रहित भी गणिका हँसी के लिए होती है। नाटकादि में दिव्य या नृप नायक के साथ गणिका का सामञ्जस्य वर्जित है।

अथ भेदान्तराणि—

आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥२३

स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा प्रोषितप्रिया अभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्थाः। नायिका-प्रभृतीनामप्यवस्थारूपत्वे सत्यवस्थान्तराभिधानं पूर्वासां धर्मित्वप्रतिपादनाय। *अष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेदः।*

न च वासकसज्जादेः स्वाधीनपतिकादावन्तर्भावः, अनासन्नप्रियत्वाद्वास-कसज्जाया न स्वाधीनपतिकात्वम्। यदि चेच्चदिप्रयापि स्वाधीनपतिका प्रोषित-*प्रियापि न पृथग्वाच्या, न चेयता व्यवधानेनासत्तिरिति नियन्तुं शक्यम्।* न चाविदितप्रियव्यलीकाया खण्डितात्वम्। नापि प्रवृत्तरतिभोगेच्छाया प्रोषित-प्रियात्वम्। स्वयमगमनान्नायकं प्रत्यप्रयोजकत्वान्नाभिसारिकात्वम्। एवमुत्क-ण्ठिताप्यन्यैव पूर्वाभ्यः। औचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वास-कसज्जा, तथा विप्रलब्धापि वासकसज्जावदन्यैव पूर्वाभ्यः,—उक्त्वा नायात इति प्रतारणाधिक्याच्च वासकसज्जोत्कण्ठितयोः पृथक्। कलहान्तरिता तु यद्यपि विदितव्यलीका तथाप्यगृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डितायाः। तत् स्थितमेतदष्टाववस्था इति।

नायिका के अन्य भेद हैं।

इनकी आठ अवस्थायें स्वाधीनपतिकादि होती हैं।

स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका— ये आठ स्वकीया स्त्री आदि की अवस्थायें हैं। नायिकाओं की पहले भी अवस्थायें बनाई जा चुकी हैं। अब ये नई अवस्थायें इस लिए बनाई जा रही है कि पहले की अवस्थायें धर्मी हैं (जिनके धर्म यहाँ निर्दिष्ट आठ अवस्थात्मक हैं।) आठ इसलिए कहा गया कि आठ से न्यूनाधिक अवस्थात्मक भेद नहीं होते।

वासकसज्जादि को स्वाधीनपतिकादि के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता, क्योंकि वासकसज्जा का पति दूर होने के कारण उसे स्वाधीनपतिका नहीं मान सकते। यदि

उस नायिका को स्वाधीनपतिका मानें, जिस (वासकसज्जादि) का पति आने वाला है तो प्रोषितपतिका को भी स्वाधीनपतिका मानना पड़ेगा। ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता कि इतनी दूरी को दूरी न मानकर सान्निध्य ही माना जाय। जिस (वासकसज्जा) नायिका को अपने प्रियतम के अन्यनायिकासमागम की बात नहीं ज्ञात है, उसे खण्डिता नहीं कहेंगे। (वासकसज्जा) को प्रोषित प्रिया नहीं कहेंगे, क्योंकि रतिभोग की इच्छा में वह प्रवृत्त होती है और प्रोषितपतिका को रतिभोगेच्छा नहीं होती। वासकसज्जा को अभिसारिका नहीं कह सकते क्योंकि वह न तो प्रिय से मिलने के लिए अभिसार करती है और न उसे बुलवाती है। इसी प्रकार उत्कण्ठिता भी अन्य भेदों से अलग ही है। उत्कंठिता ठीक समय पर पति के न आने से खिन्न रहती है। वासकसज्जा ऐसी नहीं है। विप्रलब्धा भी वासकसज्जा के समान ही अन्य प्रकार की नायिकाओं से भिन्न है। विप्रलब्धा का प्रिय यह कहकर कि उस समय तुमसे मिलूँगा, नायिका से नहीं मिलता—ऐसी बात वासकसज्जा और उत्कंठिता के विषय में नहीं होती। कलहान्तरिता खण्डिता से इस बात में भिन्न है कि कलहान्तरिता अनुनय-विनय करने वाले प्रिय को ठुकराने पर उसके दूर चले जाने पर पश्चात्ताप करती है, खण्डिता के विषय में यह बात नहीं होती, यद्यपि खण्डिता और कलहान्तरिता में यह समानता है कि दोनों को अपने प्रियतम के अन्य नायिका से समागम रूप अपराध का ज्ञान रहता है।

इस विवेचन से यह निश्चित होता है कि पूर्वोक्त भेद आठ ही हैं, कम नहीं।

तत्र—

२४ आसन्नायत्तरमणा हृष्टा स्वाधीनभर्तृका।

यथा—

> मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
> कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति।
> अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशानां
> वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः॥'

२४ स्वाधीनपतिका वह है जो अपने अधीन पति के निकट होने पर सुप्रसन्न है।

उदाहरण—(दो स्वाधीनपतिकायें अपने सौभाग्य का परिचय परस्पर दे रही हैं। उनमें से एक कहती है) हे सखि, गर्व मत करो कि मेरे कपोलतल पर प्रियतम के हाथों बनाई हुई मंजरी शोभित हो रही है। इस प्रकार के चित्र मेरे कपोल पर भी होते, यदि उनको बनाते समय मेरे पति के हाथों की (सात्त्विक भाव के उद्रेक से उत्पन्न) कँपकँपी विघ्न न डालती।

यथा वासकसज्जा—

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ।। २४

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येष्यति प्रिये वासकसज्जा । यथा—

'निजपाणिपल्लवतटस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः ।।'

वासकसज्जा प्रिय के आने वाला होने पर प्रसन्नता से अपना मंडन करती है ।

यहाँ अपना मण्डन से तात्पर्य है घर का भी । प्रिय के आने का समय होने पर वह प्रसन्नता से अपना, अपने घर आदि को अलङ्कृत करती है । उदाहरण है—

कोई नायिका अपनी पल्लव के समान हथेली से मुखकमल का श्वास रोकने पर नासिका के छिद्रों की ओर ऊपर गई हुई मुख की सुगन्ध की परीक्षा करके प्रमुदित हुई ।

अथ विरहोत्कण्ठिता –

२५ चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मना ।

यथा—

सखि स विजितो वीणावाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते ।।

२५ विरहोत्कंठिता अपराध रहित प्रियतम के देर करने पर उन्मनस्क हो जाती है ।

उदाहरण—विरहोत्कण्ठिता नायिका अपनी सखी से कहती है—हे सखि, मेरे प्रियतम किसी दूसरी स्त्री के द्वारा वीणावादन की स्पर्धा में जीत लिये गये है । फिर तो निश्चय ही उसके साथ प्रियतम की रात कटेगी । अन्यथा अब आधी रात के समय शेफालिका के पुष्पों के झड़ जाने पर और चन्द्रमा के आकाश के मध्य पहुँच जाने पर मेरे प्रियतम अभी तक आकर मुझसे यहाँ नहीं मिले ।

अथ खण्डिता—

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ।।२५

यथा शिशुपालवधे

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ।।११ ३४

खण्डिता नायिका नायक की अन्य नायिका से प्रसक्ति के लक्षण देखकर ईर्ष्या के कारण खट्टे मन वाली हो जाती है।२५

उदाहरण—नायिका नायक से कहती है—अपने गमछे से नायिका के द्वारा बनाये हुए नये नख-चिह्नों वाले अग छिपा रहे हो। नायिका के दाँतो से कटे हुए अपने ओठ को हाथ से छिपा रहे हो। दूसरी स्त्री के ससर्ग को बताने वाला नव परिमल गन्ध सभी दिशाओ मे फैल रहा है। इसको कौन छिपा सकता है?

अथ कलहान्तरिता—

२६. कलहान्तरिताऽमर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

यथा अमरुशतके

> नि श्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
> निद्रा नेति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तंदिवं रुद्यते ।
> अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
> सख्य कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिता ॥'८२

२६ कलहान्तरिता अमर्षवशात् नायक को ठुकराकर उसके लिए पश्चात्ताप करती है।

उदाहरण—(कलहान्तरिता स्वय अपनी दशा का वर्णन करती है) हे सखियो, बताओ तो भला इस मान मे कौन सा गुण है जिसे देखकर हम लोग इसका आश्रय लेते हैं। मानवती होने पर अब तो अपने ही नि.श्वास से मेरा मुख जला जा रहा है। हृदय जड से उखडा जा रहा है। नींद नही आती। प्रियतम का मुख तक न दिखाई देने से रात-दिन रोना है। अग सूख रहे हैं। मैंने ही पैर पर गिरे प्रिय को ठुकराया था।

अथ विप्रलब्धा—

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥२६

यथा—

> 'उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
> याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥'

विप्रलब्धा प्रत्याशित मिलन-वेला पर नायक के न आने से अति अनादृत प्रतीत होती है।

उदाहरण—विप्रलब्धा दूती से कहती है—हे दूति, उठो, अब चलें। पहर बीत गया। तथापि वे नहीं आए। इसके बाद भी जो जी सके, उसी के प्राणनाथ वे होने के योग्य है।

अथ प्रोषितप्रिया—

२७. दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया ।

यथाऽमरुशतके—

'आदृष्टिप्रसरात् प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
विश्रान्तेषु पथिष्वहःपरिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति ।
दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियास्मिन्क्षणे
माभूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम् ॥'७६

२७. प्रोषितप्रिया का नायक कार्यवशात् परदेश मे रहता है ।

जैसे अमरुशतक मे—

जहाँ तक दृष्टि जा सकती थी, वहाँ तक प्रियतम के आने का पथ देखकर विदेश गये पति की नायिका खिन्न हो गई । दिन बीतने पर मार्ग चलना बन्द होने पर और अन्धकार के घिर आने पर उस नायिका ने शोक से अपने घर लौटने के मार्ग पर एक पद रखा । इसी क्षण म आ गये हो—यह विचार करके तेजी मे गर्दन मोड़कर फिर उसने पीछे की ओर देखा ।

अथाभिसारिका—

कामार्ताभिसरेत्कान्तं सारयेद्वाभिसारिका ॥२७

यथामरुशतके—

'उरसि निहितस्तारो हारः कृता जघने घने
कलकलवती काञ्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ ।
प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं दिशः समुदीक्षसे ॥'३१

यथा च शिशुपालवधे

'न च मेऽवगच्छति यथा लघुता करुणा यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥'९ ५६

अभिसारिका कामपीड़ित होकर स्वयं नायक के पास जाती है या उसे अपने पास बुलाती है ।२७

जैसे अमरुशतक मे—नायिका ने छाती पर चमकता हार धारण किया । उत्फुल्ल जघन-प्रदेश पर कलकल करती हुई काञ्ची पहनी । पैरों में रुनझुन करता हुआ मणिनूपुर पहना । (उसकी सखी उससे कह रही है कि) इस प्रकार हे मुग्धे, ढोलक पीटकर यदि तुम प्रियतम के पास जा रही हो तो फिर क्यों कर भय से कम्पित होकर दिशाओं को देख रही हो ?

(प्रिय को अपने पास बुलाने के लिए किसी नायिका ने दूती को इस प्रकार

सन्देश दिया—उनके पास जाकर तुम इस प्रकार कुशलता से बातना कि मेरी लघुता उनकी दृष्टि मे न प्रतीत हो और वे मेरे ऊपर करुणा करें।

२८. चिन्तानि श्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणै ।
युक्ता. षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितै ॥२८

परस्त्रियौ तु कन्यकोढे। सङ्केतात् पूर्वं विरहोत्कण्ठिते पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके, कुतोऽपि सङ्केतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे इति त्र्यवस्थैवानयोरिति। *अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात्।*

यत्तु मालविकाग्निमित्रादौ 'योऽप्येवं धीर सोऽपि न दो देव्या पुरत' इति मालविकावचनानन्तरम्, राजा —

'दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि नायकाना कुलव्रतम्।
तन्मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्ते त्वदाशानिबन्धना ॥' ४.१४

इत्यादि तन्न खण्डितानुनयाभिप्रायेण, अपितु सर्वथा मम देव्यधीन इ-मारात्कु य निराशा मा भूदिति कन्याविश्रम्भणायेति।

तयानुपसञ्जातनायकसमागमाया देशान्तरव्यवधानेऽप्युत्कण्ठितात्व-मेवेति न प्रोषितप्रियात्वम्-अनायत्तप्रियत्वादेवेति।

२८ अन्त की छ नायिकायें (विरहोत्कण्ठिता, खण्डितादि) चिन्ता, नि श्वास, खेद अश्रु, विवर्णता, ग्लानि और प्रसाधनहीनता से युक्त होती हैं। आदि की दो नायिकायें—स्वाधीनपतिका और वासकसज्जा क्रीडा, उज्वलता और प्रमोद से युक्त होती हैं। २८

परस्त्री कन्या और विवाहित दो प्रकार की होती हैं। वे सङ्केत के पूर्व विरहो-त्कण्ठिता होती है, फिर विदूषक आदि की सहायता से प्रियतम से मिलती-जुलती हुई अभिसारिका बनती हैं। नायक के किसी कारणवश सङ्केतस्थान पर न पहुँचने पर वे विप्रलब्धा होती हैं। इन दोनो प्रकार की नायिकाओ की यहा अवस्थायें निर्धारित हैं। क्योंकि जिनके प्रिय उनके अधीन नहीं हैं, उनकी कोई अन्य अवस्था का याग नहीं बैठता।

परस्त्री खण्डिता नहीं हो सकती। मालविकाग्निमित्र मे मालविका न कहा है कि आप जो इतने धीर बनते हैं, वह मैंने देख लिया था जब आप महारानी के न मन थे। इसका उत्तर राजा ने दिया है—'हे बिम्बोष्ठि, नायको का कुलव्रत होता है कि व दक्षिण हो। हे दीर्घाक्षि, मेरे प्राण तो तुम्हारी आशा से ही अँटके हुए हैं।' इस प्रकार से मालविका खण्डिता नायिका नहीं, जिसकी मनुहार के लिए नायक ने यह पद्य कहा है, 'अपितु मालविका मुझे सर्वथा देवी के अधीन समझ कर निराश न हो जाय' यह उसे विश्वास दिलाने के लिए कहा गया है।

इन दोनो प्रकार की नायिकाओ को, यदि नायक का समागम नहा हो पा रहा है क्योकि वह कही दूर देश म है, उत्कण्ठिता हा कहेग, प्रोषितपतिका नही कहग, क्योकि प्रोषितपतिका वे हो नायिकायें होती हैं, जिनक प्रिय उनके अधीन हो अर्थात् जो विवाहित हो। यहाँ ऐसा नही है।
अथासा सहायिन —

२८. दू यो दासी सखी कारुर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्व च नेतृमित्रगुणान्विता ॥२८

दासी=परिचारिका। सखी—स्नेहनिबद्धा। कारु=रजकीप्रभृति। धात्रेयी=उपमातृसुता। प्रतिवेशिका=प्रतिगृहिणी। लिङ्गिनी=भिक्षुक्यादिका। शिल्पिनी—चित्रकारादिस्त्री। स्व चेति। दूतीविशेषा। नायकमित्राणा पीठम र्दादीना निसृष्टार्थत्वादिना गुणैर्युक्ता। तथा च मालतीमाधवे कामन्दकी प्रति—

शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोध प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोध प्रतिभानवत्वमेते गुणा कामदुघा क्रियासु ॥'३ ११

तत्र सखी यथा—

मृगशिशुदृशास्तस्यास्ताप कथ कथयामि ते
दहनपतिता दृष्टा मूर्तिर्मया नहि वैधवी।
इति तु विदित नारीरूप स लोकदृशा सुधा
तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते॥

यथा च गाथासप्तशत्याम्

सच्च जाणइ दट्ठ सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ।
मरउ ण तुम भणिस्सं मरण पि सलाहणिज्ज स ॥ १.१२
(सत्य ज्ञायते द्रष्टु सदृशे जने युज्यते राग।
म्रियता न त्वा भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्या ॥')

स्वय दूती यथा—

महुएहि वि व पथिअ जइ हरसि नियसण नियम्बाओ।
साहेमि कस्स रन्ने गामो दूरे अह एक्का॥
(मधूकैं विवा पथिक यदि हरसि नियमन नितम्बात्।
साधयामि कस्यारण्ये ग्रामो दूरेऽहमेका। ')

इत्याद्यूह्यम्।

२८ नायिका की सहायता करने वाली स्त्रियाँ हैं—दूती, दासी, सखी, कारु,

धाई, पड़ोसिन, भिक्षुकी (साधुनी) शिल्पिनी और स्वयं हो। ये सभी नेता के मित्र के पूर्वोक्त गुणों से समन्वित होती है।२६

दासी=परिचारिका। सखी—स्नेह निबद्धा। कारु=धोबिन आदि। धात्रेयी=दाई। प्रतिवेशिका=पड़ोसिन। लिंगिनी (साधुनी)। शिल्पिनी=स्त्री चित्रकारादि। स्वयं=अपने लिए दूती का काम स्वयं करने वाली नायिका। दिये हुए काम का पूरा कर देने वाले गुणों से युक्त दूतियाँ इस दृष्टि से वैसी ही होती है, जैसे नायक के मित्र पीठमर्दादि। जैसे मालतीमाधव में कामन्दकी है—शास्त्रों में विश्वास, सहज बोध, प्रगल्भता, गुणशालिनी वाणी, समयानुशीलता, नित्य नूतन प्रतिभा का स्फुरण—ये गुण काम पूरा कराने वाले हैं। सखी सहायक है—(नायक से सखी कहती) मृगछौने जैसे नेत्रों वाली उस नायिका का हाल क्या बताऊँ? मैंने तो चन्द्रमा की मूर्ति अग्नि में गिरी देखी ही नहीं। दर्शकों की दृष्टि के लिए अमृत वह नारी रत्न है—यह सुविदित है। ब्रह्मा की यह शिल्प विषयक उत्कृष्ट रचना तुम्हारी (नायक की) शठता से अब मिट जायेगी।

गाथा सप्तशती में उदाहरण है—यह सत्य ही प्रतीत होता है कि समान योग्य व्यक्ति के प्रति अनुराग ठीक रहता है। नायिका मर भी जाय तो तुमसे न कहूँगी। उसका तो मर जाना ही ठीक है।

नायिका अपने लिए स्वयं दूती का काम करने का उदाहरण है—

महुए से क्या? हे पथिक, यदि तुम नितम्ब-प्रदेश से वस्त्र भी खिसकाओ तो इस अरण्य में मैं किससे कहने जाऊँगी? गाँव दूर है और मैं अकेली हूँ।

अन्य प्रकार की नायिका की सहेलियों के उदाहरण मम्मणा से ढूँढे जा सकते हैं।

यौवनालङ्काराः

अथ यौवनालङ्काराः—

३०. यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशतिः।

यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलङ्काराः स्त्रीणां भवन्ति।

तत्र—

३०. यौवन में स्त्रियों के सत्त्व से उत्पन्न बीस अलंकार होते हैं।

नाट्यों टीका

अथ।

है।

है कि इन्हीं मे रस और भाव की निर्झरिणी सविशेष है।[1] सात्त्विक अभिनय के द्वारा इनकी प्रस्तुति होती है, जो सर्वोपरि अभिनय प्रकार है।

भावो हावश्च हेला च त्रयस्तत्र शरीरजा ॥३०

३१. शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्य च प्रगल्भता।
औदार्य धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजा ॥३१

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजा, शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यं धैर्यमित्ययत्नजा सप्त।

३२ लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रम किलकिञ्चितम्।
मोट्टायितं कुट्टमित बिब्बोको ललित तथा ॥३२

३३ विहृतं चेति विज्ञेया दश भावा स्वभावजा।

उनमे स भाव, हाव और हेला—ये तीन शरीर से उत्पन्न होते है।

३१ शोभा, कान्ति दीप्ति माधुय, प्रगल्भता औदाय और धैय—ये सात भाव बिना किसी यत्न के ही प्रकट होते हैं।३१

३२ लीला विलास, विच्छित्ति विभ्रम, किलकिंचित मोट्टायित कुट्टमित, बिब्बोक ललित विहृत—ये दश भाव स्वभावत उत्पन्न होते हैं।

तानेव निर्दिशति—

निर्विकारात्मकात् सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥३३

तत्र विकारहेतौ सत्यप्यविकार सत्त्व यथा कुमारसम्भव—

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हर प्रसंख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणा नहि जातु विघ्ना समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥३ ४०

तस्मादविकाररूपात् सत्त्वात् य प्रथमा विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्याच्छूनतेव स भाव। यथा—

'दृष्टि सालसता बिभर्ति न शिशुक्रीड सु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि।
पुसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग्यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनै ॥'

यथा वा कुमारसम्भवे—

'हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशि।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ ३ ६७

१ अलकारास्तु नाट्यज्ञैर्ज्ञेया भावरसाश्रया ॥२२.४

यथा व ममैव—

'तं च्चिअ वअणं ते च्चेअ लोअणे जोव्वणं पि तं च्चेअ।
अण्णा अणङ्गलच्छी अण्णं च्चिअ किं पि साहेइ॥'
('तदेव वचनं ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव।
अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति॥')

भाव निर्विकार सत्व से उत्पन्न होता है। यह सर्वप्रथम विकार के रूप में होता है।३३

विकार का कारण होने पर भी यदि मन में विकार न हो तो वह मन सत्त्व है।[1] सत्त्व का उदाहरण कुमारसम्भव में है—उस क्षण अप्सराओं का गीत सुनकर भी शिव ध्यानमग्न रहे। आत्मवशी लोगों की समाधि तोड़ने में कोई भी विघ्न समर्थ नहीं होते।

ऐसे विकाररहित मन में जो प्रथम शृंगारात्मक विकार होता है, वह भीतर ही भीतर परिणमन से बीज के (अङ्कुरित होने के पहले) फूलने की भाँति होता है। वही विकार भाव है।[2] जैसे—

दृष्टि अलसाई हुई है। शिशुओं की क्रीड़ा में कोई रुचि न रही। सखियों के सम्भोग-विषयक वार्तालाप को जानने के लिए उस ओर कान लगाती है। पहले जैसी प्रवृत्ति अब पुरुषों की गोद में निःशङ्क भाव से बैठ जाने की न रही। इस प्रकार व्यवहार करने वाली बाला धीरे-धीरे नूतन अवस्था के प्रभाव से सयत हो चली है।

जैसे कुमारसम्भव में—शिव भी कुछ कुछ वैसे ही धैर्यहीन हो गये, जैसे समुद्र चन्द्रोदय के समय होता है। बिम्ब फल के समान ओठों वाले उमा के मुख पर उन्होंने दृष्टि डाल दी।

धनिक का भाव का निजी उदाहरण है—

वही वाणी, वे ही आँखें, वही यौवन है। अब दूसरी ही मदनश्री आ गई, जिससे कुछ नया ही संकेत होने लगा।

अथ हाव—

३४. भावतस्तु स शृङ्गारी हावोऽक्षिभ्रूविकारकृत्।

प्रतिनियताङ्गविकारकारी शृङ्गारस्वभावविशेषो हाव, यथा ममैव—

'जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहा तहा च्चेअ।
णिज्झाअ णेहमुद्धं वअस्स मुद्धं णिअच्छेह॥'
('यत्किमपि प्रेक्षमाणां भणन्तीं रे यथा तथैव।
निध्याय स्नेहमुग्धां वयस्य मुग्धां पश्य॥')

---

1. रागद्वेषाभ्यामनुपहतं हि मनः सत्त्वम्।
2. यद् बाह्यान्तरशून्यात्मना सद्भावतामुपनतं किंचिद्विशिष्टरूपत्वं संदेहविकारविशेषो भाव.। अभिनवभारती ना॰शा॰ २२.८ पर।

३४ भाव का शृंगार (विकास क्रम मे) हाव होता है। इसमे आँख और भौं मे थोडा विकार हो जाता है।[1]

हाव ऐसा श्रृङ्गार है, जो निर्धारित अग (आँख और भौं) मे विकार उत्पन्न करता है। वह विशेष प्रकार का स्वभाव (चित्तवृत्ति) ही है। जैसे धनिक का श्लोक उदाहरण प्रस्तुत करता है—हे मित्र स्नेह-प्रवण मुग्धा को सूक्ष्मता से देखो, वह कुछ नये ढग से देख रहा है, नये ढग से बोल रही है।

अथ हेला—

स एव हेला सुव्यक्तश्रृङ्गाररससूचिका ॥ ३४

हाव एव स्पष्टभूयोविकारत्वात् सुव्यक्तश्रृङ्गाररससूचको हेला। यथा ममैव—

'तह झत्ति से पअत्ता सव्वङ्गं विब्भमा थणुब्भेए।
ससइअबालभावा होइ चिरं जह सहीणं :पि॥'

('तथा झटित्यस्या प्रवृत्ता सर्वाङ्गं विभ्रमा स्तनोद्भेदे।
सशयितबालभावा भवति चिरं यथा सखीनामपि॥)

हेला हाव हो का विकसित रूप है। यह स्पष्ट रूप से शृंगार-सूचिका होती है। ३४

प्रबलतर विकार के स्पष्ट होने पर हाव के पश्चात् शृंगार का अगला क्रम हेला है। ऐसी स्थिति म इसमे शृंगार रस सुव्यक्त होता है। उदाहरण धनिक का—नायिका का स्तनोद्भेद होने पर उसके सभी विभ्रम एकाएक बढ चले। सखियो को भी अब सन्देह हो रहा है कि वह नायिका बाला रह गई क्या ?

अथायत्नजा सप्त। तत्र शोभा—

३५. रूपोपभोगतारुण्यै शोभाङ्गाना विभूषणम्।

यथा कुमारसम्भवे—

'ता प्राङ्मुखी तत्र निवेश्य बाला शर्णं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णा।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्रा प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्य' ॥ ७.१३

---

१. हाव की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त कहते है कि इसमे हु धातु देने के अर्थ मे है। किसी कुमारी से अपनी चित्तवृत्ति दूसरे को अर्पित करने के लिए हाव उसे प्रेरणा प्रदान करता है। ना० शा० २२.१० पर भारती।

इत्यादि। यथा च शाकुन्तले—

'अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः' ॥२१०

अयत्नज अलंकार सात होते हैं। इनमे प्रथम शाभा है—

३५. शोभा अङ्गों का समलकरण है, जो रूप, उपभोग और यौवन से उत्पन्न होता है। जैसे कुमारसम्भव मे—

वहाँ बाला पार्वती को पूर्वमुख करके सामने खडी स्त्रियाँ क्षण भर के लिए रुक गईं। सभी प्रसाधन निकट होने पर भी सहज सौन्दर्य से आकृष्ट नेत्रों वाली वे स्त्रियाँ स्तब्ध हो गईं। इत्यादि

शाकुन्तल मे दुष्यन्त नायिका के नैसर्गिक रूप से विमुग्ध होकर कहता है—
शकुन्तला का सर्वाङ्गपूर्ण रूप न सूँघे हुए पुष्प के समान, नख से न लूने पल्लव के समान, अनछेदे रत्न की भाँति, अनचखे नये मधु के समान मानो पुण्य का अखण्ड फल ही है। पता नही, कब भगवान् इस रूप का भोगने वाला यहाँ उपस्थित कर देंगे?

अथ कान्ति —

मन्मथाप्यायितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥ ३५

शोभैव रागावतारघनीकृता कान्तिः। यथा—

'उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्दूरे समुत्सारितं
भिन्नं पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम्।
एतस्याः कलविङ्ककण्ठकदलीकल्पं मिलत्कौतुका-
दप्राप्ताङ्गसुखं रुषेव सहसा केशेषु लग्नं तमः ॥'
यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य।

कान्ति शोभा ही है, जिसमे काम वृत्ति से शोभा का चमत्कार संवधित होता है। ३५

नायक के प्रति अनुराग के घनीभूत होने पर शोभा कान्ति बन जाती है।

नायक रूप धारी अन्धकार नायिका के चन्द्रमुख के द्वारा अपनी द्युति से भगाया गया वह पीन कुचस्थली की द्युति से छिन्न-भिन्न हो गया। हाथ की प्रभा से वह अन्धकार मार भगाया गया। इन अंगों का स्पर्शसुख न पाकर गौरा पक्षी के कण्ठ मे समान अन्धकार मिलन की उत्सुकता से क्रोधपूर्वक सहसा उसके केशपाश में चिपक गया।

बाणभट्ट की कादम्बरी में महाश्वेता का वर्णन कान्ति का उदाहरण है।

अथ माधुर्यम्—

३६. अनुल्वणत्व माधुर्यम्—

यथा शाकुन्तले—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥' १ १७

३६ माधुर्य है सौम्यता ।

अभिज्ञानशाकुन्तल मे उदाहरण—सेवार चिपकने पर भी कमल रमणीय बना रहता है । चन्द्रमा का मलिन कलङ्क भी उसकी शोभा को बढाता है । यह सुन्दरी (शकुन्तला) वल्कल धारण करने पर भी अधिक मनोरम है । मधुर आकृति के लिए सब कुछ मण्डन बन जाता है ।

नान्दी टीका

सन्तापक या रामणीयक सभी स्थितियो मे अपनी चेष्टा को सौम्य बनाये रखना माधुर्य है । ना० शा० २२ २९ पर भारती ।

अथ दीप्ति —

—दीप्ति कान्तेस्तु विस्तरः ।

यथा—

'दे आ पसिअ णिअन्तसु मुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआण विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे ॥'
'प्रसीद प्रार्थये तावत् निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणा विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥'

दीप्ति कान्ति नामक अलकार को अतिशयता है ।

जैसे—(नायक दूर चले जाने का उपक्रम करती हुई नायिका से कहता है) प्रार्थना करता हूँ कि प्रसन्न हो जाओ, लौट पडो । अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से सामने की अन्धकार-राशि के हट जाने से अन्य कृष्णाभिसारिकाओ को प्रियतम-मिलन के लिए निकलने में तुम बाधा पहुँचा रही हो ।

अथ प्रागल्भ्यम्—

निस्साध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्—

मनःक्षोभपूर्वकोऽङ्गसाद साध्वसम्, तदभावः प्रागल्भ्यम् । यथा ममैव—

'तथा व्रीडाविधेयापि तथा मुग्धापि सुन्दरी ।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभास्वाचार्यकं गता ॥'

प्रागल्भ्य (पूर्ण वैदग्ध्य से उत्पन्न) निर्भयता है।

मन के क्षोभ के साथ अङ्गों का अशक्त होना साध्वस है। उसका अभाव प्रागल्भ्य है। उदाहरण के लिए धनिक की उक्ति है—लज्जाशील और मुग्धा तो सुन्दरी है, किन्तु कला प्रयोग के कौशल (प्रदर्शन) में वह सभासदों के बीच आचार्य रूप में प्रतिष्ठा पाती है।

नान्दी टीका

ना० शा० २२.३१ के अनुसार निम्साध्वसता प्रयोग में होनी चाहिए। प्रयोग है ६४ कामकलायें।

अथौदार्यम्—

—औदार्यं प्रश्रयः सदा ॥३६

यथा गाथासप्तशत्याम्

'दि अहं खु दुक्खिआए सअलं काऊण गेहवावारम्।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्ताए ॥' ३ २६
('दिवसं खलु दुःखिताया सकलं कृत्वा गृहव्यापारम्।
गुरुण्यपि मन्युदुःखे स्मराम पादान्ते सुप्तस्य ॥'

यथा वा—'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' इत्यादि। रत्नावली २.२०

औदार्य है नित्य विनय ।३६

जैसे गाथासती में उदाहरण है—दिन भर घर के सब काम कर लेने के पश्चात् भारी मानसिक सन्ताप होने पर भी वह नायिका नायक के पैर के पास सो गई—यह हमें स्मरण है।

रत्नावली में उदाहरण है—'भ्रूभङ्गे सहसोद्गता' इत्यादि २.२०

नान्दी टीका

अभिनव भारती ना० शा० २२ ३१ के अनुसार सदा से तात्पर्य है अमर्ष, ईर्ष्या, क्रोधादि की अवस्थाओं में भी। प्रश्रय है परुष वचन न बोलना।

अथ धैर्यम्—

३७ चापलाविहता धैर्यं चिद्वृत्तिरविकत्थना।

चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानामनाख्यायिका धैर्यमिति। यथा मालतीमाधवे—

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी
दहतु मदनः किं वा मृत्योः परेण विधास्यति।
मम तु दयिता श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥ २.२

३७ धैर्य वह चित्तवृत्ति है, जो चंचलता से वृदित न हो। इसमे विकत्थना (आत्मप्रशंसा) का अभाव होता है।

चपलता के कारण विघ्नित न होने वाली मनोवृत्ति धैर्य है। इसमें आत्मगुणों की वर्णना का अभाव होता है। मालतीमाधव मे उदाहरण है—मालती कहती है—पूर्ण चन्द्र प्रतिरात्रि आकाश मे ज्वाला उत्पन्न करता रहे। कामदेव भी जलाने का काम प्रवर्तित करता रहे। वह मृत्यु से बढ कर और कौन विपत्ति ढायेगा? मेरे प्रिय पिता प्रशसनीय हैं। मेरी माता शुभ्र वश की है। मेरा कुल निर्मल है। यह पुरुष (माधव) और मेरा जीवन भी इतने प्रिय नहीं हैं।

अथ। स्वाभाविका दश। तत्र —

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥३७

प्रियकृताना वाग्वेपचेष्टाना शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरणं लीला। यथा ममैव—तह दिट्ठं तह भणिअं ताए णिउदं तहा तहासीणम्।

अवलोइअं सइण्हं सविब्भमं जह सवत्तीहि॥'

('तथा दृष्टं तथा भणितं तया निवृत्तं तथा तयासीनम्।

अवलोकित सतृष्णं सविभ्रमं यथा सपत्नीभि॥')

यथा वा—'तेनोदितं वदति याति तथा ययासो' आदि।

स्वाभाविक दशायें दश होती हैं। उनमे

लीला है प्रियतम का अनुकरण। ऐसा करते हुए आङ्गिक चेष्टायें मधुर होनी चाहिए। ३७

प्रिय की वाणी, वेप और चेष्टा के समान कामिनियो के द्वारा अपनी वाणी, वेप और चेष्टायें दिखाना लीला है। उदाहरण है धनिक की उक्ति—नायिका का वर्णन है—

(नायक) जैसे देखना, बोलता, प्रावरण धारण करता है, वैसा ही जब नायिका ने किया तो सपत्नियो के द्वारा यह सब कार्य-व्यापार सतृष्ण होकर विभ्रमपूर्वक देखा गया।

अन्य उदाहरण है—उस (नायक) के द्वारा कही बात नायिका कहती है, वैसे ही चलती है, जैसा नायक चलता है। इत्यादि

अथ विलास —

३८. तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियोक्तिषु।

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियाया वचने च सातिशयविशेषोत्पत्ति-विलास। यथा मालतीमाधवे—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त-
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः।
तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य-
माचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥' १२८

३८. विलास है (नायिका के) अङ्ग, क्रिया और वाणी से कुछ तात्कालिक (समयोचित) अतिशयता या विशेषतायें।

दयित (प्रियतम) को देखने के समय अङ्ग, क्रिया और वाणी में जो अत्युत्कृष्ट विशेषतायें उत्पन्न हो जाती हैं, वे विलास हैं। जैसे मालतीमाधव में नायक माधव मालती के विषय में कहता है—

इस बीच उस विशालनयना नायिका का रमणीय अनिर्वचनीय, विजयी तथा कामदेव के द्वारा उल्लासित वैचित्र्य था। वह मानो सबके लिए आचार्य रूप में प्रकट हुआ। वह सात्त्विक विकारों के कारण विशेष रम्य था और उनमें विभ्रमों का साहचर्य था।

अथ विच्छित्ति —

आकल्परचनाल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥३८

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्ति। यथा कुमारसम्भवे—

'कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाभेदनितान्तगौरे।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥'७ १७

विच्छित्ति है नायिका का तनिक भी प्रसाधन, जिससे उसकी कान्ति में चार चाँद लग जायें।३८

थोड़ा भी वेष, जो अतिशय रमणीयता उत्पन्न कर दे, विच्छित्ति है। जैसे कुमारसम्भव में—

कान पर पार्वती ने जो जौ का अङ्कुर धारण किया उसने तो आँखों को बाँध ही लिया, क्योंकि वह किंशुक या चूर्ण लगाने से सूखे और गोरोचना के लेप से नितान्त गोर उसके कपोल पर सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था।

इस प्रसंग में वेष है माल्याच्छादन विलेपनादि।

अथ विभ्रम —

३९. विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः।

यथा—

'अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती संलापसंवलितलोचनमानसाभिः।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभिः॥'

यथा वा ममैव—

'श्रुत्वायातं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः॥'

३८. विभ्रम है व्यग्रता के कारण किसी विशेष अवसर पर अलंकरण का अयथास्थान होना। जैसे

चन्द्रोदय होने पर अपने कुशल प्रियतम की दूती से बातचीत करती हुई नायिकाओं की आँख और मानस के स्वस्थ न होने के कारण उन्होंने जो अपना प्रसाधन किया, उसके अयथास्थान प्रयोग से सखियाँ हँसने लगी।

दूसरा उदाहरण धनिक विरचित है—

प्रियतम को आया हुआ सुनकर अपना प्रसाधन पूरा करने के पहले ही नायिका ने मस्तक पर अंजन, आँखों मे लाक्षा (महावर) और कपोल पर तिलक धारण कर लिया।

अथ किलकिञ्चितम्—

क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम् ॥३९

यथा ममैव—

रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समयं
मया लब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठार्धमधरे।
कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलक्षार्धरुदित-
स्मितक्रोधोद्भ्रान्तं पुनरपि विदध्यान्मयि मुखम् ॥'

किलकिंचित है क्रोध, अश्रु, हर्ष, भीति आदि भावों का मिश्रण।३९
उदाहरण है धनिक की उक्ति—नायक कहता है—

रतिक्रीडा के जुये मे किसी-किसी प्रकार बाजी जीतकर मेरे द्वारा जब उस नायिका का अधर प्राप्त किया गया तो अपने कण्ठ से मधुर कलकल ध्वनि निकालती हुई उसने भौं चढाई, लज्जा से रोने-सी लगी, हास्य, क्रोध और घबराहट दिखाई और अन्त मे मेरी ओर मुख कर दिया।

अथ मोट्टायितम्—

४०. मोट्टायितं तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु।

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्वं मोट्टायितम्। यथा पद्मगुप्तस्य नवसाहसाङ्कचरिते

'चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥' ६.४२

यथा वा—

'मात मं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गी मुहु-
जृम्भामन्थरतारका सुललितापाङ्गा दधाना दृशम्।
सुप्तेवालिखितेव शून्यहृदया लेखावशेषीभव-
स्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मर ॥'

यथा वा ममैव—

'स्मरदवथुनिमित्तं गूढमुन्नेतुमस्या
सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखीभिः ।
भवति विततपृष्ठोदस्तपीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ॥'

४० मोट्टायित है प्रिय के प्रति (अनुराग) से (अन्तःकरण का) भावित होना, जब प्रिय की कथादि सामने हो।

इष्ट कथा से तात्पर्य है प्रियतम की कथा, (चित्र, मूर्त्यादि के द्वारा) अनुकरणादि। इस स्थिति में प्रिय के प्रति जो अनुराग होता है, उससे अन्तःकरण का प्रभावित होना मोट्टायित है। जैसे पद्मगुप्त के नवसाहसाङ्कचरित में—नायिका ने चित्र में राजा को देखा तो उसके चित्त में तत्काल राजा का आवेश हुआ। परवश-सी नायिका ने भी लज्जा से मुखचन्द्र मोड़ लिया।

दूसरा उदाहरण है—नायिका की सखी उससे कहती है—जँभाई से शिथिल-तारकायुक्त और रमणीय अपाङ्ग युक्त नेत्र धारण करती हुई किसको हृदय में बसा कर बड़ी देर से रोमाञ्चित अङ्गों वाली बन गई हो? सुन्न सोई हुई सी, चित्र में लिखी हुई सी रेखामात्र सी बन गई हो। अपने से ही द्रोह करने वाली लज्जा करने से क्या? मुझसे तो बताओ। अजान काम तो प्राण ही हर लेता है।

तीसरा उदाहरण धनिक की उक्ति है—

नायिका की सखी नायक से कहती है कि उस नायिका की कामपीड़ा का कारण जानने के उद्देश्य से हे सुभग, जब तुम्हारी चर्चा प्रस्तुत की गई तो अंगड़ाई-पूर्वक जँभाई लेकर पीठ को तानती हुई और पृथुल उरोजों को उभारती हुई उसने बाँहों को ऊपर गोलाकार बना लिया।

अथ कुट्टमितम्—

कुट्टमित मे नायिका मन ही मन प्रसन्न होती है, पर दिखाने के लिए कोप करती है, जब नायक उसका केश-ग्रहण और अधरपान करता है।

उदाहरण—उस नायिका के सीत्कार और शुष्क रोदन बधाई के योग्य है जिसके अधर को नायक ने उसकी अंगुलियो के प्रकम्पित होते हुए भी दन्तक्षत अर्पित किया था। वे (सीत्कार और रुदित) रति रूपी नाटक मे आने वाले विघ्नो की शान्ति के लिए नान्दीपाठ स्वरूप हैं, अथवा काम देव की आज्ञा के मधुर अक्षर स्वरूप है।

अथ बिब्वोक —

४१. गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्वोकोऽनादरक्रिया।

यथा ममैव—

सव्याज तिलकालकान् विरलयंल्लोलाङ्गुलि. संस्पृशन्
वारं वारमुदञ्चयन्कुचयुगप्रोदञ्चि नीलाञ्चलम्।
यद्भ्रूभङ्गतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकित—
स्तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुन कान्ते कृतार्थीकृत ॥

४१ बिब्वोक है नायक के अभीष्ट होने पर भी गर्व और अभिमान के कारण नायिका द्वारा उसका अनादर।

उदाहरण है धनिक की उक्ति—नायक नायिका को उलाहना देता है—बहाने से तिलक पर आये हुए केशपाश को हटाते हुए, चचल अगुलियो वाला (मैं) स्पर्श करते हुए उरोजद्वय को आवृत करते हुए नीलाञ्चल को बारबार खिसकाते हुए (मैं) तिरस्कारपूर्वक भ्रूभगी से लहराती हुई दृष्टि से अनादर पूर्वक तुम्हारे द्वारा देखा गया। मैं गर्व से तुम्हारे द्वारा तिरस्कृत हूँ। हे प्रियतमे, तुम्हारे द्वारा मैं कृतार्थ तो किया ही नहीं गया।

अथ ललितम्

सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥ ४१

यथा ममैव—

सभ्रूभङ्गं करकिसलयावर्तनैरालपन्ती
सा पश्यन्ती ललितललितं लोचनस्याञ्चलेन।
विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातै-
र्निस्सङ्गीत प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी ॥'

ललित है अङ्गों का सुकुमार विन्यास, जो रमणीय हो। ४१

उदाहरण है धनिक की उक्ति—नायिका का वर्णन है—उसकी वाणी के साथ भौं की भगिमा और कर किसलय की मुद्रायें होती हैं। देखती है तो लालित्य-पूर्वक कनखियो से। चलती है तो चरणकमलो को लीलापूर्वक धरती है। नये यौवन ने बिना सगीत के ही उस कमलनयनी को नर्तनमयी बना दिया है।

अथ विहृतम्

४२ प्राप्तकाल न यद् ब्रूयाद् व्रीडया विहृत हि तत ।

प्राप्तावसरस्यापि वाक्यस्य लज्जया यद्वचनन तद्विहृतम् । यथा

पादाङ्गुष्ठेन भूमि किसलयरुचिना सापदेश लिखन्ती
भूयो भूय क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचन लोलतारे ।
वक्त्र ह्रीनम्रमीपत्स्फुरदधरपुटं वाक्यगर्भं दधाना
यन्मा नोवाच किञ्चित्स्थितमपि हृदये मानसं तद् दुनोति ॥१३६

४२ अवसर आने पर यदि नायिका लज्जा के कारण कुछ बोले नहीं तो विहृत नामक अलङ्कार होता है ।

अवसरोचित बात को भी लज्जा के कारण मुँह से न निकालना विहृत है । उदाहरण है अमरुशतक म—नायक नायिका के सम्बन्ध म आपबीती सुनाता है—बहाने से हा नायिका पैर के किसलय जैसे सुन्दर अगूठे से भूमि पर रेखा बनाती हुई, बारबार मरे ऊपर चचल पुतली वाली चितकबरी दृष्टि डालती हुई, लज्जा से थोड़ा अवनत और स्फुरणशील होठ वाले कोई वाक्य भी अपने भीतर छिपाये हुए मुख वाली उस नायिका ने मुझसे कुछ भी नहीं कहा, जो उसके हृदय म था । यह सब मेरे मन को खिन्न बना रहा है ।

नेता के अन्य सहायक

अथ नेतु कार्यान्तरसहायानाह—

मन्त्री स्वं वोभय वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥४२

तस्य नेतुरर्थचिन्तायां तन्त्रावापादिलक्षणायां मन्त्री वात्मा वोभय वा सहाय ।

ही इस भ्रांति को जन्म दिया था यह कह कर कि नृप का सहायक राजा भी होता है।[1] अभिनवगुप्त ने इस असमंजस को दूर करने के लिए व्याख्या की कि इस कारिका में राजा का अभिप्राय युवराज है।[2] धनञ्जय के प्रयुक्त पद 'स्वम्' (राजा) को युवराज के लिए मानना समीचीन होगा।

यहाँ भरत और धनंजय दोनो ने सहायक की सूची में भ्राता को नहीं रखा—यह उनका अनवधान ही कहा जा सकता है। रामचरित से सम्बद्ध नाटकों में लक्ष्मण और वेणीसंहार में भीम और अर्जुन भातृकोटि के अनुत्तम सहायक हैं। प्रतिमा नाटक और कुन्दमाला के भरत इसी कोटि के श्रेष्ठ पुरुष हैं।

तत्र विभागमाह—

४३ मन्त्रिणा ललितः, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धय ।

उक्तलक्षणो ललितो नेता मन्त्र्यायत्तसिद्धिः । शेषा धीरोदात्तादय अनियमेन मन्त्रिणा स्वेन वोभयेन वाऽङ्गीकृतसिद्धये इति ।

४३ मन्त्री के द्वारा ललित कोटि के नायक को फल की प्राप्ति कराई जाती है। धीरोदात्तादि नायकों के लिए इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। मन्त्री के द्वारा स्वयं अपने प्रयास से या दोनों के मिले जुले प्रयास से उनको सफलता मिलती है।

धर्मसहायास्तु—

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिन ॥४३

ब्रह्म=वेदस्तं वदन्ति व्याचक्षते वा तच्छीला ब्रह्मवादिन , आत्मज्ञानिनो वा । शेषा प्रतीता ।

ऋत्विक् और पुरोहित नायक के धर्मकार्य में सहायक होते हैं। तपस्वी और ब्रह्मवादी भी ऐसे ही धर्मक्षेत्र के सहायक हैं।४३

ब्रह्म=वेद, उसकी जो व्याख्या करे या आचरण में उतारे वह ब्रह्मवादी है। वे आत्मज्ञानी कहे जाते हैं। शेष स्पष्ट है।

दुष्टदमनं दण्डः। तत्सहायास्तु—

४४· सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिका ।

स्पष्टम् ।

दण्ड है दुष्टों का दमन करना। इस काम के सहायक—

४४. सुहृत्, कुमार, आटविक, सामन्त और सैनिक हैं।

---

१. राजा सेनापतिश्चैव पुरोधा मन्त्रिणस्तथा ।
सचिवा प्राड्विवाकाश्च कुमाराधिकृतास्तथा ॥२४ ७४

२ युवराजोऽत्र राजशब्देनोक्त ।

एवं तत्तत्कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि । यदाह ।

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥४४

४५. म्लेच्छाभीरशकाराद्या. स्वस्वकार्योपयोगिन. ।

शकारो राज्ञ. श्यालो हीनजाति ।

इस प्रकार अन्य विविध कार्यों म अन्य सहायक बनाये जायें । यही बात कही गई है—

अन्त पुर मे वर्षवर (नपुंसक), किरात, मूक, वामन, म्लेच्छ, आभीर, शकारादि अपने अपने पद के अनुरूप कार्यों मे उपयोगी बनाये जाते हैं ।

शकार राजा का साला न च जाति का होता है ।

विशेषान्तरमाह—

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषा च त्रिरूपता ॥४५

४६. तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

एव नाट्ये विधातव्यो नायक सपरिच्छद. ॥४६

एवं प्रागुक्तानां नायकनायिकादूतदूतीमन्त्रीपुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावेन त्रिरूपता । उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयेन कि तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ।

नायको के अन्य भेद बताते हैं—

सभी (नायकों या कथापुरुषों) का तीन वर्गों में विभाजन होता है—ज्येष्ठ, मध्यम और अधम । इनका उत्तम आदि वर्गों में स्थान पाना पूर्वोक्त गुणों के तारतम्य मात्र से निर्धारित होता है ।

इस प्रकार नाट्य म नायक (राजा) अपने सहायकादि के साथ प्रस्तुत किया जाता है ।४६

आरभटी भारतीभेदाच्चतुर्विधा । तासां गीतनृत्यविलासकामोपभोगाद्युपलक्ष्यमाणो मृदु. शृङ्गारी वामफलावच्छिन्नो व्यापार कैशिकी।

नायक की व्याख्या समाप्त हो गई। नायक के व्यापार का विवरण दिया जाता है।

४७. नायक की व्यापारात्मिका वृत्ति चार प्रकार की होती है। उनमे से कैशिकी वृत्ति गीत, नृत्य, विलास आदि शृङ्गार-चेष्टाओ के कारण मृदु (कोमल) होती है।

नेता के व्यापार का स्वभाव वृत्ति है। अर्थात् नेता किस प्रकार का काम करता है—यह वृत्ति से व्यक्त होता है। वृत्ति और प्रवृत्ति एक है। वृत्ति चार प्रकार की होती है—कैशिका, सात्वती, आरभटी और भारती। इनमे से फल रूप मे काम को प्राप्त कराने वाले व्यापार—गीत, नृत्य, विलास, कामोपभोग आदि नाम से जाने जाते हैं। ये व्यापार स्वभावत मृदु और शृगारी होते है।

नान्दी टीका

वृत्ति का अभिप्राय व्यापार, व्यवहार या काम है। तद्व्यापारात्मिका में तत् नायक या कथापुरुष के लिए प्रयुक्त है। यहाँ उन्ही व्यापारो को वृत्ति के अन्तर्गत लिया जायेगा, जो फल प्राप्ति के साधक है।

वृत्तियाँ कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती हैं। इनम से कैशिकी गीत-वाद्यादि रजक शृंगार-प्रधान व्यापारो के लिए आती है, सात्वती शौर्य, त्याग आदि से सम्बद्ध व्यापारो के लिए प्रयुक्त होती है। आरभटी मे आवेगमय घटना होती है। भारती मे मौखिक व्यापार (भाषण) होता है। अभिनव गुप्त ने बताया है कि साधा-रणत ये वृत्तियाँ अकेली ही नही रहती, सकीर्ण रूप म मिलती है अर्थात् एक, दो या तीन वृत्तियाँ साथ-साथ चलती है। वृत्तियो मे वाङ्मन कायचेष्टायें साथ साथ रहती हैं। जिस प्रसग मे जिस प्रकार का व्यापार सबसे अधिक होता है, उसके नाम पर वहाँ वृत्ति का नाम दिया जाता है। करुण कथा से भी मन और शरीर के कुछ व्यापार रहते ही हैं, किन्तु वाग्व्यापार के बाहुल्य के कारण वहाँ भारतीवृत्ति होती है।

रूपक म वृत्ति आवश्यक रहती है, क्योंकि अभिनव गुप्त के अनुसार कथा व्यापार (वृत्ति) के बिना नहीं चलती।[१]

सा तु—

४८ नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका।

तदित्यनेन सर्वत्र नर्म परामृश्यते।

४८ कैशिकी वृत्ति के चार अङ्ग हैं—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ।

१. न हि किञ्चिद् व्यापारशून्यं वर्णनीयमस्ति। ना० शा० १८ ११० पर भारती।

तत् के प्रयोग के कारण स्फिञ्जादि के साथ भी तत् लग गया।

तत्र—

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥ ४८

४९. हास्येनैव स शृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा।
आत्मोपक्षेपसम्भोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥ ४९

५०. शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥ ५०

अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूप परिहासो नर्म। तच्च शुद्धहास्येन सशृङ्गार-हास्येन सभयहास्येन रचितं त्रिविधम्। शृङ्गारवदपि स्वानुरागनिवेदन-सम्भोगेच्छाप्रकाशन-सापराधप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव। भयनर्मापि शुद्धरसा-न्तराङ्गभावाद् द्विविधम्। एवं षडविधस्य प्रत्येकं वाग्वेषचेष्टाव्यतिकरेणाष्टा-दशविधत्वम्।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा कुमारसम्भवे

'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥' ७.१९

वेषनर्म नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे। क्रियानर्म यथा मालविका-ग्निमित्रे उत्स्वप्नायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पभ्रमकारणं दण्डकाष्ठं पातयति। एवं वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहार्यम्।

शृङ्गारवदात्मोपक्षेपनर्म यथा—

'मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजलं स्थित्वा पयः पीयतां
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवशः शीतः प्रपामण्डपः।
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्तां निजप्रेयसीं
त्वच्चित्तं तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिकाः ॥'

सम्भोगनर्म यथा गाथासप्तशत्याम्

'सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥' २.३०
('सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा।
अनिच्छतोऽपि पादौ धावति हसन्ती हसतः ॥')

माननर्म यथा शिशुपालवधे

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः।

मदधिवसतिमागा कामिना मण्डनश्री—
व्रजति हि सफलत्व वल्लभालोकनेन ॥' ११ ३३

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे 'सुसङ्गता—जाणिदो मए एसो सव्वोवुत्तन्तो सर्म चित्तफलएण ता देविए णिवेदइस्सम्' ('ज्ञातो मयैष सर्वो वृत्तान्त. सह चित्रफलकेन तद्द्व्यै निवेदयिष्यामि ।') इत्यादि।

शृङ्गाराङ्ग भयनर्म यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालोक सकलविफलोपायविभव—
शिचरं ध्यात्वा सद्य. कृतकृतकसरम्भनिपुणम् ।
इत. पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषं धूर्त स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम्' ॥'

४८-५० नर्म है नायक को अपना बना लेने के लिए कुशल काम-क्रीडायें। इसके तीन उद्भव स्थान हैं—हास्य, शृङ्गार और भय, जिसके अनुसार यह तीन प्रकार का होता है।

शृङ्गारी नर्म आत्मोपक्षेप (मन की बात कहना) सम्भोग और मान विशिष्ट होने से तीन प्रकार का होता है। भय दो प्रकार का होता है शुद्ध और अंग (किसी दूसरे रस का सहायक)। ये छ. (एक प्रकार का हास्य, तीन प्रकार का शृंगार और दो प्रकार का भय) पुन वाणी, वेष और चेष्टा के द्वारा प्रयोजित होने के आधार पर तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार नर्म १८ प्रकार का हुआ। ये सभी हास्य से युक्त होते हैं।

अग्राम्य (शिष्ट), इष्टजनावर्जन रूप (प्रिय को अपना बना लेना) ऐसा परिहास नर्म है। यह तीन प्रकार का होता है—शुद्ध हास्य, सशृङ्गारहास्य और सभय हास्य से रचित होने के कारण। शृङ्गार हास्य भी तीन प्रकार होता है—अपना प्रेम प्रकट करने से (आत्मोपक्षेप), सम्भोग की इच्छा को प्रकट करना और मान (अपराधी प्रियतम का प्रतिभेदन अर्थात् तर्जन और तिरस्कार) के द्वारा। भय नर्म भी शुद्ध भय और किसी दूसरे रस का सहायक बनकर आये हुए भय रूप में दो प्रकार का है। इस प्रकार जो छ भेद बने, वे वाक्, वेष और चेष्टा के सविधान में १८ प्रकार के हैं। वचोहास्यनर्म कुमारसम्भव में—

सखी ने पार्वती के चरणों को रग कर परिहास पूर्वक आशीर्वाद दिया कि इससे पति के सिर चढ़ी चन्द्रकला का स्पर्श करो। पार्वती ने माला से प्रहार कर उसे चुप कराया।

वेष नर्म का उदाहरण नागानन्द मे है विदूषक शेखरक के सविधान मे।

क्रियानर्म मालविकाग्निमित्र मे है। स्वप्न देखते हुए विदूषक के ऊपर निपुणिका ने सर्प की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला डण्डा गिरा दिया।

इसी प्रकार वाक्, वेष और चेष्टा सम्बन्धी उदाहरण प्रस्तुत हो सकते है। शृंगारात्मक आत्मोपक्षेप नर्म का उदाहरण—

पानी पिलाने वाली नायिका पथिक से आत्मानुराग व्यक्त करती हुई कहती है—दुपहरी यही बिताइये। पसीना तो सूखने दीजिये। थोडा रुककर पानी पीयें। यहाँ कोई नही है—ऐसी स्थिति मे विवश होकर चल न दें। प्याऊ प्रदेश शीतल है। दु सह काम के प्रखर बाण से पीडित अपनी घरवाली प्रेयसी का स्मरण करते रहे। हे पथिक, प्राय प्याऊ की स्त्रियाँ आपके चित्त का रजन करने मे असमर्थ होगी।

सम्भोग नर्म का उदाहरण गाथा सप्तशती मे—सूर्य अभी डूबा भी नही था कि हँसती हुई गृहिणी हँसते हुए गृहस्वामी के पैरों को उसके न चाहते हुए भी धोने लगा।

माननर्म का उदाहरण शिशुपालवध मे—मानवती नायिका नायक से कहती है।—

तुमने यह सच ही कहा था कि मैं तुम्हारा प्रिय हूँ। अपनी अन्य प्रिया के धारण किये हुए दुकूल को पहने हुए मेरे आवास पर आ पहुँचे हो। वस्तुत कामियो के मण्डन की शोभा वल्लभा के देखने से ही सफल होती है।

शुद्ध भय नर्म का उदाहरण रत्नावली मे चित्रदर्शन के अवसर पर इस प्रकार है—

सुसगता—(नायक से) मेरे द्वारा सारा वृत्तात (सागरिका के प्रति नायक का अनुराग विषयक) जान लिया गया। साथ ही चित्रफलक का वृत्तान्त भी ज्ञात हो चुका। यह सब महादेवी को बताती हूँ। (यह सुनकर विदूषक और राजा का भय हो गया।) शृङ्गार के अगभूत भय नर्म का उदाहरण धनिक की उक्ति है—धूर्त नायक का वर्णन है—उसके अपराध प्रकट हो चुके हैं। उसके नायिका को प्रसन्न करने के सारे उपाय विफल हो चुके हैं। फिर तो कुछ देर विचार करके और नकली घबराहट का बहाना करके उसने नायिका को यह कहकर डराया कि यह पीछे क्या है ? यह सुनते ही नायिका उससे आश्लिष्ट हो गई। तब तो उस धूर्त ने हँसते हुए मधुरता-पूर्वक उस वधू को चिपकाये हुए आलिंगन किया।

अथ नर्मस्फिञ्ज —

५१ नर्मस्फिञ्ज. सुखारम्भो भयान्तो नवसङ्गमे।

यथा मालविकाग्निमित्रे सङ्केते नायकमभिसृताया नायिका —

'विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥' ४ १३
'मालविका—भट्टा देवीए भयेण अत्तणो वि पिअं काउं ण पारेमि।'
('भर्त'. देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि।') इत्यादि।

५१ नर्मस्फिञ्ज नायक नायिका के नये समागम मे वह शृङ्गार-व्यापार है, जिसके आरम्भ मे सुख हो किन्तु अन्त मे भय हो।

उदाहरण —मालविकाग्निमित्र म नायिका के नायक के पास अभिसार करने पर नायक कहता है —

हे सुन्दरि, सगमोचित घबराहट को छोडा। बहुत समय से तुम्हारे प्रणय मे मेरे प्रवृत्त होने पर सहकार (आम्र वृक्ष) के समान मुझ पर तुम अतिमुक्त (माधवी) लता क समान परिग्रहण करो।

मालविका — स्वामिन्, देवी के भय से मैं अपने लिए भी सुखप्रद काम नही कर पा रहा हूँ। इत्यादि

नान्दी टीका

नर्मस्फिञ्ज मे अस्थायी सम्भोग की स्थिति नायिका को ईषत्प्राप्ति मे होती ह। इसमे पूर्वनायिका के द्वारा नायक और नायिका को भय रहता है। स्फिञ्ज का अर्थ है बाधा या विघ्न।

अथ नर्मस्फोट —

नर्मस्फोटस्तु भावाना सूचितोऽल्परसो लवै. ॥५१

यथा मालतीमाधवे— मकरन्द —

गमनमलसं शून्या दृष्टि शरीरमसौष्ठवं
श्वसितमधिकं किं न्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवन
ललितमधुरास्ते ते भावा क्षिपन्ति धीरताम् ॥' १·२०

इत्यत्र गमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुराग. स्तोक. प्रकाश्यते।

नर्मस्फोट है विविध भावो के लव (अपूर्ण प्रादुर्भाव) के द्वारा रस (हास्य) की अल्प (अपूर्ण) सूचना मात्र अर्थात् रस की पूर्ण निष्पत्ति नहीं होती।

उदाहरण है मालतीमाधव मे मकरन्द की उक्ति—

(माधव का) गमन स्फूर्ति-रहित है। दृष्टि शून्य (रुचिरहित) है, शरीर प्रसाधनरहित है। साँस अधिक चल रही है। यह पहचानना कठिन हो गया है कि यही (प्रेम) कारण है या अन्य कोई। ससार मे कामदेव की आज्ञा प्रचारित है कि यौवन विकारपूर्ण है। वे ललित और मधुर भाव धैर्य को विघटित कर देते हैं। इसमे गमनादि अपूर्ण भावो से माधव का मालती मे अनुराग अधूरा ही व्यक्त हो पाता है।

नान्दी टीका

नर्मस्फोट मे नव नायिका विषयक नायक का व्यापार नर्मस्फिञ्ज की अपेक्षा कुछ अधिक विकसित होता है, किन्तु पूर्ण रूप से नहीं। विभाव के स्तोकमात्र

(अपर्याप्त रूप से प्रभावशाली) होने के कारण भाव आंशिक रूप से प्रकट होते हैं, समग्रतया नहीं। भयानक, हास्य, रौद्रादि रसों के स्थायी भाव संचारी की स्थिति में ही रह जायेंगे।

स्फोट का अर्थ विकास है। नर्मस्फोट प्रणय का विकास है। इस वृत्ति में यहाँ हास लव होगा हास रस नहीं।

अथ नर्मगर्भः —

५२. छन्ननेतृप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ।

यथामरुशतके—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छल ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्त्तोऽपरां चुम्बति ॥'१८

यथा (च) प्रियदर्शिकायां गर्भाङ्के वत्सराजवेषमनोरमास्थाने साक्षाद्वत्सराजप्रवेशः।

५२. नर्म गर्भ है काम बनाने के लिये नेता का रहस्यमय व्यवहार।

उदाहरण है अमरुशतक में

अपनी दो नायिकाओं को साथ ही आसन पर बैठा देख कर पीछे से आकर नायक ने काम क्रीडा करने का छल करते हुए एक नायिका की दोनों आँखें बन्द कर दी। पुलकित होकर अपने कन्धे को थोड़ा टेढ़ा करके धूर्त नायक ने दूसरी नायिका का चुम्बन लिया, जिसका मन प्रेम के कारण खिल रहा था और कपोल आन्तरिक हास्य से शोभित हो रहे थे।

प्रियदर्शिका में गर्भाङ्क में वत्सराज के वेष में आने वाली मनोरमा के स्थान पर साक्षात् वत्सराज का प्रवेश करना नर्मगर्भ है।

अंगः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषात्र कैशिकी ॥५२

पूर्वोक्त हास्ययुक्त और हास्य रहित अंगों से यह कैशिकी पूरी हुई।५२

नान्दी टीका

नायिका से नवसंगम की सिद्धि की दिशा में नर्मगर्भ में प्रणय व्यापार नर्मस्फोट की स्थिति से अधिक विकसित होता है। दूसरी नायिका से प्रच्छन्न रह कर नायक नायिका का संगम प्राप्त कर लेता है। प्रच्छन्नता के लिए नायक अद्भुत उपाय (विशेष विधान) का सहारा लेता है। यहाँ विधान के गर्भ में होने के कारण नर्मगर्भ नाम सार्थक है।

धनञ्जय कैशिकी वृत्ति के निर्हास्य रूप की सम्भावना को बनाते हैं। वस्तुतः

नर्म मे हास्य आवश्यक अङ्ग है, जैसा अभिनवगुप्त ने कहा है।[1] अतएव धनञ्जय की निर्हास्य-कैशिकी-विषयक मान्यता पुष्ट नही प्रतीत होती।

अथ सात्त्वती—

५३ विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवै.।

सलापोत्थापकावस्या साङ्घात्य. परिवर्तक: ॥५३

शोकहीन सत्त्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापार: सात्त्वती। तदङ्गानि च संलापोत्थापकसाङ्घात्यपरिवर्तकाख्यानि।

५३. सात्त्वती शोकरहित होती है। सत्त्व, (शुचिता) शौर्य, त्याग, दया और औचित्य के द्वारा निष्पन्न होती है। इसके चार प्रकार होते हैं—सलापक, उत्थापक, साघात्य और परिवर्तक।५३

शोक रहित सत्त्व-शौर्य-त्याग-दया-ह-ादि भावो के कारण नायक का उत्कृष्ट व्यापार सात्त्वती है। उसके अग सलापादि है।

नान्दी टीका

कैशिकी वृत्ति प्रणयात्मक रूपको मे होती ह और सत्त्वती वीरोचित रूपको मे स्थान पाती है।

इसमे सात्त्विकता के लिए शौर्य, त्याग, दया, आर्जव आदि वीर रसोचित तत्त्व ता समीचीन है, जैसा धनञ्जय ने बताया है। कठिनाई आती है भरत के मत का समन्वय करने मे। वे रौद्ररस का भी सात्त्वती मे समाहित करते हुए उद्धतपुरुषो के कार्यो को भी रखने के पक्ष मे है।[2] वस्तुत रौद्ररस और उद्धत पुरुष के कार्य आरभटी वृत्ति म होने चाहिए। यहाँ भरत का मत समीचीन नही लगता।

इसमे सात्त्विक अभिनय सविशेष होना है। सात्त्वती के चारो भेदो म युद्ध, दान आदि व्यापारो का प्रत्यक्ष समावेश नही है, कोरी तत्सम्बन्धी बाह्य परिस्थितियो की मौखिक चर्चामात्र है—यह अभाव प्रतीत होता है।

तत्र—

५४ सलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथ.।

यथा वीरचरिते—'राम —अयं स य. किल सपरिवारकार्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृत परशु। परशुराम —राम राम दाशरथे! स एवायमाचार्यपादाना प्रिय. परशु —

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणाना

सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमार.।

---

१ हास्यप्रवचन-बहुल नर्म।

२ वोराद्भुतरौद्ररसा निरस्तश्रृंगार—करुण निर्वेदा। उद्धतपुरुषप्राया परस्पराधर्षणकृता च ॥२०.४३ अभिनवगुप्त के अनुसार भी 'सत्त्वं प्रकाश, तद्विद्यते यत्र, तत् सत्त्व मन'। तस्मिन् भवः सात्त्वत: सत्त्वोत्थानस्य सत्त्वाधारस्य वचन येषु प्रकरणेषु।' ऐसा प्रकाश रौद्र मे कैसे रहेगा?

एतावतापि परिरभ्य कृतप्रसाद
प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान्गुरुर्मे ।।'२ ३४

इत्यादिनानाप्रकारभावरसेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगभीरवचसा संलाप इति।

सलापक गम्भीर उक्ति है, जिसमे नाना भाव और रस एक दूसरे के बाद होते हैं।

महावीर चरित मे उदाहरण है—राम यह वह परशु है, जिसे सपरिवार कार्तिकेय की विजय से प्रसन्न भगवान् शिव के द्वारा सहस्र वर्षों तक शिष्य रहने वाले आप के लिए पुरस्कार रूप मे दिया गया। परशुराम—राम, राम दशरथ के पुत्र, यह वही आचार्य का प्रिय परशु है। शस्त्रप्रयोग की प्रतियोगिता होने पर गण सना मे घिरे कुमार को मैंने जीत लिया था। ऐसा करने पर भी गुणो से प्रेम करने वाले प्रसन्न, भगवान् मेरे गुरु (शिव) ने आलिगन करके इसे मुझे दिया था। इत्यादि नाना प्रकार के भाव और रस से युक्त राम और परशुराम की परस्पर गम्भीर वाणी सलाप है।

नान्दी टीका

सलापक की धनञ्जय का परिभाषा अपूर्ण है। इसमे वीररसोचित कोई लक्षण आया हो नहीं है, जिसके बिना इसका सात्त्वती का अग होना असम्भव है। भरत के अनुसार इसमें अधिक्षेप वचन होना चाहिए।[1] यही अधिक्षेप वीररस का कारण है।

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत्परम् ।।५४

यथा वीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं नु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः ।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
रस्मिन्विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहो धनुर्जृम्भताम् ।।'५ ४६

उत्थापक मे युद्ध के लिए वीर दूसरे वीर को उत्तेजित करते हैं।

जैसे महावीरचरित मे वालि राम से कहते है—तुम्हारा दर्शन आनन्द विस्मय या दुःख का कारण है, किन्तु तुम्हारे दर्शन से मेरी आँखों को अभी क्यों कर तृप्ति नहीं हो रही है? तुम्हारी सगति-सुख का मैं विषय नहीं हूँ। फिर बहुत कहने से क्या? तुम तो धनुष को परशुराम के विजय से प्रसिद्ध बाहु म प्रत्यञ्चित करो।

५५. मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीना चाणक्येन स्वबुद्ध्या

---

१. साधिक्षेपालापो ज्ञेय सलापकः सोऽपि। ना० शा० २० ४८

भेदनम् अर्थशक्त्या तत्रैव यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुसहोत्थायिभेदनम् दैवशक्त्या तु यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद्विभीषणस्य भेद इत्यादि ।

५५. सांघात्य संघभेदन (फोड़ना) है मन्त्र, अर्थ (धनादि), दैव या शक्ति आदि के प्रयोग द्वारा ।

मन्त्रशक्ति से मुद्राराक्षस मे राक्षस के सहायको को चाणक्य ने अपनी बुद्धि से फोड दिया । इसी नाटक मे अर्थशक्ति से पर्वतक के आभरण को राक्षस के हाथो मे पहुँचा कर मलयकेतु के साथ फूट हो जाती है । रामायण मे दैवशक्ति से रावण मे विभीषण की फूट हो जाती है ।

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात्परिवर्तकः ।। ५५

प्रस्तुतस्योद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरण परिवर्तकः । यथा वीरचरिते—

'हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति
वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छनं मे ।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत्सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ।।'

राम —'भगवन् ! परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतत् ।' इत्यादि ।२ २८

परिवर्तक है हाथ मे लिए हुए उत्थान (अभ्युदयात्मक) कार्य को छोड़कर अन्य काम करने लगना ।५५

परिश्रम का काम छोड कर कुछ और ही करने लगना परिवर्तक है । जैसे महावीरचरित मे— परशुराम राम से कहते है—

गणेश के मुसल के समान दांत से काढी हुई एक भित्ति वाला और कार्तिकेय के बाण मे बने घाव के चिह्न वाला मेरा वक्षःस्थल तुम्हारे जैसे अनुपम वीर के मिलने स रोमाञ्चित हो गया है, जिससे सचमुच यह तुम्हारा आलिंगन करना चाहता है ।

राम—भगवन्, आलिंगन यह तो प्रस्तुत कार्यक्रम से विपरीत पडेगा ।

सात्वतीमुपसंहरन्नारभटीलक्षणमाह—

५६ एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्त्वत्यारभटी पुन. ।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।।५६

५७. सक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

माया=मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनम्, तन्त्रबलादिन्द्रजालम् ।

सात्वती का उपसहार करके आरभटी का लक्षण बताते हैं—

५६ पूर्वोक्त अङ्गों से सात्वती चार प्रकार की निष्पन्न हुई। आगे आरभटी माया, इन्द्रजाल, युद्ध, क्रोध और पैंतरेबाज़ी की चेष्टायें होती हैं। इसके चार प्रकार— संक्षिप्तिका, सम्फेट, वस्तूत्थान और अवपातन होते हैं।

माया है मन्त्र के द्वारा अविद्यमान वस्तु को प्रकट करना। तन्त्र से इन्द्रजाल होता है।

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥५७
५८. पूर्वनेतृनिवृत्त्याऽन्ये नेवन्तरपरिग्रह. ।

मृद्वंशदलचर्मादिद्रव्ययोगेन वस्तूत्थापनं संक्षिप्ति । यथोदयनचरिते किलिञ्जहस्तियोग । पूर्वनायकावस्थानिवृत्त्यावस्थान्तरपरिग्रहमन्ये संक्षिप्तिका मन्यन्ते। यथा वालिनिवृत्त्या सुग्रीव । यथा च परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम् पुण्या ब्राह्मणजाति —'इत्यादिना

संक्षिप्तिका है शिल्प के द्वारा मायात्मक वस्तु की रचना। इसकी दूसरी परिभाषा कही जाती है। पहले से चली आती हुई नायक की अवस्था को हटा कर नई अवस्था को ग्रहण करना।

मिट्टी, बाँस, पत्ते, चम आदि द्रव्य को लगाकर कोई वस्तु बना देना संक्षिप्ति है। जैसे उदयनचरित म चटाई के हाथी का योग (छल, उपाय) जैसे बालि को हटाकर सुग्रीव को लाना। दूसरा उदाहरण है—परशुराम के औद्धत्य को दूर करके शान्त बना देना। 'पुण्या ब्राह्मणजाति ' इत्यादि में यह स्पष्ट है।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने अन्य आचार्यों की संक्षिप्ति की परिभाषा भी उद्धृत की है कि पहले के नेता को हटाकर दूसरे नेता को रख लेना संक्षिप्ति है। इसका उदाहरण देते हुए धनिक ने बताया है कि जैसे बालि को हटाकर सुग्रीव को नेता बना दिया गया है। मेरी दृष्टि में धनंजय ने अन्य आचार्यों की जो परिभाषा उद्धृत की है, वह सर्वथा ठीक है, किन्तु धनिक का उदाहरण ठीक नहीं है। आरभटी का कपट-वञ्चनापना भी तो होना चाहिए। इस कापटिक प्रयोग के द्वारा किसी नायक के स्थान पर दूसरा नायक लाना संक्षिप्ति है। इसका उदाहरण दूताङ्गद में सीता के स्थान पर माया सीता को प्रस्तुत करना संक्षिप्ति का ठीक उदाहरण है। इसी प्रकार सूर्य और संज्ञा की कथा में संज्ञा के स्थान पर छाया को रख देना संक्षिप्ति है।

संफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसरब्धयोर्द्वयो ॥५८

यथा माधवाघोरघण्टयोर्मालतीमाधवे। इन्द्रजिल्लक्ष्मणयोश्च रामायण-प्रतिबद्धवस्तुषु।

सम्फेट है क्रोध और आवेश मे आये हुए नायक और प्रति नायक का एक दूसरे को चोट पहुँचाना ।५८

जैसे मालतीमाधव मे माधव और अघोरघण्ट की लडाई। रामायणविषयक काव्यो मे इन्द्रजित् और लक्ष्मण की लडाई।

५६. मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघवे—

जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
भास्वन्त सकला रवेरपि कराः कस्मादकस्मादमी ।
एताश्चोग्रकबन्धरन्ध्ररुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चत्याननकन्दरानलमितस्तीव्रारवा फेरवा ॥

इत्यादि ।

५६ वस्तूत्थापन है माया आदि के द्वारा कृत्रिम वस्तु को प्रकट करना ।

जैसे उदात्तराघव मे—क्योकर एकाएक सूर्य की सभी प्रकाश-पूर्ण विजयिनी किरणें आकाश मे व्याप्त घनी अन्धकार राशि से परास्त हो रही हैं ? भय उत्पन्न करने वाले धड के छिद्र के रक्त से अपने पेट को फुलाये हुए प्रखर हुँआस भरने वाले सियार मुखरूपी कन्दरा से अग्नि का उद्गार कर रह हैं। इत्यादि

अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवै ॥५६

यथा रत्नावल्याम्—

कण्ठे कृत्वावशेषं कनकमयमध शृङ्खलादाम कर्षन्
क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणरणत्किङ्किणीचक्रवाल ।
दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणि सम्भ्रमादश्वपालै
प्रभ्रष्टोऽयं प्लवङ्ग प्रविशति नृपतेर्मन्दिरं मन्दुरात ॥२.२
नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपा—
मन्त कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामन ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृश नाम्न किराते कृते
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किन ॥२ ३
यथा च प्रियदर्शिकायाम् प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेरववस्कन्दे ।

अवपात बाहर जाने, भीतर आने के त्रास और भगदड से लक्षित होता है ।५६

जैसे रत्नावली मे चूलिका है—बन्धन-विमुक्त यह वानर अश्वशाला से भागते हुए राजभवन मे प्रवेश कर रहा है। टूटने से शेष बची हुई सोने की साँकल कण्ठ मे नीचे की ओर घसीट रहा है। लीलापूर्वक चचल चरणो मे उसकी किकणी का मण्डल

रनझुन कर रहा है। हाथी आतंकित हैं। घबराये हुए साईस पकड़ने के लिए उसका पीछा कर रहे हैं।

नपुंसक भाग खड़े हुए बिना किसी लज्जा के, क्योंकि मनुष्यों में उनकी गणना नहीं होती। यह बौना डर के मारे कंचुकी के कंचुक में छिपा जा रहा है। किरात ने अपने नाम के अनुरूप ही काम किया कि दूर जा खड़ा हुआ। कुबड़े देखे जाने के भय से धीरे धीरे और भी झुके हुए चले जा रहे हैं।

अन्य उदाहरण प्रियदर्शिका के प्रथम अङ्क में है विन्ध्यकेतु का आक्रमण।

उपसंहरति—

> ६०. एभिरङ्गैश्चतुर्धेयम्, नार्थवृत्तिरतः परा।
> चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे॥ ६०
> ६१ कैशिकी सात्त्वती चार्थवृत्तिमारभटीमिति।
> पठन्त पञ्चमी वृत्तिमौद्भटा. प्रतिजानते॥ ६१

सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते न चोपपद्यते। रसेषु, हास्यादीनां भारत्यात्मकत्वात् नीरसस्य च काव्यार्थस्याभावात्। तिस्र एवैता अर्थवृत्तय। भारती तु शब्दवृत्तिरामुखाङ्गत्वात्तत्रैव वाच्या।

६० पूर्वोक्त अङ्गों से आरभटी चार प्रकार की हुई। इन तीन कैशिकी, सात्वती और आरभटी के अतिरिक्त कोई अर्थवृत्ति नहीं होती। चौथी वृत्ति भारती है, जिसकी चर्चा नाटक की परिभाषा करते समय करेंगे। ६०

कैशिकी, सात्वती और आरभटी इन अर्थवृत्तियों की गणना करते हुए उद्भट सम्प्रदाय के नाट्यशास्त्राचार्य पाँचवी वृत्ति भी बताते हैं।

यह पाँचवी वृत्ति नाटकादि लक्ष्य ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलती। रस प्रसंग में उसकी सिद्धि भी नहीं होती। हास्यादि रस भारती-मय है। यदि कहा जाय कि पाँचवी वृत्ति रस सम्पृक्त नहीं है तो हमारा उत्तर है कि नीरस रचना काव्य ही नहीं होती और अकाव्य की वृत्ति का हम विचार नहीं करते। अर्थवृत्तियाँ तीन ही हैं। भारती शब्दवृत्ति है, क्योंकि यह आमुख का अंग होती है। आमुख के साथ उसका लक्षणादि दिया जायगा।

> ६२ शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्वत्यारभटी पुन.।
> रसे रौद्रे च बीभत्से, वृत्तिः सर्वत्र भारती॥ ६२

शृंगार रस में कैशिकी, वीर रस में सात्वती, रौद्र और बीभत्स में आरभटी वृत्ति होती है। भारती वृत्ति सभी रसों में होती है।

नान्दी टीका

किसी वृत्ति मे कौन रस हो—इस सम्बन्ध मे धनञ्जय ने भरत के मत का अनुसरण नहीं किया है, जैसा नीचे लिखी कारिका से स्पष्ट होता है।[1]

वृत्ति	धनञ्जय के अनुसार रस	भरत के अनुसार रस
कैशिकी	शृङ्गार	हास्य तथा शृगार
सात्वती	वीर	वीर तथा अद्भुत
आरभटी	रौद्र तथा वीभत्स	रौद्र तथा भयानक
भारती	सभी रस	बीभत्स तथा करुण

भरत के अनुसार नाटक और प्रकरण मे सभी वृत्तियाँ होती है, शेष रूपको मे कैशिकी वृत्ति नहीं होती।[2] इस मत को भरत ने सभी स्थलो मे दृष्टि मे नही रखा। वे वीथी मे कैशिकी वृत्ति मानते हैं जो उन्ही के बनाये नियम के प्रतिकूल पडता है।

प्रवृत्ति

देशभेदभिन्नवेषादिस्तु नायकादिव्यापार प्रवृत्तिरित्याह—

६३. देशभाषाक्रियावेषलक्षणा स्यु प्रवृत्तय ।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्य प्रयोजयेत् ॥ ६३

प्रवृत्ति नायकादि का ऐसा व्यापार है, जो उसके किसी विशिष्ट देश का होने के कारण उसके विशिष्ट वेषादि मे प्रकट होती है।

६३ प्रवृत्तियाँ किसी विशिष्ट देश की विशिष्ट भाषा, क्रिया (जीविका के साधन) और वेष से परिलक्षित होती हैं प्रवृत्ति विषयक व्यापार-वैचित्र्य को लोक से हो जान कर यथोचित प्रयोग करे।

तत्र पाठ्य प्रति विशेष —

६४. पाठ्य तु सस्कृत नृणामनीचाना कृतात्मनाम् ।
लिङ्गिनीना महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययो. क्वचित् ॥ ६४

क्वचिदिति देवीप्रभृतीना सम्बन्ध ।

६४ (अनीच, उत्तम और मध्यम) कोटि के सुसस्कृत पुरुष पात्र सस्कृत बोलें। स्त्रियों मे से साधुनी, महादेवी, मन्त्रिकन्या और वेश्या कहीं-कहीं सस्कृत बोलेंगी। ६४

१ हास्य शृगार बहुला कैशिकी प्रतिपादिता
सात्वती चापि विज्ञेया वीराद्भुतसमाश्रया ।
रौद्रे भयानके चैव विज्ञेयारभटी बुधै ।
बीभत्स करुणे चैव भारती सम्प्रकीर्तिता ॥ ना० शा० २० ७३, ७५

२ ना० शा० १८ ७ ८

७२ चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावानशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा यो वा न देव.शशिखण्डमौलि. ॥७२

दिङ्मात्रं दर्शितमित्यर्थ । चेष्टा लीलाद्या , गुणा विनयाद्या , उदाहृतय संस्कृतप्राकृताद्या उक्तय , सत्त्वं निर्विकारात्मकं मन', भाव सत्वस्य प्रथमो विकारस्तेन हावादयो ह्युपलक्षिता ।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य द्वितीय प्रकाश समाप्त ॥

नेता की अवस्था के अनुसार वैविध्य युक्त चेष्टा, गुण, सवाद, सत्व और भावों को पूर्णतया बताने मे कौन समर्थ हो सकता है, जो शिव या भरत न हो।

आचार्य का मन्तव्य है कि ये विषय सक्षेप मे बताये गये है। चेष्टा = लीलादि। गुण = विनयादि। उदाहृति = सस्कृत और प्राकृत की उक्तियाँ। सत्त्व = निर्विकार मन। भाव — सत्त्व का प्रथम विकार—इससे हाव, आदि भी ग्रहण किये जायँ।

अथ तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलङ्घनेन वस्तुनेतृरसाना विभज्य नाटकादिषूपयोग प्रतिपाद्यते—

१. प्रकृतित्वादथान्येषा भूयोरसपरिग्रहात ।
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥१

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्मणा प्रकरणादीना प्रकृति.। शेष प्रतीतम् ।

तत्र —

रस का विवरण देने म बहुत अधिक कहना पडेगा । अतएव उसे अभी छोडकर वस्तु, नेता और रस का उपयोग प्रथक रूपक-विधा मे अलग-अलग बताया जाता है ।

१ सबसे पहले नाटक का लक्षण दिया जाता है, क्योंकि यह अन्य शेष रूपक-भेद का मूल है, इसमे रस का संग्रह सविशेष रहता है और सब प्रकार के रूपकों के लक्षण इसमे समाविष्ट हैं अर्थात् रूपक-तत्त्व पूर्णत नाटक मे ही मिलता है ।

उद्दिष्ट (विशेष रूप से वर्णित) लक्षण वाला नाटक शेष अपरविध वर्णित प्रकरणादि रूपको की प्रकृति है ।

२ पूर्वरंग विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नट. ॥२

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्ग, उत्थापनादिप्रयोग । प्रथम प्रयोगे तद् उत्थापनादौ पूर्वरंगत्वम् ।

तं विधाय विनिर्गते प्रथम सूत्रधारे तद्वदेव वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्यान्यो नट काव्यार्थं स्थापयेत्[१] । स च काव्यार्थस्थापनात् सूचना-स्थापक ।

२ प्रारम्भ मे सूत्रधार के पूर्वरंग विधि पूरा करके चले जाने पर उसके समान दूसरा कोई नट काव्य (रूपक) की स्थापना करे ।२

---

१. जघा को थोडा कुटिल करके, दोनो पैरों को ढाई ताल एक दूसरे से दूर रखते हुए एक जाघ को टेढा करके शरीर को सीधा खडा रखने हुए वैष्णवस्थानक मुद्रा है । ना० शा० १० ५२,५३ मे विशेष विवरण ।

सबसे पहले जिसम (प्रक्षकों का) मनोरजन हो वह पूर्वरङ्ग है। पूवरङ्ग है उत्थापनादि प्रयोग। यह नाट्यशाला म होता है। प्रथम प्रयोग हाने से उत्थापनादि को पूवरङ्ग नाम दिया गया है। पूर्वरङ्ग को सम्पादित करक पहले सूत्रधार के चल जाने पर उसी के समान वैष्णवस्थानक मुद्रा मे प्रवेश करके दूसरा नट काव्य क अर्थ (रूपक की कथावस्तु की सकेतात्मक बात) को स्थापना करता है। उसको काव्य के अर्थ (विषय) की स्थापना करने अर्थात् सूचना देने के कारण स्थापक कहते हैं।

नान्दी टीका

(क) धनञ्जय ने पूवरङ्ग के विषय म कुछ नही कहा है। पूर्वरग का सत्तामात्र स्वीकार करते है। उनका यह प्रकरण पूवरग की विषय-वस्तु के पश्चात् आरम्भ होता है। पूवरग को छोड देना शास्त्रीय वितण्डवाद से धनञ्जय ने भल *ही ठाक मान लिया हो किन्तु प्रत्येक रूपक के अभिनय मे इसकी आरम्भिक महिमा* मविशय है। सम्भवत यह देखते हुए धनिक ने धनञ्जय की इस त्रुटि का अशत परिहार करते हुए लिखा है पूव रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्ग। अर्थात् जिस कायक्रम मे प्रेक्षकादि का सर्वप्रथम मनोरजन होता है, वह पूवरङ्ग है।

(ख) यहाँ धनिक के द्वारा प्रस्तुत अवलोक नामक टीका का प्राय सभी प्रकाशित सस्करणों म त्रुटिपूण पाठ है। भ्रमवश आधुनिक सम्पादकों और टीकाकारा ने त्रुटिपूर्ण पाठ को लेकर अवलोक के इस अश का अनर्थ कर डाला है कि पूर्वरङ्ग नाट्यशाला है। जैसा मूल पाठ यहाँ प्रस्तुत किया गया है पूर्वरंग उत्थापनादि प्रयाग है। पूवरङ्ग क नाट्यशाला हाने की बात सर्वथा निराधार है।

(ग) रूपका के आरम्भ म जा पूर्वरग नामक विधान होता था उसकी परिभाषा भरत न स्पष्ट दी है—

यस्माद्रङ्गे प्रयागोऽय पूवमेव प्रयुज्यत।
तस्मादय पूर्वरगो विज्ञेयो द्विजसत्तमै ॥ ५७

अर्थात् रङ्ग (नाट्यशाला) म यह प्रयोग (पूजापाठादि समारम्भ) सबस पूर्व (पहले) किया जाता है, अतएव इसे पूवरङ्ग कहते हैं।

(घ) रूपकों के लगभग २० अङ्गो मे स नान्दी नियत और प्रस्तावना का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। धनञ्जय न नान्दी के विषय म कुछ भी नही लिखा है, फिर भी इसक महत्त्व का ध्यान म रखते हुए भरत के नाट्यशास्त्र म प्रस्तुत नान्दी का परिभाषा नीचे दी जा रही है।

नान्दी

आशीर्वचन-संयुक्ता नित्य यस्मात् प्रयुज्यते।
देव द्विज-नृपादीनां तस्मान्नान्दीति सञ्ज्ञिता ॥

सूत्रधार पठेत्तत्र मध्यम स्वरमाश्रित ।
नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टाभिर्वाप्यलङ्कृताम् ।।
नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्य शुभ तथा ।
जित सोमेन वै राजा शिवगोब्राह्मणाय च ।
ब्रह्मोत्तर तथैवास्तु हता ब्रह्मद्विषस्तथा ।
प्रशास्त्विमा महाराज पृथ्वीं च ससागराम् ।।
राष्ट्र प्रवर्धता चैव रगस्याशा समृद्ध्यतु ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान् धर्मो भवतु ब्रह्मभाषित ।।
काव्य कर्तुर्यशश्चास्तु धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।
इज्यया चानया नित्य प्रीयन्ता देवता इति ।।

ना० शा० ५ २४,१०६ ११०

अर्थात् देव, द्विज, नृप आदि के लिए आशीर्वाद के रूप मे नान्दी होती है। बारह या दस पद वाली नन्दी होती है। इसका पाठ स्वय सूत्रधार मध्यम स्वर मे करता है। सभी देवताओ को नमस्कार, द्विजातियो का कल्याण, राजा को विजयश्री गौ और ब्राह्मण को शुभ—ऐसी भावनायें नान्दी के द्वारा सूत्रधार व्यक्त करता है।

वेद या ब्रह्मविद्या को सर्वोपरि उन्नति हो। वेद द्वेषी का अभ्युदय न हो। महाराज सागर तक पृथ्वी का शासन कर। राष्ट्र उन्नति करे, रग स सम्बद्ध सभी जन—सभापति, सभ्य, गायक, वादक, नटी, नट आदि को कामनायें पूर्ण हो। प्रेक्षागार बनवाने वाले को वेदोक्त महान् धर्म की प्राप्ति हो। रूपक लिखने वाले को यश मिले, धर्म का अभ्युदय हो। इस नाट्ययज्ञ स सभी देवता प्रीति प्राप्त करें।

रगद्वार

भावी रूपक का द्वार—रूपक रगद्वार होता है, जहाँ स अभिनय का प्रारम्भ होता है।

त्रिगत

त्रिगत का तात्पर्य है तीन पुरुषो क बीच हुई बातचीत। तीन पुरुष हैं – सूत्रधार, पारिपार्श्वक और विदूषक। ये भावी नाटक के विषय मे चर्चा करते हैं।

प्ररोचना

प्ररोचना मे काव्य की कथा को सूचना दी जाती है और अभिनय की सफलता से सबकी प्रीति की कामना की जाती है।

भरत के अनुमार नान्दी, त्रिगत और प्ररोचना पूर्वरंग के अङ्ग हैं।

धनञ्जय की इस ३.२ कारिका के अनुमार यहां पूर्वरंग समाप्त हो चुका है और उसके पश्चात् नट काव्य की स्थापना करता है। इसके पश्चात् धनञ्जय ३.६ में प्ररोचना का विवरण देते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे प्ररोचना को पूर्वरंग का अङ्ग नहीं मानते। भरत ने प्ररोचना को पूर्वरंग का अङ्ग माना है।[1] धनञ्जय का यह भरतातिक्रम निराधार और निष्प्रयोजन लगता है। धनञ्जय सम्भवत त्रिगत तक ही पूर्वरङ्ग की परिधि मानते है। दश० ३ १६

३. दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।
सूचयेद्वस्तु बीज वा मुख पात्रमथापि वा ॥३

स स्थापको दिव्य वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत्—वस्तु बीज मुख पात्र वा।

वस्तु यथोदात्तराघवे—

'रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञा गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिल मात्रा सहैवोज्झितम्।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परा संपदं
प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विष ॥'

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

'द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥ १.७

मुखं यथा छलितरामे

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एप विशुद्धकान्त।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीव ॥'

पात्रं यथा शाकुन्तले—

'तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एप राजेव दुष्यन्त सारङ्गेणातिरंहसा ॥' १ ५

३. वह स्थापक जैसी वस्तु हो, वैसा रूप बनाकर कथा की वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना दे। वह दिव्य वस्तु के लिए देव रूप, मर्त्य वस्तु के लिए मर्त्य रूप और मिश्र वस्तु के लिए दिव्य या मर्त्य रूप धारण कर लेता है।३

---

१. सर्वेषामप्रशमनी पूर्वरंगे प्ररोचना। ना० शा० २७.२।
त्रिक प्ररोचना चापि पूर्वरंगे भवन्ति हि। ना० शा० ५.१५

वह व्यापक दिव्य वस्तु के लिए दिव्य पात्र बन कर मर्त्य वस्तु के लिए मर्त्य पात्र बन कर और मिश्र वस्तु के लिए दिव्य या मर्त्य बन कर उसको वस्तु बीज, आरम्भ या पात्र की सूचना देता है।

उदात्तराघव मे वस्तु सूचना

राम ने पिता की आज्ञा को माला की भाँति शिरोधार्य कर वनगमन किया। उनकी भक्ति से भरत ने माता के साथ पूरे राज्य को छोडा। सुग्रीव और विभीषण उनका अनुसरण करते हुए सर्वोच्च वैभव पर पहुँचाये गये। अभिमानी रावण आदि (समस्त शत्रु विनष्ट हुए)।

रत्नावली मे बीज का उदाहरण—

किसी दूसरे द्वीप से भी, समुद्र क बीच से भी, दिशाओ के छोर से भी लाकर हठ से सहायक भगवान् अभीष्ट को मिला देता है। (इसम कथा के बीज की सूचना है।)

मुख का उदाहरण—छलितराम मे—यह विशुद्ध रमणीय शरद् ऋतु आ पहुँची, जिसमे चन्द्रमा का हास पूर्णता प्राप्त कर चुका है जिसने घने अधकार वाली उग्र वर्षा ऋतु को उन्मूलित करके बन्धुजीव पौधे को हराभरा कर दिया है, वैसे ही जैसे बन्धुओ को प्राण देने वाले चन्द्रहास नामक तलवार को धारण करने वाले राम गाढे अधकार स्वरूप घनघोर महारक रावण का अत कर प्रकट हुए है।)

(इसमे राम कथा के आरम्भ की सूचना है।)

पात्र का उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तल मे।

तुम्हारे इस मनोरम गीतराग से मैं वैसे ही बलात् आकृष्ट हो गया हूँ, जैसे यह राजा दुष्यन्त हरिण की प्रखर गति से। (इसमे पात्र नायक दुष्यन्त की सूचना है।)

नान्दी टीका

इस कारिका मे नट के द्वारा काव्य स्थापना की चर्चा की गई है।

४ रग प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
ऋतु कञ्चिदुपादाय भारती वृत्तिमाश्रयेत् ॥४

रङ्गस्य प्रशस्ति काव्यार्थानुगतार्थे श्लोके कृत्वा
'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्य पुन।

दृष्टवाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु व ॥ रत्नावली१.२

इत्यादिभिरेव भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ।

४ वह स्थापक काव्य के विषय की सूचना देने वाले मधुर श्लोकों के द्वारा रङ्ग (प्रेक्षकों) को प्रसन्न करे। किसी ऋतु का वर्णन करे। फिर भारती वृत्ति का आश्रय ले। ४

काव्य के विषय को गर्भित करने वाले अभिप्राय से युक्त श्लोको के द्वारा रग (प्रेक्षको) की प्रशसा कर लेने के पश्चात्—

नवसगम के समय पति के समीप जाने के लिए उत्सुकता के कारण उतावली, सहज लज्जा के कारण लौटती हुई, फिर सखियो के द्वारा अवसरोचित योग्य वचनो स सामने लाई हुई, सामने पति को देखकर भय और मनोरागवती, रोमाञ्चवती, हँसते हुए शिव के द्वारा आश्लिष्ट शिवा (गौरी, पार्वती) आपकी रक्षा करें।

इत्यादि वाक्यो से भारती वृत्ति का आश्रय ले।

नान्दी टीका

इसमे नट के द्वारा रग प्रसादन की चर्चा की गयी है।

सा तु—

५ भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रय ।
भेदै प्ररोचनायुक्तै र्वीथीप्रहसनामुखैः ॥५

पुरुषविशेषप्रयोज्य संस्कृतबहुलो वाक्यप्रधानो नटाश्रयो व्यापारो भारती, प्ररोचनावीथीप्रहसनाऽऽमुखानि चास्यामङ्गानि ।

५. भारती अधिकाशत सस्कृतभाषामयी वाणी से नटों के माध्यम से व्यापार वर्णना है। इसके भेद हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख ।५

विशेष पुरुषो के द्वारा (स्त्रियो के द्वारा नही) भारती का प्रयोग होना चाहिए। इसमे सस्कृत भाषा की अधिकता होता है और नटो के कथोपकथनमात्र वर्णनात्मक व्यापार होता है। इसमे प्ररोचनादि चार अङ्ग हाते हैं। (प्ररोचना और आमुख म नटो का सवाद होता ही है। वीथी और प्रहसन मे भी नटो के सवाद मात्र मे भारती का क्षेत्र है। पात्रों के सवाद मे नहीं।)

नान्दी टीका

इस कारिका मे वर्तमान चर्चा से सम्बद्ध दो प्रमुख शब्द हैं—प्ररोचना और आमुख। पहले कहा जा चुका है कि प्ररोचना भरतानुसार पूर्वरंग का अङ्ग है और ३१ की टीका मे इसका सक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है।

यथोद्देश लक्षणमाह—

६ उन्मुखीकरण तत्र प्रशसात प्ररोचना।

प्रस्तुतार्थप्रशसनेन श्रोतृणा प्रवृत्त्युन्मुखीकरण प्ररोचना। यथा रत्नावल्याम्—

श्रीहर्षो निपुण कवि परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरित नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्ते पद किं पुन
र्मद्भाग्योपचयादय समुदित सर्वो गुणाना गण ॥१५

६ प्ररोचना है प्रशसा करके उत्सुक बना देना।

अभिनेय नाट्यकथा की प्रशसा करके प्रक्षकों की मानसिक वृत्ति को उत्सुक बना देना प्ररोचना है। रत्नावली मे उदाहरण है—

श्रीहर्ष निपुण कवि हैं। यह प्रक्षक-परिषद भी गुणग्राही है। लोगो म वत्सराज का चरित चित्ताकर्षक है। हम लाग अभिनय करने मे दक्ष है। इनमे से एक एक भी वस्तु अभीष्ट फल की प्राप्ति का योग प्रदान करता है। फिर तो मेरे भाग्य के सवर्धन से सारी गुणराशि एकत्र उत्पन्न हो गई है।

प्रस्तावनाङ्गानि

वीथी प्रहसन चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥६
७ वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव, तत्पुन।
सूत्रधारो नटी ब्रूते मार्ष वाऽथ विदूषकम् ॥७
८ स्वकार्य प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्।
प्रस्तावना वा तत्र स्यु कथोद्घात प्रवृत्तकम् ॥८
९ प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश

वीथी और प्रहसन को इनका प्रसङ्ग आने पर बताया जायेगा।६

७ वीथी के अङ्ग आमुख के भी अग होते हैं। अतएव उनको यहीं समझाते हैं।

आमुख मे सूत्रधार नटी, मार्ष या विदूषक से अपना कार्य बताता है, किन्तु उक्ति की विचित्रता के कारण सूत्रधार की उस कार्य सम्बन्धी उक्ति से नाट्य कथा की सूचना मिलती है। यही आमुख है। इसी को प्रस्तावना भी कहते हैं। उसके भेद हैं— कथोदघात, प्रवृत्तक, प्रयोगातिशय और १३ वीथ्यङ्ग।

नान्दी टीका

दशरूपक मे वीथी के सभी अङ्गो को आमुख का अङ्ग कहा गया है। यह मत भरत के विरुद्ध पडता है। भरत के अनुसार वीथी के केवल दो अङ्ग उद्घात्यक और अवलगित आमुख के अग हैं और शेष वीथ्यङ्गो म कथा का उपक्षेपण न होने से प्रस्तावना का अग बनने की योग्यता नहीं है, भले ही वे आमुख मे आयें। ऐसी स्थिति मे धनञ्जय का सभी वीथ्यङ्गो को आमुखाङ्ग मानना चिन्त्य है।

तत्र कथोदघात —

स्वेतिवृत्तसम वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिण ॥८
१०• गृहीत्वा प्रविशेत्पात्र कथोद्घातो द्विधैव स ।

वाक्य यथा रत्नावल्याम्—'यौगन्धरायण —द्वीपादन्यस्मादपि-' इति । वाक्यार्थ यथा वेणीसहारे—'सूत्रधार —

निर्वाणवैरिदहना प्रशमादरीणा
नन्दन्तु पाण्डुतनया सह केशवेन ।
रक्तप्रसाधितभुव क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुता सभृत्या ॥१.७

ततोऽर्थेनाह—'भीम —

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशै
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशा
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रा ॥१ ८

कथोद्घात मे सूत्रधार के द्वारा कहे हुए अपने इतिवृत्त के समान वाक्य या अर्थ को बोलते हुए नायक (पात्र) रगपीठ पर प्रवेश करता है। यह दो प्रकार का होता है—वाक्यार्थ को कहते हुए पात्र का आना और दूसरे वाक्य के अथ को बताते हुए पात्र का आना।

वाक्य को कहते हुए का उदाहरण रत्नावली मे—'द्वीपादन्यस्मादपि' इस सूत्रधार के श्लोक को कहता हुआ यौगन्धरायण नामक पात्र रगपीठ पर प्रवेश करता है।

सूत्रधार के कहे वाक्य का अर्थ (अभिप्राय) अपने वाक्य मे प्रकट करता हुआ पात्र वेणीसहार मे रगपीठ पर आता है। जैसे सूत्रधार की उक्ति है—

शत्रुओ के शान्त हो जाने से वैर की अग्नि के बुझ जाने पर कृष्ण के साथ पाण्डव प्रसन्न हो। वे कौरव अपने भृत्यो के साथ स्वस्थ हो, जिनके अधान सारी पृथ्वी अनुरक्त है और जिनके प्रति कलह भाव मिट चुका है।

इस उक्ति के अभिप्राय को ग्रहण करके भीम नीचे की उक्ति बोलते हुए रग पीठ पर प्रवेश करता है—

लाक्षागृह मे आग लगाकर, विषान्न देकर, द्यूत सभा मे प्रवेश करा कर हमारे प्राण और धनराशि पर प्रहार करके द्रौपदी के वस्त्र और केश को विसष्ठुल करने वाल कौरव मेरे जीवित रहते कैसे स्वस्थ हो?

नान्दी टीका

अभिनवगुप्त ने कथोद्घात की व्याख्या की है—कथा काव्यार्थ रूपा ऊर्ध्वमेव हन्यते गम्यते तत्रेति कथोद्घात। अर्थात् जिसमे कथा को ऊपर की ओर पहुँचाया जाय। कथोद्घात मे कथा प्रस्तावना के क्षेत्र से आगे बढाकर मुखसन्धि के क्षेत्र म ला दा जाती है।

अथ प्रवृत्तकम्—

कालसाम्यसमाक्षिप्तप्रवेशः स्यात्प्रवृत्तकम् ॥१०

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेश प्रवृत्तकम्, यथा छलितरामे

'आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास
प्राप्त शरत्समय एप विशुद्धकान्त।
उत्खाय गाढतमस धनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीव ॥'

प्रवृत्तक में नायक का रङ्ग पीठ पर प्रवेश काल (ऋतु) की उससे उपमा देते हुए समञ्जसित करते हैं।

जो समय चल रहा है उसके समान गुण का वर्णन करने से पात्र का प्रवेश हो तो प्रवृत्तक है। यथा यह विशुद्ध रमणीय शरद् ऋतु आ पहुँची, जिसमें चन्द्रमा का ह्रास पूर्णता प्राप्त कर चुका है, जिसने घने अन्धकार वाली उग्र वर्षा ऋतु को उन्मूलित करके बन्धु जीव पौधे को वैसे ही हरा भरा कर दिया, जैसे बन्धुओं को प्राण देने वाले राम चन्द्र हास नामक रावण की तलवार को भग्न करके गाढ़े अन्धकार स्वरूप रावण का अन्त कर प्रकट हुए हैं।

अथ प्रयोगातिशय —

११. एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगत ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥११

यथा 'एष राजेव दुष्यन्त.'।

११. सूत्रधार की योजनानुसार यह मैं हूँ यह कह कर जहाँ पात्र नायक का प्रवेश होता है, वहाँ प्रयोगातिशय नामक आमुख होता है।११

जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में—'एष राजेव दुष्यन्त' है।

नान्दी टीका

अभिनवगुप्त के अनुसार प्रयोगातिशय में सूत्रधार का प्रयोग (अभिनय) अपने निजीवृत्त की सीमा का अतिशय (अतिक्रम) करता है। अर्थात् वह नायकादि के वृत्त को प्रस्तावित कर देता है।

वीथ्यङ्ग

नाटकीय संवाद में वीथ्यङ्ग वाग्वैचित्र्य का परम स्रोत है। अभिनय में वाग्वैचित्र्य प्रेक्षकों को मनोरंजन प्रदान करने का अद्वितीय साधन है। इस प्रकार वीथी व अङ्गों का नाटकों में अनूठा महत्त्व है।[1]

---

१. अभिनवगुप्त के अनुसार प्रश्न और उत्तर दोनों के सम्बन्ध में वक्ता व अभिप्राय को अन्यथा समझने की विचित्रता होती है। 'प्रश्नप्रतिवचनयोरन्योन्याभिप्रायन्येन योजन यद्वैचित्र्य तद्वीथ्यङ्गम्'। ना० शा० १८-११६ पर भारती
वीथ्यङ्ग शैली का उत्कर्ष प्रकट करता है। इस दृष्टि से कथावस्तु में सम्बद्ध सन्दर्भ, नाटक-लक्षण, नाट्यालंकार आदि से यह भिन्न है।

अथ वीथ्यङ्गानि—

१२ उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥१२

१३ असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

१२ वीथी के तेरह अंग हैं—उद्घात्यक, अवलगित, प्रपञ्च, त्रिगत, छल, वाक्केली, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव ।

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥१३॥

१४ यत्रान्योन्य समालापो द्वेधोद्घात्य यदुच्यते ।

गूढार्थ पदं तत्पर्यायश्चेत्येवं माला प्रश्नोत्तरं चेत्येवं वा माला । द्वयोरुक्तिप्रत्युक्ती तद्द्विविधमुद्घात्यकम् । तत्राद्यं विक्रमोर्वश्या यथा—विदूषक —भो वअस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूमिज्जसे । सो किं पुरिसो आदु इत्थिअ त्ति । ('भो वयस्य ! क एष कामो येन त्वमपि दूयसे । स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति ।') राजा—सखे !

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते ।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ॥

विदूषक —एवं पि ण जाणे ('एवमपि न जानामि ।) राजा—वयस्य इच्छाप्रभव स इति ।

विदूषक --किं जो ज इच्छदि सो तं कामेदित्ति । ('किं यो यदिच्छति स तत्कामयते इति ।') राजा—अथ किम् ।

विदूषक—ता जाणिदं जह अहं सूअआरसालाए भोअणं इच्छामि । (तज्ज्ञातं यथाहं सूपकारशालाया भोजनमिच्छामि ।')

द्वितीयं यथा पाण्डवानन्दे—

का श्लाघ्या गुणिना क्षमा परिभव को य स्वकुल्यै कृत
किं दु खं परसंश्रयो जगति क श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिता शत्रव
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितै पाण्डवै ॥'

उद्घात्य दो प्रकार का होता है—(१) जब किसी पद का अर्थ गूढ़ (अस्पष्ट) हो तो अर्थ समझाने के लिए उस पद के अनेक पर्यायवाची पदों को बताना और

(२) प्रश्न और उत्तर की परम्परा। इन दोनो प्रकार के उद्घात्यकों मे दो व्यक्तियों का परस्पर सवाद होना चाहिए।

गूढ अर्थ वाला पद और उसका पर्याय—इस प्रकार एक परम्परा हो अथवा प्रश्न और उत्तर की परम्परा हो। दोनो उक्ति और प्रत्युक्ति होनी चाहिए। ये दो प्रकार के उद्घात्यक होते हैं। पहले प्रकार का उदाहरण विक्रमोर्वशीय मे है। यथा—

विदूषक—हे मित्र, यह काम कौन है, जिससे इस प्रकार तुम व्याकुल किये जाते हो। वह पुरुष है कि स्त्री।

राजा—सखे, स्नेह के ललित मार्ग को काम कहा जाता है, जो मन से उत्पन्न होने वाला, किसी के वश मे न आने वाला, सुख मे ही अपने अस्तित्व को सार्थक करता है।

विदूषक—यह बताने पर भी समझ मे नही आया।

राजा—मित्र, वह इच्छा से उत्पन्न होता है।

विदूषक—क्या जो जिसकी इच्छा करता है, वही काम है?

राजा—और क्या?

विदूषक—तो समझ लिया। जैसे मैं रसोई-घर मे भोजन की इच्छा करता हूँ।

अपर विध उद्घात्यक का उदाहरण पाण्डवानन्द मे इस प्रकार है—प्रशंसनीय क्या है? गुणी लोगों की क्षमा। क्या अनादर है? जो अपने कुल के लोगों के द्वारा किया गया हो। दुःख क्या है? दूसरे के ऊपर आश्रित रहना। ससार मे कौन श्लाघ्य है? जिसका आश्रय लिया जाता है। मृत्यु क्या है? विपत्ति। कौन शोक से रहित हैं? जिन्होंने शत्रुओं को जीत लिया है। किनके द्वारा यह जान लिया गया है? विराटनगर मे छिप कर रहने वाले पाण्डवों के द्वारा।

अथावलगितम्—

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते। १४
१५. प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा।

तत्राद्यं यथोत्तरचरिते समुत्पन्नवनविहारगर्भदोहदाया सीताया दोहद-व्याजेन (ण) प्रविश्य जनापवादादरण्ये त्याग.। द्वितीयं यथा छलितरामे—'राम—लक्ष्मण तातवियुक्तामयोध्या विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि। तदवतीर्य गच्छामि।

कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटु पाण्डवा यस्य दासा
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्व. ॥५ २६

१७. छलन मे ऊपर से अच्छी लगने वाली किन्तु वस्तुत: अप्रिय बातों के द्वारा विलोभन (प्रशसा) करके सुनने वाले को छला जाता है।

जैसे वेणीसहार में भीम और अर्जुन दुर्योधन के सेवकों से कहते हैं—

वह दुर्योधन कहाँ चुपचाप बैठा है—बतलाओ। हम लोग उसे देखने के लिए, क्रोध से नही, आये हैं। वह दुर्योधन द्यूत मे कपट व्यवहार का कर्ता रहा है, उसने लाख के घर मे आग लगवाई थी। वह अभिमानी राजा दु शासन आदि सौ छोटे भाइयों का गुरु है। अगराज (कर्ण) का मित्र है। द्रौपदी के केश और उत्तरीय का अपहरण कराने मे कुशल रहा है और पाण्डव उसके दास हैं।

अथ वाक्केली—

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विस्त्रि प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥१७

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तन वाक्केली द्विस्त्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तय, तत्राद्या यथोत्तरचरिते - वासन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदय द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृत त्वमङ्गे।
इत्यादिभि प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धा
तामेव शान्तमथवा किमत परेण॥'

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम्—'विदूषक—भोदि मअणिए मं पि एद चच्चरिं सिक्खावेहि। ('भवति मदनिके मामप्येता चर्चरी शिक्षय') मद निका—हदास— ण क्खु एसा चच्चरी। दुवदिखण्डअं क्खु एदम्। ('हताश न खल्वेषा चर्चरी द्विपदीखडकं खल्वेतत्।') विदूषक -भोदि किं एदिणा खण्डेन मोदआ करीअन्ति। ('भवति किमेतेन खण्डेन मोदका क्रियन्ते ?') मदनिका—णहि, पढीअदि क्खु एदम्। ('नहि पठ्यते खल्वेतत्।') इत्यादि।

प्रासगिक वक्तव्य को बीच मे ही विनिवृत्ति (रोक) के द्वारा वाक्केली होती है। (यह वाक्केली का प्रथम स्वरूप है। इसका द्वितीय स्वरूप भी है।) जिसमे उक्ति-प्रत्युक्ति का द्वावैचिव्य हो, वह भी वाक्केली है।१७

कारिका मे अस्य प्रकरणानुसारी वाक्य के लिये प्रयुक्त है। वह साकाक्ष है, अर्थात् कतिपय पदो का आगे प्रयोग होने पर ही भाव पूरा होने वाला है। उन पदो को न कह कर बीच मे ही वक्तव्य को अधूरा समाप्त कर देना। दो-तीन उक्ति-प्रत्युक्तियों से भी दूसरे प्रकार की वाक्केली होती है। प्रथम प्रकार की वाक्केली का उदाहरण है—

उत्तर रामचरित मे वासन्ती राम से कहती है—

'तुम मेरे प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो। तुम मेरी नेत्रकौमुदी हो। तुम मेरे शरीर पर अमृत हो'—इत्यादि सैकड़ों प्रिय बातों के द्वारा उस मुग्धा सीता का प्रसन्न करके उसे—कुछ नही आगे की घटना की चर्चा व्यर्थ है। (आपने उसे वन मे छोड़वा दिया—यह बात नही कही गई, जिससे यह वाक्केली है।)

उक्ति-प्रत्युक्ति के द्वारा वाक्केली का उदाहरण रत्नावली मे है।[१]—

विदूषक—मदनिके, मुझे भी यह चर्चरी सिखा दो।

मदनिका—अभागे, यह चर्चरी नही, द्विपदी-खण्ड है।

विदूषक—श्रीमति, क्या इस खण्ड से लड्डू बनाये जाते है?

मदनिका—नहीं, यह पढ़ी जाती है।

नान्दी टीका

वाक्केली की दो परिभाषायें धनञ्जय ने दी हैं, उनमें से प्रथम के अनुसार कही जाती हुई बात बीच में ही बन्द कर दी जाती है और दूसरी के अनुसार उक्ति-प्रत्युक्ति की चोखी परम्परा वक्रोक्ति द्वारा प्रस्तुत की जाती है जिसमें आक्षेपमयी वाग्धारा होती है।

भरत ने एक दूसरी ही परिभाषा दी है, जिसके अनुसार दो प्रश्नों का एक ही उत्तर होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार उपलक्षण से दो अनेकार्थवाची है। अर्थात् अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो सकता है। अभिनवगुप्त ने इसका उदाहरण नीचे लिखे पद्य मे दिया है—

नदीनां मेघविगमे का शोभा प्रतिभासते।
बाह्याभ्यन्तरा विजेतव्या के नाम श्रुतिनोऽरय ॥

इस मे पहला प्रश्न है वर्षा ऋतु के पश्चात् नदी की क्या शोभा होती है और दूसरा प्रश्न है कि सफल व्यक्ति के लिए बाह्य और आभ्यन्तर कौन जेतव्य हैं। उत्तर है अरय। पहले प्रश्न के उत्तर के लिए अरय की व्याख्या है न रय अर्थात् तेज धारा का अभाव या गति की स्निग्धता और दूसरे प्रश्न के लिए अरय से तात्पर्य है शत्रुगण।

अथाधिबलम्—

१८. अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिबलं भवेत्।

यथा वेणीसंहारे—भीम.

सञ्जरिपुजयाशा यत्र वद्धा मुनेस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः।

१. इस उक्ति प्रत्युक्ति मे एक पात्र वास्तविक अर्थ को न ग्रहण करने का अभिनय करता है।

रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डुपुत्र ॥५.२७

इत्युपक्रमे 'राजा—अरे नाहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु—

प्रक्ष्यन्ति न चिरात्सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥ ५.३४

इत्यन्तेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यमात्मस्याधिक्योक्तिरधिबलम् ।

१८ अधिबल एक दूसरे से बढ़ कर स्पर्धावशात डींग मारना है।

जैसे वेणीसंहार में भीम कहता है—

यह मध्यम पाण्डुपुत्र आप दोनों पितरों को प्रणाम करता है जिसने युद्ध भूमि में उस कर्ण को मार डाला था, जिस पर तुम्हारे पुत्रों ने विजय की पूरी आशा बांध रखी थी और जिसके गर्व से संसार तृणवत् तिरस्कृत था।

यहाँ से आरम्भ होने पर राजा (दुर्योधन) उत्तर देता है—मैं तुम्हारे समान डींग मारने वाला ढीठ नहीं हूँ। किन्तु शीघ्र ही तुम्हारे बान्धव तुमको युद्ध स्थल में सोया हुआ देखेंगे, जब मेरी गदा से तुम्हारा वक्ष-पञ्जर भग्न होने से तुम भीषण बने रहोगे। यहाँ तक भीम और दुर्योधन की एक दूसरे से बढ़ कर उक्तियाँ होने से अधिबल है।

अथ गण्ड —

गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम् ॥१८

यथोत्तरचरिते—रामः —

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो—
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहलश्चन्दनरसः ।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥

(प्रविश्य) प्रतीहारी—देव उअत्थिदो। (देव उपस्थित।) रामः—अयि कः। प्रतीहारी—देवस्स आसण्णपरिचारओ दुम्मुहो। (देवस्यासन्नपरिचारको दुर्मुखः।)।

गण्ड सहसा कही हुई ऐसी बात है जो पहले से प्रस्तुत बातचीत से अनुबद्ध तो होती है किन्तु वस्तुतः एक दूसरा ही अर्थ देती है।

जैसे उत्तररामचरित में राम की एकोक्ति है—

यह (सीता) गृहलक्ष्मी है नेत्रों के लिए अमृतशलाका है। इसका स्पर्श शरीर पर गाढ़ा चन्दन रस है। यह बाहु शीतल चिकनी मोती की माला है। इसका क्या आनन्दमय नहीं है—केवल इसका विरह प्राण लेवा है।

(प्रवेश करके) प्रतीहारी—देव उपस्थित हो गया (राम को पहले की उनकी उक्ति के प्रसग मे विरह उपस्थित होने की शका होती है।) राम पूछते हैं—अरे कौन ? प्रतीहारी—देव का निकट का गुप्तचर दुर्मुख। यहाँ प्रतिहारी की बात गण्ड है।

नान्दी टीका

गण्ड की परिभाषा मे भरत ने चार आवश्यक तत्व बताये हैं—(१) सरम्भ तथा सम्भ्रम (२) विवाद (३) अपवाद और (४) अनेक अर्थों का संकेत।

गण्ड मे पहले से चले आते हुए प्रकरण के प्राय अपने आप मे पूर्ण वाक्य या शब्द का प्रकरण के बाहर के सहसा प्रस्तुत वाक्य या शब्द से सश्लेष इस प्रकार कर दिया जाता है कि प्रथम वक्ता के लिए अनभीष्ट अर्थ झलकने लगता है। यह भावी अनिष्ट का सूचक होता है।

गण्ड का अर्थ फोड़ा है। नाट्य प्रकरण में यह फोडे की भाँति दूषित और दु खदायी भावी घटना का सकेत करता है।

गण्ड का वक्ता प्राय इसी को कहने के लिए रग पीठ पर अकस्मात् आ जाता है।

अथावस्यन्दितम्—

१८. यथोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत्।

यथा छलितरामे—'सीता—जाद कल्लं वखु तुम्हेहिं अजुज्झाए गन्तव्वं। तहिं सो राआ विणएण णमिदव्वो। ('जात! कल्यं खलु युवाभ्यामयोध्याया गन्तव्य। तत्र स राजा विनयेन नमितव्य।') लव —अम्ब किमावाभ्या राजोपजीविभ्या भवितव्यम् ? सीता—जाद सो वखु तुह्माणं पिदा। ('जात स खलु युवयो पिता।') लव —किमावयो रघुपति पिता ?। सीता—(साशङ्कम्) जाद ण वखु परं तुह्माणं, सअलाए ज्जेव्व पुहवीए।' ('जात न खलु पर युवयो, सकलाया एव पृथिव्या:।') इति।

१८ अवस्यन्दित है यथोक्त (किसी पहले कही हुई बात) की (आवश्यकतानुसार) नई व्याख्या।

जैसे छलितराम म—सीता—वत्स, कल तुमको अयोध्या जाना है।
वहाँ राजा को सविनय प्रणाम करना।
लव—माँ क्या हम लोग राजाश्रित हो जायेंगे ?
सीता—वत्स, वे तुम्हारे पिता हैं।
लव—क्या रघुपति हमारे पिता हैं ?
सीता—(आशङ्का करती हुई), वत्स, केवल तुम्हारे ही क्यों ? सारी पृथ्वी के पिता हैं।

(यहाँ सीता ने अपने प्रथम प्रकटित अभिप्राय को अपनी व्याख्या से अन्यथा कर दिया।)

नान्दी टीका

यदि बिना सोचे-समझे कोई ऐसी बात कह दी जाय, जो नहीं कही जानी चाहिए थी तो उसके वास्तविक अभिप्राय को छिपाने के लिए जो व्याख्यात्मक उक्ति प्रस्तुत की जाती है, वह अवस्यन्दित है।

अथ नालिका—

सोपहासा निगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका ॥ १९

यथा मुद्राराक्षस—'चर—हंहो बह्मण मा कुप्प, किं पि तुह ऊअज्झाओ जाणादि किं पि अह्मारिसा जणा जाणन्ति। ('हंहो ब्राह्मण मा कुप्य, किमपि तवोपाध्यायो जानाति, किमप्यस्मादृशा जना जानन्ति।') शिष्य—किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि। चर—यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि, ता जाणादु दाव कस्स चन्दोअणभिप्पेदो त्ति। (यदि ते उपाध्याय. सर्वं जानाति तज्जानातु तावत्, कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति।') शिष्य—'किमनेन ज्ञातेन भवति।' इत्युपक्रमे चाणक्य—'चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाञ्जानामि।' इत्युक्त भवति।

नालिका उपहासपूर्ण, रहस्यमय अभिप्राय वाली पहेली है।

जैसे मुद्रा राक्षस में

चर—अरे ब्राह्मण, कोप न कर। कुछ तेरा उपाध्याय जानता है और कुछ हमारे जैसे लोग जानते हैं।

शिष्य—क्या हमारे उपाध्याय की सर्वज्ञता में त्रुटि बताना चाहते हो?

चर—यदि तुम्हारा उपाध्याय सब कुछ जानता है तो वह जान ले कि चन्द्र किसका प्रिय नहीं है?

शिष्य—यह जानने से क्या लाभ होता है?

यहाँ से आरम्भ करके 'चन्द्रगुप्त से विरक्त लोगों को जानता हूँ' (इसमें चर का प्रश्न कि चन्द्र किसका प्रिय नहीं है? नालिका का उदाहरण है।)

अथाऽसत्प्रलाप

२०. असम्बद्धकथाप्रायाऽसत्प्रलापो यथोत्तरम्।

ननु चासम्बद्धार्थत्वेऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोष उक्तः। तत्र—उत्स्वप्नायित-मदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभावो यथा—

'अविष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्या सृक्कतो वासुके—
रङ्गुल्या विषकर्बुरान्गणयत संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान्।
एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाच.क्रौञ्चरिपो शिशुत्वविकला श्रेयांसि पुष्णन्तु व ॥'

यथा च—

'हंस प्रयच्छ मे कान्ता गतिस्तस्यास्त्वया हृता।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते' ॥

विक्रमोर्वशीये ४ ३३

यथा वा—

'भुक्ता हि मया गिरय स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत्।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥'

२० असत्प्रलाप असम्बद्ध कथा (बेतुकी बात) यथोत्तर (एक के बाद दूसरी) होती हैं।

'बातो का बेतुकी होना तो असगति नामक दोष कहा गया है' । यह शका होने पर धनिक उत्तर देते है । ऐसा नही । स्वप्न मे बडबडाना, मदान्ध का बोलना, पागलो का प्रलाप, शिशु की वाणी—ये सब असम्बद्ध प्रलाप नाटको मे सग्रहणीय विभाव है । जैसे

वासुकि के प्रकाशमान मुख—विवरो को सृक्क (मुख के कोने) से फाड कर अगुली से छू-छूकर विष से चितकबरे दातो को गिनते हुए एक, तीन, नव, आठ, सात, छ इस प्रकार सख्याक्रम को तोडती हुई क्रौञ्च के शत्रु कार्तिकेय की बालपन के कारण क्रमहीन तोतली बातें आप लोगो का कल्याण करे ।

दूसरा उदाहरण

हे हस मेरी पत्नी को दे दो । तुमने उसकी गति चुराई है । एक भाग से पहचानी वस्तु चोर के द्वारा देय रूप मे माँगी जाती है ।

तीसरा उदाहरण

मेरे द्वारा पर्वत खाये गये । अग्नि से मैंने स्नान किया, आकाश को पीता हूँ । ब्रह्मा, विष्णु और शिव मेरे पुत्र हैं । अतएव मैं नाच रहा हूँ ।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने असत्प्रलाप का सीधा-सा अर्थ लिया है—ऐसा भाषण जो पूर्वापर से अनुबद्ध न होने के कारण असामञ्जस्यपूर्ण हो । धनिक ने स्पष्ट किया है कि असत्प्रलाप के वक्ता उत्स्वप्नायित, उन्मत्त, शिशु आदि हो सकते हैं ।

'अविभ्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्या सृक्कतो वासुके—
रङ्गुल्या विषकर्वुरान्गणयत संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान्।
एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त षडिति प्रध्वस्तसंख्याक्रमा
वाच. क्रौञ्चरिपो. शिशुत्वविकला श्रेयासि पुष्णन्तु व ॥'

यथा च—

'हंस प्रयच्छ मे कान्ता गतिस्तस्यास्त्वया हृता।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते' ॥
विक्रमोर्वशीये ४ ३३

यथा वा—

'भुक्ता हि मया गिरय स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत्।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥'

२० असत्प्रलाप असम्बद्ध कथा (बेतुकी बात) यथोत्तर (एक के बाद दूसरी) होती है।

'बातो का बेतुकी होना तो असगति नामक दोष कहा गया है' । यह शका होने पर धनिक उत्तर देते हैं। ऐसा नही। स्वप्न मे बडबडाना, मदप का बोलना, पागलों का प्रलाप, शिशु की वाणी—ये सब असम्बद्ध प्रलाप नाटकों मे सग्रहणीय विभाव है। जैसे

वासुकि के प्रकाशमान मुख—विवरों को सृक्क (मुख के कोने) से फाड कर अगुली से छू-छूकर विष से चितकबरे दांतों को गिनते हुए एक, तीन, नव, आठ, सात, छ इस प्रकार सख्याक्रम को तोडती हुई क्रौञ्च के शत्रु कार्तिकेय की बालपन के कारण क्रमहीन तोतली बातें आप लोगो का कल्याण करे।

दूसरा उदाहरण

हे हस मेरी पत्नी को दे दो। तुमने उसकी गति चुराई है। एक भाग से पहचानी वस्तु चोर के द्वारा देय रूप मे माँगी जाती है।

तीसरा उदाहरण

मेरे द्वारा पर्वत खाये गये। अग्नि से मैंने स्नान किया, आकाश को पीता हूँ। ब्रह्मा, विष्णु और शिव मेरे पुत्र हैं। अतएव मैं नाच रहा हूँ।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने असत्प्रलाप का सीधा सा अर्थ लिया है—ऐसा भाषण जो पूर्वापर से अनुबद्ध न होने के कारण असामञ्जस्यपूर्ण हो। धनिक ने स्पष्ट किया है कि असत्प्रलाप के वक्ता उत्स्वप्नायित, उन्मत्त, शिशु आदि हो सकते हैं।

भरत ने असत्प्रलाप का ऐसा अर्थ नही बनाया है । उनके मत से मूर्खों के सामने उनके हित की बात विद्वान् करे और मूर्ख उस उक्ति के तात्त्विक अर्थ को अज्ञता के कारण न ग्रहण करे तो असत्प्रलाप होता है ।

असत्प्रलाप की चारुता इस बात मे है कि मूर्ख ऊपरी थोथे अर्थ को ग्रहण कर लेता है और श्लेषात्मक वास्तविक हितकारी अर्थ को नही अपनाता । इसका उदाहरण है ।

सर्वथा योऽक्षविजयी सुरासेवनतत्पर ।
तस्यार्थाना सुखाना च समृद्धि करगामिनी ।।

इसमे अक्ष—जुआ और इन्द्रिय है तथा सुरासेवन—मद्यपान तथा सुर+आसवन=देवोपासन है । मूर्ख ने अर्थ समझा कि जुआ खेलो और शराब पीओ तो काम बनेगा । वास्तविक अर्थ है इन्द्रिय जय करो और देवोपासन करो । इस अर्थ को वह नही ग्रहण करता ।

अथ व्याहार —

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकर वच ।। २०

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने—'(मालविका निर्गन्तु मिच्छति) विदूषक —मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससि ।' (मा तावत् उपदेश-शुद्धा गमिष्यसि) इत्युपक्रमे 'गणदास —(विदूषकं प्रति) आर्य उच्यता यस्त्वया क्रमभेदो लक्षित । विदूषक—पढमं पच्चूसे वह्मणस्स पूआ भोदि सा तए लङ्घिदा (मालविका स्मयते) ।' (प्रथम प्रत्यूषे ब्राह्मणस्य पूजा भवति सा तया लङ्घिता ।') इत्यादिना नायकस्य विश्रब्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हास्यलोभकारिणा वचनेन व्याहार ।

व्याहार हास्य और लोभ भरी ऐसी वाणी होती है, जिसमे व्यग्य प्रयोजन ही प्रधान उद्देश्य होता है । २०

जैसे मालविकाग्निमित्र मे लास्य प्रयोग समाप्त हो जाने पर (मालविका निष्क्रान्त होना चाहती है ।) विदूषक कहता है—'जब तक अशुद्धियाँ ठीक न कर दी जायँ तब तक नही जा सकती हो ।' यहाँ से लेकर गणदास—(विदूषक के प्रति) आर्य आप तो बतायें, क्या क्रमभेद देखा गया ?

विदूषक—पहले तो सवेरे ही ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए थी । वह इसने नही की । (मालविका हँसती है ।)

इत्यादि से व्यग्य प्रयोजन है कि नायक नायिका का विश्रब्ध दर्शन करे । इस उद्देश्य से हास्य और लोभ की बातें की गईं ।

नान्दी टीका

व्याहार का धात्वर्थ रामचन्द्र ने नाट्यदर्पण मे बताया है—विविधा अथा व्याह्रियन्तेऽनयति व्याहार । अर्थात् जिसके द्वारा अनेक प्रकार के अर्थों का सकेत हो। यहाँ अथ से तात्पय प्रयोजन है।

धनिक के उदाहरण मे प्रथम प्रयोजन स्पष्ट है कि नर्तकी से प्रश्न पूछना है, किन्तु दूसरा व्यग्य प्रयोजन मुख्य है कि वह कुछ और देर तक रुकी रहे कि नायक को उसे तब तक देखते रहने का समय मिल जाय।

भरत ने व्याहार की परिभाषा बताई है—

प्रत्यक्षवृत्तिरस्तो व्याहारो हास्यलेशार्थ ॥

अर्थात् जिसमे किसी वक्तव्य का अभिप्राय प्रत्यक्ष की ओर सकेत करता हो। यहाँ प्रत्यक्ष की व्याख्या अभिनवगुप्त की भारती मे स्पष्ट होता है भावी प्रत्यक्ष अर्थात् किसी की दृष्टि मे भावी मन्तव्य क्या है—उसका ज्ञान व्याहार मे होता है। अभिनवगुप्त ने उदाहरण दिया है— उद्दामोत्कलिका आदि रत्नावली से। इसका व्याहारोचित भावी मन्तव्य है कि नायिका से पुनर्मिलन थोडे ही विलम्ब से होना है।

अथ मृदवम्—

२१ दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदव हि तत्।

यथा शाकुन्तले—

मेदश्छेदकृशोदर लघु भवत्युत्थानयोग्य वपु
सत्त्वानामपलक्ष्यते विकृतिमच्चित्त भयक्रोधयो ।
उत्कर्ष स च धन्विना यदिषव सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसन वदन्ति मृगयामीदृग्विनोद कुत ॥ ८५

इति मृगयादोषस्य गुणीकार ।

यथा च—

'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसङ्कुलक्लिष्टम् ।
गतनिद्रमविश्वास जीवति राजा जिगीषुरयम् ॥

इति राज्यगुणस्य दोषीभाव ।

उभय वा—

'सन्त सच्चरितोदयव्यसनिन प्रादुर्भवद्यन्त्रणा
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दु खं सदा।
अव्युत्पन्नमति कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जन प्राकृत ॥

इति प्रस्तावनाङ्गानि ।

२१. मृदव मे ऐसा उक्तिवैचित्र्य होता है जिससे दोष गुण प्रतीत हों या गुण दोष प्रतीत हों।

जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल मे शिकारी दुष्यन्त से सेनापति मृगया की प्रशंसा करता है। चर्बी के छँट जाने से उदर के कृश हो जाने पर शरीर हल्का और स्फूर्तिमान् हो जाता है। वन्य पशुओं का भय और क्रोध के आवेश मे शारीरिक विकार देखा जा सकता है। धनुर्धर के लिए गौरव की बात है कि दौड़ते हुए पशु पर लक्ष्य का संधान ठीक हो। मृगया को झूठे ही लोग व्यसन कहते है। ऐसा विनोद कहाँ है ?

यहाँ मृगया के दुर्गुणो को गुण रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

दूसरा उदाहरण

यह जिगीषु राजा ऐसे जीता है कि इसका मानस सदा संतोष से परे है, सहस्रो प्रयासो के प्रपञ्च मे कष्ट पाता है। इसकी नींद चली गई है और यह किसी का विश्वास नहीं करता। इसमे राज्य के गुणों को दोष रूप मे प्रस्तुत किया गया है। नीचे की उक्ति मे गुण दोष रूप मे और दोष गुण रूप मे प्रस्तुत हैं— सन्त लोग सज्जनो के अभ्युत्थान मे व्यापृत होते है। उनको यन्त्रणायें झेलनी हैं। सर्वत्र ही जनापवाद से विस्मित वे लोग दुःखपूर्वक जाते हैं।

प्राकृत (असंस्कृत) जन वे हैं, जिनकी बुद्धि सुविकम्पित नहीं है। वे किये हुए सत् या असत् से व्याकुल नहीं होते। विवेकशून्य हृदय वाले ऐसे लोग धन्य हैं।

नान्दी टीका

मृदव मे भरत विवादास्पद परिस्थिति मे दोष का गुण और गुण को दोष बनाना आवश्यक मानते हैं। धनञ्जय ने इस विवादात्मक स्थिति का संकेत अपना कारिका मे नहीं किया है।

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं वाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥ २१
२२ प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत्।

इन सब (कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवृत्तक और १३ वीथ्यगों, मे से किसी एक से नाटक के पात्र और कथावस्तु का संकेत देकर प्रस्तावना के अन्त मे निष्क्रान्त हो जाय। इसके पश्चात् कथावस्तु का विस्तार करे।

नान्दी टीका

धनञ्जय के अनुसार किसी भी वीथ्यङ्ग के द्वारा कथावस्तु, और पात्र का संकेत देकर प्रस्तावना का अन्त किया जा सकता है। जैसा पहले लिख चुके हैं कि भरत के अनुसार केवल उद्घात्यक और अवलगित नामक दो ही वीथ्यंग तथा कथोद्घात प्रयोगातिशय के द्वारा ही प्रस्तावना के लिए आवश्यक पात्रादि का संकेत हो सकता है।

तत्र—

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ।।२२

२३. कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ।।२३

२४ तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागविसंवादिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणैर्युक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नायकः । तत्प्रख्यातमेवात्र नाटके आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

नाटक का नायक आकर्षक गुणों से युक्त, धीरोदात्त, प्रतापी, कीर्ति की कामना करने वाला, विशेष उत्साही, वेदों का रक्षक, राजा, प्रख्यात वंश का राजर्षि या देवता होना चाहिए ।२३

२४. नाटक में आधिकारिकवृत्त को प्रख्यात होना चाहिए ।

नाटक के इतिवृत्त में सत्यवादी, निष्कपट, नीतिशास्त्र में प्रसिद्ध, आकर्षक गुणों से युक्त, रामायण-महाभारतादि में प्रसिद्ध धीरोदात्त राजर्षि या देवता नायक होता है। नाटक में आधिकारिक वस्तु प्रख्यात रखनी चाहिए ।

नान्दी टीका

अभिनवगुप्त के अनुसार रूपकों में नाटक श्रेष्ठ है, क्योंकि इसका कथावस्तु इतिहासादि से ग्रहण की जाती है और तत्सम्बन्धी वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ लोकग्राह्य आदर्श प्रस्तुत करती हैं ।

नाटक का नायक प्रख्यातवंश का राजर्षि होना चाहिए । प्रख्यातवंश का तात्पर्य सूर्य और चन्द्रवंश आदि माने जा सकते हैं । नायक का राजर्षि होना चाहिए—यह धनञ्जय का मत कुछ ठीक नहीं बैठता । जिन राजाओं को भास, कालिदास आदि कवियों ने अपने नाटकों का नायक बनाया है, उन्हें राजर्षि कहना समीचीन नहीं लगता । राजर्षि तो एक उदात्ततम विशेषण है, जिसे उदयन, दुष्यन्त, अविमारक आदि के साथ लगाना उचित न होगा । भरत ने तो केवल इतना ही लिखा है कि नाटक की कथावस्तु राजर्षि वंश में उत्पन्न किसी नायक की चरित-गाथा होनी चाहिए। राजर्षिवंश में उत्पन्न तो किसी राजा नायक को मान सकते हैं ।

धनञ्जय के अनुसार नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए । भरत के अनुसार नाटक का नायक उदात्त होना चाहिए । धीरोदात्त और उदात्त में भेद है । उदात्त

तो कोई भी महानुभाव हो सकता है।[1] पर धीरोदात्त एक पारिभाषिक शब्द है, जो धीरोद्धत आदि से कुछ विशेषताओं के कारण भिन्न पड़ता है। अभिनवगुप्त ने सम्भवत उदात्त विशेषण की इसी चातुर्दिक् प्रवृत्ति को देखकर स्पष्ट कहा है कि उदात्त का अभिप्राय है वीर रस के योग्य और धीरोदात्त, धीरललितादि चारो प्रकार के नायक नाटक के योग्य हैं।[2] प्राचीन प्रसिद्ध नाटको मे धीरोदात्त के अतिरिक्त धीरललित नायक स्वप्नवासवदत्त मे और मालविकाग्निमित्र मे सुप्रसिद्ध हैं। मुद्राराक्षस का नायक चन्द्रगुप्त धीरललित ही है।

धनञ्जय ने दिव्य कोटि का नायक भी नाटक के लिए स्वीकार किया है। भरत के अनुसार किसी देवता को नाटक का नायक नही बना सकते। अभिनवगुप्त ने तो तर्क दिये हैं कि देवता नाटक के नायक होने के योग्य नही है, यद्यपि उनके तर्कों का कोई दृढ आधार नही है।[3]

कारण जो कुछ भी हों, प्राचीन नाटको मे देवताओ को नायक नही बनाया गया है।

धनञ्जय ने नाटक के नायक को प्रख्यात वश का और वृत्त को प्रख्यात होने का विधान बताया है। इस प्रकरण मे उनका प्रख्यात का अभिप्राय है रामायण, महाभारतादि मे वर्णित। आदि से पुराणो का भी ग्रहण कर लिया जाता है। अच्छा होता कि वैदिक सहिता से उपनिषद् तक सारे साहित्य को इस कोटि मे रख कर उनके चरितनायको को नाटक का नायक बनने की योग्यता प्रदान की गई होती।

इस नियम का परिपालन प्राचीनकाल मे हुआ नहीं। मुद्राराक्षस और स्वप्नवासवदत्त की कथा बृहत्कथा से ली गई है, जिसे प्रख्यात कोटि का उपजीव्य पूर्वोक्त आचार्यों ने नही माना है।

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४

२५. विरुद्ध तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

---

१. भरत ने ना० शा० २१.३४ मे गणिका तक को उदात्त विशेषण दिया है। किन्तु उसे धीरोदात्त विशेषण नही दिया जा सकता।

२ यहाँ अभिनवगुप्त के ना० शा० १८ १० पर भारती मे यह विप्रतिपत्ति है कि ना० शा० २४ ४ के अनुसार धीरप्रशान्त तो राजा हो ही नहीं सकता और अभिनवगुप्त राजा के अतिरिक्त किसी को नाटक का नायक बनने योग्य नहीं समझते।

३ दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृष्ठ १३०।

यथा छमना वालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः। वीरचरिते तु रावणसौहृदेन वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृत ।

जो कुछ नायक के लिए अनुचित हो या रस के विरुद्ध हो, उसे छोड देना चाहिए या उसे परिवर्तित कर देना चाहिए।

जैसे मायुराज ने उदात्तराघव में छल से राम द्वारा वालि का मारा जाना छोड दिया है। महावीरचरित में रावण से मित्रता के कारण राम के वध के लिए आये हुए वालि को राम ने मारा—इस प्रकार कथा परिवर्तित कर दी गई है।

आद्यन्तमेव निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ।।२५

२६. खण्डश सन्धिसज्ञाश्च विभागानपि खण्डयेत ।

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धं सूचनीयदर्शनीयवस्तुविभागं फलानुसारेणोपक्लृप्तबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्यलक्षणार्थप्रकृतिक पञ्चावस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत्। पुनरपि पुनर्द्वादश त्रयोदश चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयोदश चतुर्दशेत्येवमङ्गसंज्ञान् सन्धीना विभागान्कुर्यात् ।

कथावस्तु का आदि और अन्त निश्चित करके, खण्डश सन्धि नामक पाँच भागों में विभक्त करके उन विभागों का भी (सन्ध्यङ्गों में) विभाजन कर दे।

नायक विषयक अनुचित और रस विषयक विरोध का परित्याग करने से सर्वथा शुद्ध, सूचनीय और दर्शनीय वस्तुओं में विभक्त और फल का अनुसरण करते हुए बीज बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक अर्थप्रकृति से युक्त इतिवृत्त को पाँच अवस्थाओं की समरूपता के क्रम से पाँच भागों में विभक्त करे। फिर क्रमश प्रत्येक भाग का १२, १३, और १४ अङ्ग नामक सन्धि के विभाग में कर दे।

चतु षष्टिस्तु तानि स्युरगानीत्यपर तथा ।।२६

२७ पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभि ।

अगान्यत्र यथालाभमसन्धि प्रकरी न्यसेत ।।२७

अपरमिति प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिर्न्यूनमिति प्रधानेतिवृत्तादेकद्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिन्यूनं पताकेतिवृत्त न्यसनीयम्। अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभं न्यसनीयानि। प्रकरीतिवृत्त त्वपरिपूर्णसन्धि विधेयम्।

सभी सन्ध्यंगों की संख्या का योग ६४ होता है।२६

२७ पताका की सन्धियों को अनुसन्धि कहते हैं। पताका में अधिक से अधिक चार अनुसन्धियाँ होती हैं, जिनका अगों में विभाजन, जैसी मिलती जायें, कर दिया जाता है। प्रकरी में सन्धि विन्यास नहीं होता।

दूसरे प्रकार का इतिवृत्त प्रासंगिक कोटि की पताका है, जिसमे प्रधान इतिवृत्त मे एक, दो, तीन या चार अनुसन्धियाँ कम होती हैं। पताका वृत्त मे, जितने अङ्क मिलें, उतने रखे जायँ। उनका प्रधान वृत्त से विरोध नहीं होना चाहिए। प्रकरी वृत्त ऐसा बनाना चाहिए कि उसमे किसी भी एक सन्धि की पूरी सामग्री न हो।

नान्दी टीका

पताकावृत्त की सन्धियों को अनुसन्धि कहते हैं।[1] संस्कृत के विरल नाटको मे ही पताकावृत्त मिलते हैं।

तत्रैवं विभक्ते—

२८ आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः।

पूर्वोक्त विभाजन हो जाने पर।

२८ आदि में (प्रस्तावना के ठीक पश्चात्) विष्कम्भक अथवा अङ्क कार्ययोग की दृष्टि से होना चाहिए।

इयमत्र कार्ययुक्ति —

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥२८

२९. यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥२९

३० आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रय।

कार्य का औचित्य अधोलिखित है—

सर्वथा अपेक्षित वस्तु को (अङ्क के लिए) छोड़कर शेष नीरस वस्तु-प्रपंच को जब बताना हो तो विष्कम्भक के माध्यम से ऐसा करना चाहिए। जब आरम्भ से ही सरस कथावस्तु चलती हो तो नाटक के आदि मे ही अङ्क होना है। उस अङ्क की कथावस्तु का संकेत आमुख मे होता है।

स च—

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥३०

३१ अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रय।

रङ्गप्रवेशे साक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेक-प्रयोजनसंविधानरसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः।

---

[1] प्रधानसन्ध्यनुयायिस्यादनुसन्धि प्रकारदने।
एकोऽनेकोऽपि वा सन्धि पताकायां तु यो भवेत् ॥
भरतकोश पृष्ठ १८ पर भरत का मत।

अक मे नेता का चरित प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। अर्थात् सूच्य नहीं होता। अक बिन्दु (अवान्तर कथा के बीज) की व्याप्ति (सर्वत्र सत्ता) से समन्वित होती है। अर्थात् बिन्दु मे सकेतित कथा का विस्तार अक मे होता है। नाना प्रकार के अर्थ (घटनाओं का वर्णन), सविधान (घटनाओं का विन्यास) और रस का आश्रय (निधान) अक है। अर्थात् अंक मे अर्थ सविधान और रस मिलते हैं।

नायक जब रगपीठ पर आता है तो अङ्क भाग मे उसके कार्य-व्यापार साक्षात् निर्दिष्ट होते हैं। बिन्दु का उत्क्षेप (कथन), अर्थ (घटनाओं का वर्णन) आदि को अपने मे समन्वित करते हुए, अनेक प्रयोजन, सविधान और रस का अधिकरण अङ्क होता है, माना इनके लिए उ मङ्ग (गोद) हो।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने अङ्क की परिभाषा दी है कि इसमे नेता का चरित प्रत्यक्ष होना चाहिए। यहाँ नेता पद से महासामान्य वचन ही ले सकते हैं, अर्थात् किसी कथा पुरुष का चरित होना चाहिए।

यह पहले लिखा जा चुका है कि अङ्क मे नायक का प्रत्यक्ष चरित ही सर्वत्र दृश्य नही होता, अपितु सूच्य की मात्रा भी अतिशय होती है।[1]

यहाँ प्रत्यक्ष-नेतृ चरित पर विशेष चर्चा होनी चाहिए। भरत ने लिखा था कि नायकों के चरित सम्भोग को अक म प्रत्यक्ष (दृश्य) होना चाहिए।[2] भरत की इस मान्यता का सक्षेप धनञ्जय ने ग्रहण किया है। यहाँ धनञ्जय के मत को भरत के मत के प्रकाश मे रख कर समीक्षा की जाय। चरितसम्भोग है राजा का ऐश्वर्यमय-विलास। केवल इस विलास मात्र को नाटक मे अवश्य ही दृश्य बनाना है। यह सूच्य नहीं बनाया जा सकता। अन्य विषयों से सम्बद्ध राजकीय चर्चायें सूच्य हो सकती हैं और नाटकों मे सूच्य रूप मे सन्निवेशित भी हैं। यहाँ नेतृ पद अतिविशेष वचनात्मक है और नाटक के नायक राजा के लिए प्रयुक्त है।

बिन्दु अङ्कों के अन्त मे होना ही चाहिए। इससे अगले अङ्क की कथा संकेतित होती है। यहाँ यह स्पष्ट है कि अब बिन्दु सभी अंकों के अन्त मे आ सकता है तो धनञ्जय का दश० १ २२, २३ मे बिन्दु को यत्न नामक अवस्था और प्रतिमुख नामक सधि ही मे सीमित करना चिन्त्य है।

किसी प्रधान घटना से सम्बद्ध सहायक घटनाओं को सविधान कहा जाता है। यथा सन्ध्यङ्गों की चारुता निष्पन्न करने के लिए कवि नित्य नूतन सविधानों की कल्पना करता है। संविधानों के बिना सन्ध्यङ्ग और वीथ्यङ्ग की सरचना असम्भव है। अतएव इनका अविनाभाव प्रदर्श है।

---

१ दशरूपक १ ७८ पर टिप्पणी

२. ये नायका निर्दिनात्मेषां प्रत्यक्षचरितसम्भोग । ना० शा० १८.१७

इसी अर्थ मे ना० शा० १८.४८ म राजसम्भोग आया है।

किसी एक प्रयोजन को लेकर कोई घटना या कार्य पूरा होता है। उस घटना या कार्य को अर्थ कहते है।

तत्र च—

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥३१

३२. गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिन. परिपोषणम् ।

अगिन इत्यङ्गिरसस्थायिन संग्रहात्स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम्। गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थं ।

अंक मे अनुभाव, विभाव, स्थायी और सचारी भावों को कहीं किसी एक को ग्रहण करते हुए, फिर कहीं छोडते हुए प्रधान रस के स्थायी का परिपोषक बनाते हैं।

पूर्वोक्त कारिका मे अङ्गिन का अर्थ अङ्गो रस का स्थायी है। इसी प्रकार स्थायिना से अङ्गी रस से भिन्न रसो का स्थायी समझना चाहिए।

नान्दी टीका

रूपको मे कौन अगी रस हो—यह भरत ने स्पष्ट नही किया है। अभिनवगुप्त न अगी रसो का विवेचन अपनी ओर से अभिनवभारती मे किया है। अगी रस की धारा काव्य म आद्यन्त व्याप्त रहती है। इसे प्रधान रस या स्थायी रस भी कहते हैं। भरत के अनुसार नाटकादि मे जो बहुत से रस निष्पन्न होते है, उनमे से जिनका रूप सविशेष होता है, वह स्थायी रस है, शेष सचारी (अग) रस हैं।[१] अगी रस प्रधान है, अगरस उसके सहकारी या उपकारक हैं। ३.३४ पर धनिक कहता है—

केवलस्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारिता।

केवल स्थायी के उपनिबद्ध होने से वह व्यभिचारी होता है।

(१) क्योंकि केवल स्थायी उपनिबद्ध नही होता।

(२) स्थायी तब सचारी होता है जब स्तोक विभाव से उत्पन्न हो।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नता नयेत् ॥३२

३३. रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः।

कथासंध्यगोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभि ।

रस की अतिशय आसक्ति से कथावस्तु की धारा कही टूट न जाय। वस्तु, नाट्यालकार और नाट्य लक्षण की अतिशय आसक्ति से रस की धारा कहीं टूट न जाय।[२]

---

१. सर्वेषा समवेतानां यस्य रूप भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रस स्थायी शेषा सचारिणो मता ॥ ना० शा० २०.७६

२ नाट्यलक्षण और नाट्यालकार का विशेष विवरण ना० शा० षोडश अध्याय मे है।

अंक में नेता का चरित प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। अर्थात् सूच्य नहीं होता। अंक बिन्दु (अवान्तर कथा के बीज) की व्याप्ति (सर्वत्र सत्ता) से समन्वित होती है। अर्थात् बिन्दु में संकेतित कथा का विस्तार अंक में होता है। नाना प्रकार के अर्थ (घटनाओं का वर्णन), संविधान (घटनाओं का विन्यास) और रस का आश्रय (निधान) अंक है। अर्थात् अंक में अर्थ संविधान और रस मिलते हैं।

नायक जब रंगपीठ पर आता है तो अङ्क भाग में उसके कार्य-व्यापार साक्षात् निर्दिष्ट होते हैं। बिन्दु का उत्क्षेप (क्षपण), अर्थ (घटनाओं का वर्णन) आदि को अपने में समन्वित करते हुए, अनेक प्रयोजन, संविधान और रस का अधिकरण अङ्क होता है, मानो इनके लिए उत्सङ्ग (गोद) हो।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने अङ्क की परिभाषा दी है कि इसमें नेता का चरित प्रत्यक्ष होना चाहिए। यहाँ नेता पद सामान्यसामान्य वचन ही ले सकते हैं, अर्थात् किसी भी पुरुष का चरित होना चाहिए।

यह पहले लिखा जा चुका है कि अङ्क में नायक का प्रत्यक्ष चरित ही सर्वत्र दृश्य नहीं होता, अपितु सूच्य की मात्रा भी अतिशय होती है।[1]

यहाँ प्रत्यक्ष-नेतृ चरित पर विशेष चर्चा होनी चाहिए। भरत ने लिखा था कि नायक के चरित सम्भोग का अंक में प्रत्यक्ष (दृश्य) होना चाहिए।[2] भरत की इस मान्यता का संक्षेप धनञ्जय ने ग्रहण किया है। यहाँ धनञ्जय के मत को भरत के मत के प्रकाश में रख कर समीक्षा की जाय। चरितसम्भोग है राजा का ऐश्वर्यमय-विलास। केवल इस विलास मात्र को नाटक में अवश्य ही दृश्य बनाना है। यह सूच्य नहीं बनाया जा सकता। अन्य विषयों से सम्बद्ध राजकीय चर्चायें सूच्य हो सकती हैं और नाटकों में सूच्य रूप में सन्निवेशित भी हैं। यहाँ नेतृ पद अतिविशेष वचनात्मक है और नाटक के नायक राजा के लिए प्रयुक्त है।

बिन्दु अङ्कों के अन्त में होना ही चाहिए। इससे अगले अंक की कथा संकेतित होती है। यहाँ यह स्पष्ट है कि जब बिन्दु सभी अंकों के अन्त में आ सकता है तो धनञ्जय का दश० १ २२, २३ में बिन्दु को यत्न नामक अवस्था और प्रतिमुख नामक सन्धि ही में सीमित करना चिन्त्य है।

किसी प्रधान घटना से सम्बद्ध सहायक घटनाओं को संविधान कहा जाता है। यथा सम्प्यङ्गों की चारुता निष्पन्न करने के लिए कवि नित्य नूतन संविधानों की कल्पना करता है। संविधानों के बिना सन्ध्यङ्ग और वीथ्यङ्ग की संरचना असम्भव है। अतएव इसका अविनाभाव प्रयोग है।

---

१ दशरूपक १ १ ७८ पर टिप्पणी

२. य नायका निगदितास्तेषां प्रत्यक्षचरितसम्भोग। ना० शा० १८.१३

इसी अर्थ में ना० शा० १८ ४८ में राजसम्भोग आया है।

किसी एक प्रयोजन को लेकर कोई घटना या कार्य पूरा होता है। उस घटना या कार्य को अर्थ कहते हैं।

तत्र च—

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥३१

३२. गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम्।

अङ्गिन इत्यङ्गिरसस्थायिनः संग्रहात्स्थायिनेति रसान्तरस्थायिनो ग्रहणम्। गृहीतमुक्तैः परस्परव्यतिकीर्णैरित्यर्थः।

अंक मे अनुभाव, विभाव, स्थायी और सचारी भावों को कहीं किसी एक को ग्रहण करते हुए, फिर कहीं छोडते हुए प्रधान रस के स्थायी का परिपोषक बनाते हैं।

पूर्वोक्त कारिका मे अङ्गिन का अर्थ अङ्गी रस का स्थायी है। इसी प्रकार स्थायिना मे अङ्गी रस से भिन्न रसो का स्थायी समझना चाहिए।

नान्दी टीका

रूपकों मे कौन अंगी रस हो—यह भरत ने स्पष्ट नही किया है। अभिनवगुप्त ने अंगी रसों का विवेचन अपनी ओर से अभिनवभारती मे किया है। अंगी रस की धारा नाट्य मे आद्यन्त व्याप्त रहती है। इसे प्रधान रस या स्थायी रस भी कहते हैं। भरत के अनुसार नाटकादि मे जो बहुत से रस निष्पन्न होते हैं, उनमे से जिनका रूप सविशेष होता है, वह स्थायी रस है, शेष सचारी (अंग) रस हैं।[1] अंगी रस प्रधान है, अंगरस उसके सहकारी या उपकारक हैं। ३.३४ पर धनिक कहता है—

केवलस्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारिता।

केवल स्थायी के उपनिबद्ध होने से वह व्यभिचारी होता है।

(१) क्योंकि केवल स्थायी उपनिबद्ध नही होता।

(२) स्थायी तब सचारी होता है जब स्तोक विभाव से उत्पन्न हो।

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥३२

३३. रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः।

कथासंध्यङ्गोपमादिलक्षणैर्भूषणादिभिः।

रस की अतिशय आसक्ति से कथावस्तु की धारा कहीं टूट न जाय। वस्तु, नाट्यालंकार और नाट्य लक्षण की अतिशय आसक्ति से रस की धारा कहीं टूट न जाय।[2]

---

१ सर्वेषां समवेतानां यस्य रूपं भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सचारिणो मताः ॥ ना० शा० २०.७६

२ नाट्यलक्षण और नाट्यालंकार का विशेष विवरण ना० शा० षोडश अध्याय मे है।

कथा की सन्धियों के अङ्ग और उपमा आदि जो लक्षणों के द्वारा भूषणादि के समान हैं।

नान्दी टीका

रस की अतिशयता के लिए वर्णन को अधिक विस्तार देकर कथावस्तु को गौण नहीं बनाना चाहिए और न कथावस्तु का अतिशय प्रपञ्च करके रसतत्त्वों का ओझल करना चाहिए। दोनों तत्त्वों का सामञ्जस्य होना चाहिए।

नाट्य लक्षणों को लक्षण कहा गया है। इनको भूषण भी कहते हैं। इनकी सख्या ३६ है। विभूषण, शोभा, गुणकीतन, प्रोत्साहन, पदोच्चय, मनोरथ, दृष्टान्त, कपट, कार्य आदि लक्षण हैं। इनका विशेष विवरण नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में है।

एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीर. शृंगार एव वा ॥३३

३४ अगमन्ये रसा सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

ननु च रसान्तरस्थायिनेत्यनेनैव रसान्तराणामगत्वमुक्तम्, तन्न यत्र रसान्तरस्थायी स्वानुभावविभावव्यभिचारियुक्तो भयसोपनिबध्यते तत्र रसान्त राणामंगत्वम्। केवलस्थाय्युपनिबन्धे तु स्थायिनो व्यभिचारितैव।

वीर और शृ गार म से किसी एक को प्रधान रस बनाना चाहिए। अन्य रस अग बनकर आ सकते हैं। निर्वहण सन्धि मे अद्भुत रस होना चाहिए।

३१वी कारिका में कहा जा चुका है कि रसान्तरस्थायी से अङ्गी रस के स्थायी का पोषण होना चाहिए। फिर वही बात यहाँ क्या कही गई। धनिक ने उत्तर दिया है कि ऐसी पुनरुक्ति की स्थिति वस्तुत नहीं है। यहाँ रसान्तर का स्थायी अपने विभावानुभाव सचारी से युक्त होकर रस रूप मे परिणत हो चुका है और वह प्रधान रस का अङ्ग है। पर ऐसे भी तो स्थायी वर्णित होते हैं जो विभावादि के अभाव मे स्थायी मात्र ही रह जाते हैं, रस मे परिणत नहीं होते। ऐसे स्थायी भावों को सचारी भाव की कोटि म रखते हैं। इस प्रकार रसान्तर स्थायी का अङ्ग होना और कोरे स्थायी का अङ्ग होना पृथक्-पृथक् अभिप्राय प्रकट करते है।

नान्दी टीका

भरत ने नाटकादि के अनेक रस होने की बात तो कही है, किन्तु किस रूपक मे कौन अगी रस हो यह नहीं कहा है। अभिनवगुप्त के अनुसार सभी नाटकों म वीर रस ही प्रधान है।[1] यह मत भी विलक्षण ही लगता है। अभिज्ञानशाकु तल मे वीर रस का अगी होना समीचीन नहीं है।

दशरूपक म नाटक म वीर या शृगार के अगी होने की बात कही गई है। यह तो सिद्धान्त की बात है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रतीत होता है कि उत्तररामचरित नामक नाटक में अगी रस करुण है और वेणीसहार मे रौद्र रस अगी है।

१ नाटके वीररस प्रधान । ना० शा० भाग २ पृष्ठ ४५१ गा० ओ० सी०।

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ॥३४
३५ संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ॥३५

अङ्केनैवोपनिबध्नीयात्। प्रवेशकादिभिरेव सूचयेदित्यर्थः।

दूर तक मार्ग चलना, वध, युद्ध, राज्य और देशादि मे विप्लव, घेरा डालना, भोजन, स्नान, सम्भोग, अनुलेपन, वस्त्र ग्रहण आदि को रंगपीठ पर प्रत्यक्ष दिखाना नाटक मे नहीं होना चाहिए। ३५

इनको अङ्क भाग मे नहीं लिखना चाहिए, प्रवेशकादि मे इन घटनाओं की सूचना मात्र दे देनी चाहिए।

नान्दी टीका

रंग पीठ पर अंक मे क्या दृश्य न बनाया जाय—यह समस्या है। पहले हम युद्ध को लेते हैं। धनञ्जय के अनुसार रंगपीठ पर युद्ध नहीं होना चाहिए। भरत ने भी १८.३८ मे रंगपीठ पर युद्ध निषेध किया है, किन्तु साथ ही अभिनय प्रकरण मे ना० शा० ६.६५, २१.२२५, १० ७१ आदि मे नानाप्रहरण मोक्ष को रंगपीठ पर दृश्य रूप मे कार्य बनाया है। इसी प्रकार मरण के दृश्य को भी भरत ने रंगपीठ पर दृश्य ना० शा० २५ १००-१०२ मे बनाया है।

युद्ध, मरण आदि के अभिनयविषयक कारिका—

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरावरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि ॥ १८.३८

का अर्थ कुछ लोग करते हैं कि युद्ध आदि को यदि अंक मे नहीं दृश्य बनाया तो प्रवेशक के द्वारा सूच्य बनाना चाहिए।

अभिनवगुप्त यद्यपि मरण के दृश्य का निषेध करते हैं, किन्तु उन्होंने कहा है मरण का अभिनय कुछ आचार्य सम्भव मानते हैं।[1] धनञ्जय ने वध का वर्जन ता किया है, किन्तु मृत्यु का नहीं।

भास के नाटकों मे मरण के दृश्य हैं।

शृंगारिक दृश्यों को भरत २२ २६५-२८८ मे तो निषेध करते हैं किन्तु २२ २८४-२९२ मे उनका विधि विधान स्पष्ट करते हैं। व्यावहारिक रूप में शृंगारिक दृश्य आलिंगनादि कभी पूर्णतया निषिद्ध न हुए और रसिक कवियों ने कभी-कभी विशेष उत्साहपूर्वक कामुक प्रवृत्तियों का दर्शनरूपकों मे प्रत्यक्ष कराया है।

३६. नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च।

अधिकृतनायकवधं प्रवेशकादिनापि न सूचयेत्, आवश्यकं तु देवदिग्-भावाद्यवश्यमेव क्वचित्कुर्यात्।

---

1 ना० शा० १८ ३८ पर भारती।

नाटक मे अधिकारी नायक का वध नहीं बताना चाहिए। किसी आवश्यक कार्य या घटना को कहीं छोडना नहीं चाहिए।

अधिकारी नायक का वध प्रवेशकादि मे भी सूचित न करे। आवश्यक कार्य है देव पितृ आदि के लिए यज्ञ या तर्पण आदि। इनको अवश्य करना चाहिए।

नान्दी टीका

धनिक ने अधिकारी के वध का निषेध किया है। इस नियम की कोई सार्थकता नहीं है, क्योंकि अधिकारी का अर्थ है फल प्राप्ति करने वाला। यदि उसका वध होता है तो वह अधिकारी नहीं और यदि अधिकारी है तो फल प्राप्त करेगा और उसका फल-प्राप्ति तक वध हो ही नहीं सकता।

'त्याज्यमावश्यकं न च' की धनिक की टीका सामञ्जस्य पूर्ण नहीं है कि देवपितृ-कार्य को न छोडा जाय। यहाँ आवश्यक से तात्पर्य नाटक की फलानुवर्ती महत्वपूर्ण घटनाओं से है।

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ॥ ३६

३७ पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमबहुपात्रप्रवेशमङ्कं कुर्यात्। तेषां पात्राणामवश्यमङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः।

अङ्क मे एक दिन मे किये हुए कार्मो की चर्चा होनी चाहिए। उसमे एक ही अर्थ (प्रधान घटना) होनी चाहिए। नायक कोटि का पात्र रंग पर होना ही चाहिए अर्थात् अङ्क भाग में कभी ऐसी स्थिति नहीं आने देनी चाहिए कि छोटे-मोटे ही पात्र रह जायें। अंक मे तीन या चार पात्र साथ होने चाहिए। अङ्क के अन्त मे सभी पात्रों को निष्क्रान्त हो जाना चाहिए।

एक दिन मे हुए एक प्रयोजन से सम्बद्ध, नायक युक्त, अनधिक पात्र के प्रवेश वाला अङ्क होना चाहिए। उन सभी पात्रों को अङ्क के अन्त मे अवश्य निष्क्रान्त होना चाहिए।

नान्दी टीका

अङ्क मे नायक का रंगपीठ पर वर्त्तमान होना चाहिए। यहाँ नायक मध्यम सामान्य वचनात्मक है, जैसा रूपको मे देखा भी जाता है। भरत के अनुसार नायक, देवी, गुरुजन, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाह सम्बन्धी कामों की चर्चा अङ्क मे होती है। ना० शा० १८।१८

'तेषामन्तेऽस्य निर्गमः' का साधारण अर्थ है कि पात्रों का निर्गम अङ्कान्त मे होता है। इस अर्थ मे सन्देह होता है कि अङ्क के बीच मे पात्र रंगपीठ से बाहर जायेंगे कि नहीं? इस सम्बन्ध मे नियम है कि प्रधान नायक अतीव असाधारण स्थिति मे ही अङ्कान्त के पूर्व रंगपीठ से बाहर जायेगा, किन्तु अन्य पात्र रंग से आते-जाते रहेंगे।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ।। ३७
३८. एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृता. ।
पञ्चाङ्कमेतदवर दशाङ्क नाटकं परम् ।। ३८

इत्युक्त नाटकलक्षणम् ।

अङ्क के भीतर पताकास्थानक होने चाहिए। अङ्क के अन्त मे बिन्दु होना चाहिए, जिसमे अगले अक की कथा का बाज हो। इस प्रकार अंक बनने चाहिए। उनके पहिले प्रवेशक या विष्कम्भकादि होने चाहिए। छोटे नाटक मे पाँच अङ्क और (महा-) नाटक मे दस अङ्क होने चाहिए। ३८

प्रकरणम्

३६. अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्य लोकसश्रयम् ।
अमात्यविप्रवणिजामेक कुर्याच्च नायकम् ।। ३६
४०. धीरप्रशान्तं सापाय धर्मकामार्थतत्परम् ।
शेष नाटकवत्सधिप्रवेशकरसादिकम् ।। ४०

कविबुद्धिविरचितमितिवृत्तं लोकसश्रयम्=अनुदात्तम् अमात्याद्यन्यतमं धीरप्रशान्तनायकं विपदन्तरितार्थसिद्धि कुर्यात् प्रकरणे। मन्त्री अमात्य एव। सार्थवाहो वणिग्विशेष एवेति स्पष्टमन्यत्।

३६ प्रकरण मे कथावस्तु कविकल्पित होती है और साधारण जनजीवन से सबद्ध होती है। इसमे अमात्य, विप्र और वणिक् मे से कोई एक प्रधान नायक बनाया जाता है, जो धीरप्रशान्त कोटि का होता है, कठिनाइयो से भरापूरा उसका व्यक्तित्व होता है। वह त्रिवर्ग की प्राप्ति मे व्यापृत होता है। सन्धि प्रवेशक और रस आदि का विन्यास प्रकरण मे नाटक के समान होता है।

प्रकरण का इतिवृत्त कवि अपनी बुद्धि से स्वय गढ लेना है। वह लोकसश्रय अर्थात् अनुदात्त होता है। अमात्यादि मे से कोई एक धीरप्रशान्त नायक होना है जो विपत्तियो से बाधित होकर भी अपने उद्देश्य मे होना है। मन्त्री और अमात्य एक हा हैं। विशिष्ट वणिक् सार्थवाह कहा जाना है।

नान्दी टीका

प्रकरण मे वृत्त उत्पाद्य हो—यह धनंजय का मत अर्धसत्य ही है। प्रकरण के वृत्त की वास्तविकता समझने के लिए केवल यही कहना पर्याप्त होता कि यह प्रख्यात नहीं होता है। प्रख्यात एक पारिभाषिक शब्द है और उसकी परिधि से बाहर तीन प्रकार की कथावस्तु भरत के अनुसार आती है (१) उत्पाद्य (२) आहार्य और (३)

अनार्ष ।[1]उत्पाद्य या औत्पत्तिक पूर्णतया कवि कल्पित होती है। आहार्य वस्तु पहले के कवियों की काव्यात्मक रचनाओं से ले ली जाती है।[1] कभी कवियों और ऋषियों के बीच जो कथाकार हुए उनकी रचनाओं को अनार्ष नाम दिया गया। जैसे गुणाढ्य की वृहत्कथा है। उसमें कोई कथा लेकर यदि रूपकोचित बनाया गया तो उसकी कथावस्तु अनार्ष कही जाती थी।[2] आहार्य और अनार्ष कोटि की कथावस्तु में नाटककार कवि के द्वारा कल्पित अंश विशेष रहता था और यही नाटककार की प्रतिभा की अभिनव उपज उस कृति की चारुता का सवर्धन करती थी।

कतिपय ऐसे प्रकरण भी सुप्रतिष्ठित हैं, जिनकी कथावस्तु उपर्युक्त किसी कोटि में नहीं आती। अश्वघोष का सारिपुत्र प्रकरण और विशाखदत्त का देवीचन्द्रगुप्त ऐतिहासिक कथानक वाले प्रकरण हैं।

लोकाश्रय से तात्पर्य है अराजकीय वातावरण से सम्बन्धित। नाटक में राजसम्भार होता था तो प्रकरण में जनजीवन।

प्रकरण का नायक अमात्य, विप्र, वणिक् आदि भले होते हैं, किन्तु सारिपुत्र और चन्द्रगुप्त उपर्युक्त कोटि से बाहर के हैं। चन्द्रगुप्त तो राजा ही है।[3]

धनञ्जय ने प्रकरण के विषय में कतिपय आवश्यक लक्षण, जो भरत के द्वारा निर्दिष्ट भी हैं, छोड़ दिये हैं। यथा राजकीय स्तर पर कथाविस्तार होने से राजकीय सहायक प्रवृत्ति नाटक में होती है, किन्तु लोकाश्रित कथा होने से उसके स्थान पर साधारण नागरक समाज के लोग आते हैं। यथा,

नाटक के कथा पुरुष	उसके स्थान पर प्रकरण के पुरुष
कञ्चुकी	दास
विदूषक	विट
अमात्य	श्रेष्ठी

इस भारतीय नियम का अपवाद मृच्छकटिक नाटक में मिलता है। इसमें विट और विदूषक दोनों हैं। देवीचन्द्रगुप्त नामक प्रकरण में भी विदूषक है।

यद्यपि धनजय के अनुसार प्रकरण में केवल कुलजा नायिका हो सकती है, गणिका का होना आवश्यक नहीं है, जैसा पुष्पदूषितक में है, तथापि गणिका-प्रधान प्रकरण की बात कुछ और ही मानी जाती थी। तभी तो भरत ने लिखा है—

वेशसम्युपचारकारणोपेतम्। १८ ४९

---

१ आहार्य का उदाहरण अभिनवगुप्त के अनुसार समुद्रदत्त चेष्टित नामक प्रकरण में है।

२ अभिनव गुप्त के अनुसार अनार्ष का उदाहरण मूलचरित नामक प्रकरण में है।

३. भरत ना० शा० १८.४८ के अनुसार उदात्त नायक नहीं होना चाहिए, किन्तु देवीचन्द्रगुप्त में चन्द्रगुप्त उदात्त नायक है। उदात्त का एकमात्र अर्थ है उच्चवर्गीय।

प्रकरण की गणिका को संस्कृत बोलना चाहिए—भरत के इस नियम को मृच्छकटिक में मान्यता नहीं मिली है।

४१. नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥ ४१
४२. कुलजाभ्यन्तरा, बाह्या वेश्या, नातिक्रमोऽनयोः ।
आभिः प्रकरणं त्रेधा, सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम् ॥ ४२

वेशो भृतिः सोऽस्या जीवनमिति वेश्या तद्विशेषो गणिका । यदुक्तम्—

'आभिरभ्युच्छ्रिता वेश्या रूपशीलगुणान्विता ।
लभते गणिकाशब्दं स्थानं च जनसंसदि ॥ कामशास्त्र १.३.१७

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका । यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते, कुलजैव पुष्पदूषितके, ते द्वे अपि मृच्छकटिकायामिति । कितवद्यूतकारादिधूर्तसङ्कुलं तु मृच्छकटिकादिवत्सङ्कीर्णप्रकरणमिति ।

४१ नायिका साधारणतः दो प्रकार की होती है—कुलस्त्री और गणिका। अपवाद रूप से किसी प्रकरण में कुलस्त्री या गणिका अकेली नायिका होती है और किसी प्रकरण में कुलस्त्री और वेश्या दोनों ही नायिका होती हैं। कुलस्त्री उसे कहते हैं जो अपने घर की परिधि के भीतर ही रहती है। वेश्या नायिका का प्रणयात्मक क्षेत्र नायक के घर की परिधि के बाहर होता है। इन दोनों की मुठभेड़ नहीं होती है। नायिका की उपर्युक्त तीन स्थितियों के अनुसार तीन प्रकार के प्रकरण होते हैं। जिस प्रकरण में धूर्त पात्रों का चरित होता है उसे सङ्कीर्ण प्रकरण कहते हैं।

वेश का तात्पर्य है भृति (जीविका का साधन)। वेश ही जिसका जीवन है, वह वेश्या है। विशिष्ट वेश्या गणिका होती है। गणिका का लक्षण बताया गया है—

इन (कलाओं) के द्वारा उत्कर्ष प्राप्त वेश्या रूप, शील और गुण-युक्त होने पर गणिका उपाधि प्राप्त करती है और उसे लोकसभा में प्रतिष्ठा मिलती है।

इस प्रकार कुलजा, वेश्या और दोनों ही तीन प्रकार की नायिकायें प्रकरण में होती हैं। उदाहरण है तरङ्गदत्त में केवल वेश्या नायिका है, पुष्पदूषितक में केवल कुलस्त्री नायिका है और मृच्छकटिक में कुलस्त्री और गणिका दोनों ही नायिकायें हैं। मिथ्यावादी, जुआरी आदि धूर्तों से निर्भर मृच्छकटिक प्रकरण सङ्कीर्ण कोटि का है।

नाटिका

४३. लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये ।

अत्र केचित्—

'अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये ॥'

इत्यमुं भरतीयं श्लोकम् 'एको भेद प्रख्यातो नाटिकाख्य इतरस्त्वप्रख्यात प्रकरणिकासंज्ञो नाटीसंज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणा. प्रकरणिकामपि मन्यन्ते तदसत् । उद्देशलक्षणयोरनभिधानात् । समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात् । वस्तुरसनायकाना प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकाया अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्राय --शुद्धलक्षणसङ्कारादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णाना नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते ।

४३. बहुविध रूपकों के परस्पर सकर से अनेक रूपक सकीर्ण कोटि के बनेंगे । उन सबमे विशेष महत्त्वपूर्ण नाटिका है, क्योंकि यह अधिकतम महत्त्वपूर्ण दो रूपक—नाटक और प्रकरण के सं कर से बनती है । अन्य सं कर कोटिक रूपकों से सविशेष होने के कारण नाटिका को उनसे अलग कर देने के लिए नाटिका का लक्षण बताते हैं ।

यहाँ यह शका अनेक आचार्य करते है कि भरत न कहा है कि इन दो (नाटक और प्रकरण) के सम्प्रयोग से (मिले-जुले काव्य रूप) से एक नया भेद नाटिका का तैयार होता है, जो प्रख्यात है । इनके मिश्रण से दूसरा अप्रख्यात भेद प्रकरणिका माना है । इन दोनों (नाटिका और प्रकरणिका) को नाटी कहते हैं ।

उत्तर—इस प्रकार प्रकरणिका को मानना ठीक नही है क्योंकि भरत ने न तो प्रकरणिका उद्देश (नाम) कहीं दिया है और न उसका लक्षण ही बताया है । यदि कहा जाय कि प्रकरणिका का लक्षण नाटिका के समान ही है तो इन दोनों में भेद ही कहाँ रहा ? जिस प्रकरणी की असत्कल्पना शका करने वाले करते हैं, उसका वस्तुवस्तु, नेता और रस प्रकरण से भिन्न नही होते, जिसका नाम तक भरत ने नही लिया है । नाट्यशास्त्र मे नाटिका का ही लक्षण किया गया है । इसस यह अभिप्राय प्रमाणित होता है कि शुद्ध नाटक और प्रकरण के संकर स केवल नाटिका ही बन पाती है, अन्य कोई प्रकरणिकादि नही ।

नान्दी टीका

यदि नायक धारप्रशान्त प्रकरणोचित हो और कथावस्तु नाटकोचित प्रख्यात हो तो इस प्रकार के प्रकरण और नाटक के संकर को प्रकरणिका क्यों नहीं माना जा सकता है उस पर धनिक मौन हैं ।

सकीर्णानिवृत्तय का तात्पर्य है कि नाटक और प्रकरण के मिश्रण में केवल नाटिका नामक उपरूपक बनता है, अन्य कोई उपरूपक नही बन सकता । इस प्रकार प्रकरणिका नामक उपरूपक कोटि को असत् बताया गया है ।[१]

१. पाठान्तर वाली धनिक प्रदत्त कारिका का संक्षेप मे अर्थ है—नाटक और प्रकरण के मिश्रण से नाटी बनती है, जिसके दो भेद हैं—नाटिका और प्रकरणिका ।

धनिक ने 'अनयोश्च बन्धयागादेक' इत्यादि भरत के नाट्यशास्त्र से उद्धरण लेकर एक समस्या प्रकरणिका की उपस्थित की है। उनका ही समाधान है कि प्रकरणिका नामक कोई उपरूपक सम्भव नहीं है और न भरत की दृष्टि में ऐसा कोई उपरूपक था ही।

वास्तव में धनिक द्वारा इस प्रसग मे उद्धृत भरत की मूल कारिका है—

अनयोश्च बन्धयोगादन्यो भेद प्रयोक्तृभि कार्य ।

प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटकयोगे प्रकरणे वा ॥ १८ ५७

धनिक को इसका विरल पाठान्तर मिला, जिसे लेकर उन्होंने प्रकरणिका की चर्चा उपस्थित की है।

भरत न नाटिका के कुछ विशेष लक्षण बताये हैं, जो महत्त्वपूर्ण है। किन्तु धनञ्जय ने उन्हे दशरूपक मे स्थान नही दिया है। यथा,

बहुनृत्तगीतपाठ्या रतिसम्भोगात्मिका चैव ।

राजोपचारयुक्ता प्रसादन क्रोध-दम्भ-सयुक्ता ॥

नायक देवी दूती सपरिजना नाटिका ज्ञेया ॥ १८ ५९-६०

अर्थात् नाटिका म नृत्त, गीत और पाठ्य का बाहुल्य होना चाहिए। सम्भाग (राज्य-प्राप्ति) का भी वृत्त होना चाहिए। नायक राजा का देवी आदि नायिकाओं के प्रति उपचार (सविनय व्यवहार) मिलता है। राजा देवी को प्रसन्न करता दिखाया जाता है। वह क्रोध करती है। राजा नायक उसे वचनो द्वारा भरमाता है। ये हैं नाटिका की कथा के कतिपय महत्त्वपूर्ण अङ्ग जिनमे उसकी सरसता निष्पन्न होती है।

तमेव सङ्कर दर्शयति—

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृप ॥४३

४४. प्रख्यातो धीरललित शृगारोऽङ्गी सलक्षण ।

उत्पाद्येतिवृत्तत्व प्रकरणधर्म, प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति। एव च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादे प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्र-भेदाद् यदि भेद

तत्र—

नाटक और प्रकरण के सकर को समझाते हैं—

नाटिका में वस्तु प्रकरण से होती है, नृप नायक नाटक से ग्रहण किया गया है। नायक प्रख्यात और धीरललित होता है। नाटिका मे अगीरस शृङ्गार होता है।

कल्पित कथावस्तु होना यह प्रकरण का धर्म है और नायक का प्रख्यात राजा होना यह नाटक का धर्म है। नाटक प्रकरण और नाटिका मे वस्तु आदि के जो प्रकार समाविष्ट हो चुके, उससे बाहर प्रकरणिका के लिए कुछ नहीं रहा। यदि अङ्क और पात्र की सख्या के आधार पर इसका भेद करना है तो—

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदक यदि चेष्यते ॥४४

४५. एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

तत्र नाटिकेति स्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम् । कैशिकीवृत्त्या- श्रयत्वाच्च तदङ्गसंख्ययाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ।

यदि प्रकरणिका और नाटिका का भेद ऐसे आधारों पर करना है कि नाटिका में पात्र प्रायः स्त्रियाँ होती हैं और चार अंक होते हैं तो यह आनन्त्य दोष के कारण विचारणीय प्रस्ताव नहीं है, क्योंकि तब तो एक, दो, तीन, चार आदि अंकों तथा पात्रों के भेद से अनन्त भेद हो जायेंगे।

नाटिका नाम स्त्रीलिंग है। उचित ही है कि उसमें स्त्रियों की प्रधानता होती है। कैशिकी वृत्ति का आश्रय लेने के कारण तथा उस कैशिकी के चार अङ्ग होने से तथा अवमर्श की लघुता होने से नाटिका में केवल चार अङ्क होना समीचीन है।

विशेषस्तु—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥४५

४६. गम्भीरा मानिनी, कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसङ्गमः ।

प्राप्या तु—

नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥४६

तादृशीति नृपवंशजत्वादिधर्मातिदेशः ।

नाटिका में अन्य कतिपय विशेषतायें हैं—

नायक की पहले से चली आई हुई नायिका देवी या महादेवी नृपवंशजा रहती है और (समय की गति से) ज्येष्ठा और प्रगल्भा कोटि प्राप्त कर चुकी होती है। वह गम्भीरा और मानिनी होती है। (नई) नायिका से नायक का मिलन उसके अधीन होने से कठिनाई से होता है।

प्राप्या = नई नायिका के लक्षण हैं—

वह ज्येष्ठा नायिका की भाँति (राजकुलोत्पन्न) होती है। वह मुग्धा, दिव्या और अत्यन्त रमणीय होती है।४६

तादृशी से अभिप्राय है नृपवंश में उत्पन्न, जैसी ज्येष्ठा होती है। ज्येष्ठा का यह विशेषण नई नायिका के लिये विस्तृत है।

४७. अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।

अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥४७

४८. नेता तत्र प्रवर्त्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः ।

तस्यां मुग्धनायिकायामन्तःपुरसम्बन्धसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्यास-

न्नाया नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरित उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीय ।

४७ नई नायिका का अन्त पुर आदि से सम्बन्ध होने के कारण वह नायक के लिए निकट हो जाती है, ताकि वह उसे देख सकता है और उसकी चर्चा सुन सकता है। उसके प्रति नायक का अनुराग उत्तरोत्तर नित्य नये रङ्ग लाता है।४७

महादेवी के भय से शकित नायक इस नई नायिका के प्रति प्रवृत्त होता है।

उस मुग्धा नायिका के अन्त पुर मे होने वाले सगीतक (नाच, गाना, नाटक का प्रयोगादि) के सम्बन्ध से निकट होने पर ज्येष्ठा नायिका देवी के द्वारा बाधा उपस्थित होते रहने पर भी नायक और नायिका मे उत्तरोत्तर नयी नयी अनुराग की प्रवृत्तियो का वणन नाटककार करे।

कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्केरिव नाटिका ॥४८

प्रत्यङ्कोपनिबद्धाभिहितलक्षणकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।

नाटिका मे कैशिकी के चार अङ्ग होते हैं। अङ्को के क्रमानुसार प्रत्येक अङ्क मे कैशिकी का एक-एक अङ्ग वर्णित होगा।

इस प्रकार कैशिकी के चारो अङ्गो का विन्यास होगा। कैशिकी का लक्षण पहले बता चुके हैं।

भाण

४६ भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुण पण्डितो विट ॥४६
५०. सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितै ।
सूचयेद्वीरश्रृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवः ॥ ५०
५१ भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्के वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥ ५१

धूर्तश्चौरद्यूतकारादयस्तेषा चरितं यत्रैक एव विट स्वकृतं परकृत वोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद्भाण । एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाश-भाषितैराशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति। अस्पष्टत्वाच्च वीरश्रृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ।

४६ भाण धूर्तचरित को वर्णना है चाहे वह स्वयं नायक के द्वारा अनुभूत हो या अन्य किसी के द्वारा। निपुण, विद्वान् विट नायक रूप से धूर्तचरित का रहस्योद्घाटन करता है। ४६-५०—विट के भाषण में सम्बोधन, उक्ति और प्रत्युक्ति

को आकाशभाषित विधि से प्रस्तुत करते हैं। शौर्य और नायक के सौभाग्य के परिचय से वीर और शृंगार रसों की सूचना दी जाती है। भारतीवृत्ति की अतिशयता होती है। एक ही अंक में सारी कथा आ जाती है। मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं और दस लास्यांग समाविष्ट होते हैं।५१

धूर्त से चोर, जुआरी आदि भी समझें। उनके चरित का वर्णन रंगपीठ पर अकेला ही विट करता है। अथवा वह अपना या दूसरे का किया हुआ चरित वर्णन करता है। इसको भाण (वाचिक व्यापार) इसलिए कहते हैं कि इसमें भारती वृत्ति (वाचिक व्यापार) प्रधान होती है। एक ही पात्र विट की उक्ति प्रत्युक्तियाँ होती हैं। उसकी उक्ति की प्रत्युक्ति आकाशभाषित के द्वारा उत्तर रूप में आशङ्कित होती है, जिसे वह पुन सुना कर अपनी बात कहता है। इसमें वीर और शृङ्गार दो रस होते हैं किन्तु वे अस्पष्ट होते हैं। किसी के सौभाग्य और शौर्य की वर्णना में इन दो रसों की सूचना दी जाती है।

नान्दी टीका

भाण में वीर और शृगार की सूचना होता है—धनञ्जय का यह मत भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर नहीं है। वीर और शृगार के लिए भरतादि आचार्यों ने उदात्त प्रकृति के नायकों का आश्रय होना आवश्यक बताया है और भाण में इनका सर्वथा अभाव होता है। धनञ्जय का मत चिन्त्य है।

भाण में शौर्य और सौभाग्य का सस्तव (प्रशंसा, परिचय) होता है—धनञ्जय का यह मत भी अभारतीय है और इसका कोई अवसर भाण में स्वभावत नहीं रहता।

वर्तमान भाणों में वीर और शृगार रसों का तथा शौर्य और सौभाग्य की चर्चा का लेश भी दृश्यमान नहीं है।[१]

लास्य

लास्याङ्गानि—

> ५२. गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका।
> प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥५२
> ५३. उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च।
> लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥५३

शेषं स्पष्टमिति।

दस लास्याङ्गों के नाम है—गेय पद, स्थित पाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ, सैन्धव, द्विगूढक, उत्तमोत्तमक, उक्तप्रत्युक्त।

१. भाण की अन्य विशेषताओं के लिए देखिये दशरूपकतत्त्वदर्शनम् पृष्ठ १४३-१४४

नान्दी टीका

लास्य एक प्रकार का नृत्य है।[1] जैसे वीथी नामक रूपक के अङ्ग होते हैं, वैसे ही लास्य के अङ्ग होते हैं। वीथ्यङ्ग और लास्याङ्ग दोनो ही अन्य रूपकों और उपरूपकों मे नाट्याङ्ग नहीं होते, पर रंजकता का निष्पादन करने के लिए नाट्योपयोगी बनकर समाविष्ट होते हैं। भाण मे इनकी विशेष रोचकता बताई गई है, किन्तु वर्त्तमान रूपकों, उपरूपकों और भाणों मे भी लास्याङ्गों का प्रयोग विरल ही दिखाई देता है। धनञ्जय और धनिक ने लास्याङ्गों का नाममात्र देना ही पर्याप्त समझा है। भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार उनका लक्षण नीचे प्रस्तुत है।

गेयपद

रंगपीठ पर आसन पर बैठकर कई गायक बाजे गाजे के साथ गेयपद गाते हैं। उसका अभिनय नहीं प्रस्तुत करना होता है।[2]

स्थित पाठ्य

स्थितपाठ्य वह प्राकृत गान है जिसे कोई विरहिणी गाती है। यह गायन सन्दर्भ में रस का अनुयोगी होता है।[3]

आसीन

आसीन नामक शोकान्वित गान में किसी प्रकार का वाद्य प्रयुक्त नहीं होता। गायक के अङ्ग प्रत्यङ्ग सिकुड़े रहते हैं।[4] यह सुकुमार काकली प्राय प्रमदागीत है।

पुष्पगण्डिका

पुष्पगण्डिका में गान और गीत के साथ नृत्त का भी बाहुल्य होता है। इसमें स्त्री अपनी चेष्टा द्वारा पुरुष का आश्रय लेती है। जैसे विविध पुष्पों को गूँथ कर माला बनाई जाती है, उसी प्रकार इसमें गान, गीत और नृत्त की माला बन जाती है।[5]

१ भागवच्चैवहार्यं स्यादूहाश्च तथा भवेत्। ना० शा० ३१ ३३२
अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है—भाणे नाट्यस्थापना समस्ति न तु लास्य क्वचिदपि नास्य नाट्यरूपवैलक्षण्यात्। १८ ११७ पर भारती।

२ आसनेपूपविष्टैर्यत्तन्त्रीभाण्डोपबृंहितम्।
गायनैर्गीयते शुष्कं तद् गेयपदमुच्यते॥ १८ १२१

३ प्राकृतं यद्वियुक्ता तु पठेदामनरसं स्थिता।
मदनानलतप्ताङ्गी स्थितपाठ्यं तदुच्यते॥ १८ १२३

४ आसनमास्यते यत्र सर्वा तोद्यविवर्जितम्।
अप्रसारितगात्रं च चिन्ताशोकसमन्वितम्॥ १८ १२५

५ नृत्तानि विविधानि स्युर्गेयं गानं च सभिनम्।
चेष्टाभिश्चाश्रयः पुंसो यत्र सा पुष्पगण्डिका॥ १८.१२६

प्रच्छेदक

नायक किसी अन्य नायिका मे आसक्त है, फिर भी नायिका उसकी छाया देखकर उसके प्रति आसक्त होकर प्रसन्नतापूर्वक उसके सम्पर्क मे है।[१]

त्रिमूढक

त्रिमूढक मे कोई मुग्ध नायिका पुरुष की भूमिका मे नाट्य करती है। इसमे तीन—कोमल कान्त-पदावली, रजकछन्द और अलकारो से समन्वित वाणी विन्यास का अभिनय रहता है।[२]

सैन्धवक

सैन्धवक मे नायिका का सिन्धुदेशीय प्राकृत म गान रहता है। नायिका का सकेत म नायक से मिलन नही होता तब वह वीणादि के साथ गीत गाती है।[३]

द्विमूढक

द्विमूढक मे चारों ओर घूम कर नृत्य होता है। इसम कोमल भाव और रस निभर होते है।[४]

उत्तमोत्तमक

सभी लास्याङ्गों म यह उत्तम है। इसमे अनक रसो को निष्पन्न करने वाल तत्व होते हैं। अच्छे-अच्छे विचित्र श्लोको का पाठ और हेला हाव का अभिनय होता है।[५]

उक्तप्रत्युक्त

उक्तप्रत्युक्त मे चित्रगीतार्थ की योजना होती है। गीत का विषय होता है कोप-प्रसाद और आक्षेप।[६]

अभिनव गुप्त के अनुसार मध्यङ्गो के बीच लास्याङ्ग सन्निविष्ट होते हैं।[७]

---

१ प्रच्छेदक स विज्ञेयो यत्र चन्द्रातपाहता।
स्त्रियः प्रियेषु सज्जन्ते ह्यपि विप्रियकारिषु॥ १९ १२९

२ अनिष्ठुरश्लक्ष्णपद समवृत्तैरलङ्कृतम्।
नाट्यं पुरुषभावाढ्य त्रिमूढकमिति स्मृतम्॥ १९ १३०

३ पात्र सकेतविभ्रष्ट सुव्यक्तकरणान्वितम्।
प्राकृतैर्वचनैर्युक्त विदु सैन्धवक बुधा॥ १९.१३१

४ मुखप्रतिमुखोपेत चतुरश्रपदक्रमम्।
श्लिष्टभावरसोपेत वैचित्र्यार्थं द्विमूढक॥ १९ १३३

५ उत्तमोत्तमक विद्यादनेकरससंश्रयम्।
विचित्रै श्लोकबन्धैश्च हेलाहावविचित्रितम्॥ १९ १३४

६ कोपप्रसादजनित साधिक्षेपपदाश्रयम्।
उक्तप्रत्युक्तमेव स्याच्चित्रगीतार्थयोजितम्॥ १९ १३५

७ ना० शा० १९ ६६ पर भारती।

सन्ध्यंग नाट्यांग हैं और लास्यांग नाट्योपयोगी हैं। नाट्यांग से तात्पर्य है फलानुवर्ती कथा का भाग और नाट्योपयोगी से तात्पर्य है रंजन की सामग्रीमात्र या शोभाधायक तत्त्व।

प्रहसनम्

५४. तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसङ्करैः।

तद्वदिति—भाणवद्वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेश।

५४ भाण से मिलते-जुलते प्रहसन होते हैं। प्रहसन तीन प्रकार के हैं—शुद्ध, विकृत और सङ्कर।

तद्वत् से तात्पर्य है भाण के समान ही वस्तु, संधि, संध्यंग और लास्याङ्ग आदि प्रहसन में भी प्रयुक्त होते हैं।

तत्र शुद्धं तावत्—

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ।।५४

५५. चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम्।

पाखण्डिनः शाक्यनिर्ग्रन्थप्रभृतयः विप्राश्चात्यन्तमृजवः जातिमात्रोपजीविनो वा प्रहसनाङ्गिहास्यविभावाः तेषां च यथावत्स्वव्यापारोपनिबन्धनं चेटचेटीव्यवहारयुक्तं शुद्धं प्रहसनम्।

शुद्ध प्रहसन का लक्षण

पाखण्डी, विप्रादि, चेट चेटी और विट से भरा पूरा, वेष भाषा के साथ पात्रों की चेष्टा शुद्ध होती है और हास्य भरी वाणी से युक्त होती है।

पाखण्डी = जैन और बौद्ध श्रमणादि तथा विप्र अत्यन्त सरल या केवल जातिनामधारी (गुणविहीन) ये प्रहसन के अंगी रस हास्य के आलम्बन विभाव होते हैं। ये सभी अपने यथोचित व्यापार में लगे होते हैं जिसकी चर्चा प्रहसन में होती है। चेट-चेटी के काम भी हास्य उत्पन्न करते हैं।

नान्दी टीका

धनञ्जय ने प्रहसन के तीन भेद माने हैं, जहाँ भरत के नाट्यशास्त्र में केवल दो भेद मिलते हैं। भरत के शुद्ध और सङ्कीर्ण कोटिक प्रहसन धनञ्जय ने भी माने हैं, किन्तु उनकी परिभाषायें भरत के नाट्यशास्त्र से सर्वथा भिन्न हैं। स्पष्टता के लिए परिभाषायें नीचे दी जाती हैं।

	भरत का लक्षण	धनञ्जय का लक्षण
शुद्ध	कुत्सित कोटि के भगवत्, तापस, विप्र व परिहासात्मक भाषण मात्र। इनमें से कोई एक ही नायक होता है, जिसका चरित हास्यास्पद होता है।	पाखण्डी, विप्रादि, चेट, चेटी और विट के कार्य होते हैं

सकीर्ण	भगवत्तापसादि पूर्वोक्त शुद्ध प्रहसन के साथ वेश्या, चेट, नपुंसक विट धूर्त और बन्धकी आदि पात्र भी सम्पृक्त होते हैं। अर्थात् अनेक उपहसनीय पात्र होने से सकीर्ण होता है।	विकृत आदि का प्रहसन सकीर्ण कहा जाता है, यदि उसमें वीथ्यंगों का सङ्कर (मिश्रण) होता है।
विकृत	भरत ने विकृत प्रहसन कोटि नहीं निर्धारित की है।	षण्ड कंचुकी और तापस जहाँ कामुकादि की वाणी और वेष धारण करें, वहाँ विकृत कोटि का प्रहसन होता है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवरण से प्रतीत होता है कि—

(१) भरत का शुद्ध धनञ्जय के विकृत के समकक्ष पड़ता है।

(२) धनञ्जय का शुद्ध प्रकरण भरत के सकीर्ण के आसपास पड़ता है।

(३) धनञ्जय की सकीर्ण प्रहसन की परिभाषा चिन्त्य है, क्योंकि जिन वीथ्यंगों के योग से वे सकीर्णता मानते हैं वे तो सभी प्रकार के रूपकों में सन्ध्यंगों के बीच में अवश्य ही हुआ करते हैं और सभी प्रकार के प्रहसनों में वीथ्यंगों की विपुलता सविशेष है। भरत ने स्पष्ट कहा है—

वीथ्यङ्गैः संयुक्तं कर्तव्यं प्रहसनं यथायोगम्। ना० शा० १८.१०७

विकृत तु—

कामुकादिवचोवेषैः षण्ढकञ्चुकितापसैः ॥५५

५६ विकृत, सङ्कराद्वीथ्या सङ्कीर्णं धूर्तसङ्कुलम्।

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्या तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्ढकञ्चुकितापसवृद्धादयस्तद्विकृतम् स्वस्वरूपाच्युतविभावत्वात्। वीथ्यङ्गैस्तु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम्।

विकृत प्रहसन का लक्षण है।

कामुकादि पात्रों की वाणी और वेष धारण करने वाले नपुंसक कञ्चुकी और तपस्वियों से जहाँ हास्य उत्पन्न हो, वह विकृत प्रहसन है। सकीर्ण प्रहसन तब होता है जब विकृत में वीथी का योग हो।

कामुकादि—विट (भुजग) चार, भट आदि हैं। इसका विकृत कहने का कारण है कि इसमें विभाव (तापसादि) अपने स्वरूप के अनुरूप काम नहीं करते, अपितु प्रभ्रष्ट होते हैं। वीथी के अङ्गों से मिल जुले होने के कारण इसे सकीर्ण कहते हैं।

रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥५६

इति स्पष्टम्।

इसमें छ प्रकार का हास्य रस सातिशय निष्पन्न होना चाहिए।५६

नान्दी टीका

धनञ्जय ने यहाँ छ प्रकार का हास्य मात्र बता कर उन्हें छोड दिया है। आगे दश० ४ ७६, ७७ मे उनके नाम और उनकी संक्षिप्त परिभाषा दी है। छ प्रकार का हास्य है—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित। यही नाम भरत ने भा ना० शा० ६ ५२ मे गिनाये हैं।[1]

डिमः

५७. डिमे वस्तु प्रसिद्ध स्याद् वृत्तय. कैशिकी विना।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगा॰ ॥ ५७
५८. भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः।
रसैरहास्यशृङ्गारै षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥ ५८
५९ मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितै।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनि ॥ ५९
६० चतुरङ्कश्चतुस्सन्धिर्निर्विमर्शो डिम स्मृत ॥ ६०

डिम सङ्घाते' इति नायकसङ्घातव्यापारात्मकत्वाड्डिम। तत्रेतिहाससिद्धमितिवृत्तम्। वृत्तयश्च कैशिकीवर्जास्तिस्र रसाश्च वीररौद्रबीभत्साद्भुतकरुणभयानका षट्। स्थायी तु रौद्रो न्यायप्रधान। विमर्शरहिता मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वार, सन्धयः साङ्गा। मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रया (यः)। शेषं प्रस्तावनादि नाटकवत्। एतच्च—

'इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम्। ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसंज्ञः प्रयोजित ॥'

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम्।

५७. डिम की कथावस्तु प्रख्यात होती है। इसमे कैशिकी को छोड कर अन्य तीन वृत्तियाँ होती हैं। इसमे देव, गन्धर्व यक्ष, राक्षस, नाग, भूत, प्रेत पिशाच आदि कोटियों से १६ अत्यन्त उद्धत नायक (कथापुरुष) होते हैं। इसमे हास्य और शृंगार को छोड कर शेष छ दीप्त रस (खलबली पैदा करने वाले) होते हैं। माया इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध घबराहट आदि विषयक चेष्टायें (संविधान) होते हैं। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण के दृश्य होते हैं। अङ्गी रस न्यायोचित रौद्र होता है। इसमे चार अङ्क और विमर्श को छोडकर शेष चार सन्धियाँ होती हैं।

---

१. इनके नाम एक हिन्दी टीकाकार के अनुसार कुछ-कुछ भिन्न मिलते हैं जो ठीक नहीं लगता। उन्होंने स्मित को नहीं रखा है और अवहसित नामक एक नया भेद बनाया है, जो अन्यत्र नहीं मिलता।

डिम का अर्थ है सघात (समूह)। इसमे नायकों का सामूहिक व्यापार होने से डिम होता है। इसमे इतिहास-प्रसिद्ध इतिवृत्त होता है। कैशिकी को छोड़कर तीन वृत्तियाँ होती हैं। इसमे छ रस—वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण और भयानक होते हैं। स्थायी (अङ्गी) रस रौद्र व्यायप्रधान होता है। विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं। शेष मुख, प्रतिमुख, गर्भ और निर्वहण चार सन्धियाँ अङ्गों सहित होती हैं। माया, इन्द्रजाल आदि अनुभाव होते हैं। शेष प्रस्तावनादि नाटक के समान होता है। इसके विषय मे और भी—

त्रिपुरदाह को ब्रह्मा ने डिम का उदाहरण बताया है। त्रिपुरदाह को इसी लिए डिम कहते हैं। अतएव भरतमुनि ने स्वय डिम के लिए त्रिपुरदाह की समानता बताई है।

नान्दी टीका

डिम म उद्धत नायक होता है—यह धनञ्जय की मान्यता है। इसके आश्रय होने पर रौद्र रस का अंगी होना ठीक ही है। भरत डिम मे उदात्त नायक मानते हैं। उनका उदात्त धीरोदात्त से भिन्न है। उदात्त नायक और सात्वती वृत्ति होने पर डिम मे वीर का अंगी होना असमीचीन नहीं है। अभिनवगुप्त ने वीर और रौद्र दोनों रसों को डिम मे अंगी माना है।

डिम का अर्थ धनिक ने सघात (मारपीट) बताया है। अभिनवगुप्त के अनुसार डिम विद्रव (भगदड़) है।

व्यायोग

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥६०
६१. हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः ।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥६१
६२. एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ।

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्बहवः पुरुषा इति व्यायोगः। तत्र डिमवद्रसाः षट् हास्यशृङ्गार-रहिताः। वृत्तयश्च तद्वदेव। दीप्तरसत्वाच्च रसानामवचनेऽपि कैशिकीरहितेतर-वृत्तिसिद्धिः रसवदेव लभ्यते। अस्त्रीनिमित्तश्चात्र संग्रामो यथा परशुरामेण पितृवधकोपात्सहस्रार्जुनवधः कृतः। शेषं स्पष्टम्।

व्यायोग की कथावस्तु प्रख्यात होती है जिसका आश्रय प्रख्यात और उद्धत पुरुष (स्त्री नहीं) होते हैं। इसमे गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं। रसयोजना डिम के समान होती है, अर्थात् दीप्त रस होते हैं। इसमे युद्ध ऐसा होता है, जिसका कारण स्त्री नहीं होता। ऐसा युद्ध का उदाहरण जामदग्न्य जय मे है। इसकी घटना

एक दिन की होती है। इसमे एक अङ्क होता है, जिसमे बहुत से पुरुष पात्र (स्त्री नहीं) होते हैं।

जिसमे बहुत से पुरुष पात्र (वैमनस्य के कारण या भाग्यवशात्) पृथक् होते हैं, वह व्यायोग है।[1] इसमें डिम के समान रस छ—हास्य, शृगार रहित होते है। रस और वृत्तियो का अविनाभाव है। वृत्ति कौन-कौन हो—यह नही बताया गया है। उनको रसो की अनुकूलता से जानें कि कैशिकीरहित सभी वृत्तियाँ होती हैं। स्त्री को छोडकर किसी अन्य कारण से युद्ध होता है। जैसे परशुराम ने सहस्रार्जुन का वध किया था, क्योंकि उसने परशुराम के पिता को मार डाला था।

नान्दी टीका

व्यायोग मे कुछ लक्षण डिम के और कुछ समवकार के भी मिलते हैं। एकाङ्की होना और एक दिन का चरित होना इसकी विशेषता है।

समवकारः

कार्यं समवकारे आमुखं नाटकादिवत् ॥६२

६३ ख्यातं देवासुर वस्तु निर्विमर्शास्तु सन्धयः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः ॥६३

६४ द्वादशोदात्तविख्याता फलं तेषां पृथक्पृथक् ।
बहुवीरा रसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥६४

६५ अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः ।
द्विसन्धिरङ्क प्रथम कार्यो द्वादशनालिक ॥६५

६६. चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम् ।
वस्तुस्वभावदैवारिकृता स्यु कपटास्त्रयः ॥६६

६७ नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिषु विद्रवाः ।
धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नाव विन्दुप्रवेशकौ ॥६७

६८ वीथ्याङ्गानि यथालाभ कुर्यात्प्रहसने यथा ।

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकारः। तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्तरूपकाणामामुखप्रापणम्। विमर्शवर्जितास्चत्वार सन्धयः। देवासुरादयो

[1] व्यायुज् का अर्थ है अलग किया जाना। डिम मे नायको का मधान होता है। व्यायोग मे वे अलग होते हैं। समवकार मे भी वे मिलकर रहते हैं, इस प्रकार ये दोनो डिम से अलग हैं।

द्वादश नायका । तेषां च फलानि पृथक्पृथग्भवन्ति । यथा समुद्रमन्थने वासुदेवादीनां लक्ष्म्यादिलाभा । वीरश्चाङ्गी । अङ्गभूताः सर्वे रसा । त्रयोऽङ्का । तेषां प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वर्तितवृत्तप्रमाण. । यथासंख्यं चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ । नालिका च घटिकाद्वयम् । प्रत्यङ्कं च यथासंख्यं कपटा । तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्या दिविद्रवाणां मध्य एकैको विद्रवः कार्य । धर्मार्थकामशृङ्गाराणामेकैक शृङ्गार प्रत्यङ्कमेव विधातव्यः । वीथ्यङ्गानि च यथालाभ कार्याणि । बिन्दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधातव्यौ । इत्ययं समवकारः ।

समवकार मे भी नाटक के समान ही आमुख होना चाहिए । इसमे देवता और असुर विषयक प्रख्यात कथावस्तु होनी चाहिए । विमर्श को छोड कर चार सन्धियाँ होनी चाहिए । कैशिकी को छोडकर शेष तीन वृत्तियाँ होनी चाहिए । इसमे नायक देव और दानव सख्या मे १२ होते हैं । वे सभी धीरोदात्त और विख्यात होते हैं । उन सभी को अलग-अलग फल मिलता है । इसमे वीररस की बहुलता होती है । सभी रस होते हैं, जैसे समुद्रमन्थन नामक समवकार मे ।

६५. समवकार के तीन अङ्कों मे क्रमश तीन प्रकार के कपट, तीन प्रकार के शृङ्गार और तीन प्रकार के विद्रव होते हैं । प्रथम अङ्क मे दो सन्धियाँ २४ घडी के कार्य वाली होती हैं । दूसरे और तीसरे अङ्क मे क्रमश आठ और चार घडी मे पूरी हुई घटना होती है । नालिका दो घडी के बराबर होती है । कथावस्तु की सहज धारा मे कपट हो सकता है, दैववशात् या शत्रु से उत्पादित कपट होता है ।६६

६७ नगर का घेरा डालना, युद्ध, तूफान, अग्नि आदि के कारण विद्रव (भगदड) होती है । शृंगार के तीन प्रकार धर्म, अर्थ और काम से समुत्पन्न होते हैं । समवकार मे बिन्दु और प्रवेशक नहीं होते ।

६८. समवकार मे प्रहसन की भाँति ही वीथ्यङ्गों का प्रयोग होना चाहिए ।

जिसमे काव्य के अर्थ (प्रयोजन) सम्बद्ध और अवकीर्ण रखे जाते है, वह समवकार है ।[1] इसमे नाटकादि के समान ही आमुख होता है । विमर्श को छोडकर चार-चार सन्धियाँ होती है । देवासुरादि १२ नायक होते हैं । उनके फल पृथक् पृथक् होते हैं । जैसे समुद्रमन्थन म वासुदेवादि को लक्ष्मी आदि का अलग-अलग लाभ हुआ । वीर अङ्गी होता है । सभी रस अङ्ग हो सकते हैं । तीन अङ्क होते हैं । उनम से प्रथम अङ्क १२ नालिकावधि मे पूरे हुए कार्य वाला होता है । दूसरे और तीसरे अङ्क मे क्रमश चार और दो नालिका के कार्य होते हैं । नालिका—२ घडी । प्रत्येक अङ्क म क्रमश कपट घटना का विन्यास होता है ।

नगरोपरोध, युद्ध, वात, अग्नि आदि म उत्पन्न विद्रव (भगदड) मे से एक-एक विद्रव एक-एक अङ्क मे होना चाहिए । धर्म, अर्थ और काम ये त्रिविध शृङ्गार

१ सम्बद्धोऽवकीर्णश्च यदार्थ समवकार इति नाम मार्थकम् ।

है। इनम से एक-एक शृगार प्रत्येक अक मे होना चाहिए। जहाँ जैसा वीथ्यङ्ग मिले, उसे वही पिरो देना चाहिए। नाटक मे जो बिन्दु और प्रवेशक कहे गये हैं, उनको समवकार मे स्थान नही मिलता।

वीथी

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ सन्ध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत् ॥६८

६८ रस सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।

युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभि ॥६८

७० एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता।

वीथीवद्वीथीमार्गः अङ्गाना पङ्क्तिर्वा भाणवत्कार्या। विशेषस्तु रस शृङ्गारोऽपरिपूर्णत्वाद् भूयसा सूच्य, रसान्तराण्यपि स्तोकं स्पर्शनीयानि। कैशिकी वृत्ती रसौचित्यादेवेति। शेषं स्पष्टम्।

वीथी कैशिकी वृत्ति मे होती है। इसमे सन्धि, अङ्ग और अङ्क भाण के समान होते हैं। इसमे शृङ्गार रस सूच्य होता है, अर्थात् विभाव की असमर्थता से निखरता नहीं और पूर्णतया समुदित नहीं होता। अन्य रस भी यत्र-तत्र अग बन कर आते हैं। इस प्रस्तावना के अग उद्घात्यकादि समन्वित होते हैं। इस प्रकार वीथी स्वरूपित होती है। इसमें एक या दो पात्र होते हैं।

वीथी के समान वीथी मार्ग है या अङ्गो की पक्ति है। शृङ्गाररस अपूर्ण होने मे सूच्य रहता है। अन्य रस भी स्पृष्ट होते है। शृङ्गारानुरूप कैशिकी वृत्ति होती है।

नान्दी टीका

धनञ्जय के अनुसार शृंगार रस वीथी मे सूच्य होता है और अन्य रसो का स्पर्श मात्र होता है। इसके विपरीत भरत का उक्ति है कि वीथी सर्वरसलक्षणाढ्या होती है।[1]

धनञ्जय ने वीथी को सन्धि, सन्ध्यङ्ग और अक की दृष्टि से भाण के समान बताया है। इसमे भाण के अधम कोटि के नायक की वीथी मे सम्भावना होती है। वह ठीक नही है। भरत के अनुसार वीथी मे उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकार के नायक मिलते है।[2]

वीथी की महिमा अभिनवगुप्त ने बताई है—

'नाटकादि-भाणान्तसमस्तरूपकोपजीव्यत्वात् वीथी लक्षयति' इत्यादि।

---

१. ना० शा० १८.११२। अभिनवगुप्त ने भी वीथी के विषय मे कहा है—'सर्वरसमयत्वात्' इत्यादि।

२. अधमोत्तममध्याभिर्युक्ता स्यात् प्रकृतिस्त्रिधा ॥ १८.११२

उत्सृष्टिकाङ्कः

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ।।७०

७१. रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः ।

भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ।।७१

७२. वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ।

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम् । शेषं प्रतीतमिति ।

उत्सृष्टिकाङ्क मे कथावस्तु प्रख्यात होती है और कल्पना के द्वारा उसका विस्तार किया जाता है। करुणरस स्थायी होता है। उसमें कथापुरुष प्राकृत (असंस्कृत) रखे जाते हैं। सन्धि, वृत्ति और अङ्ग भाण के समान रखे जाते हैं। स्त्रियों का रोना-धोना सविशेष होता है। वाग्युद्ध होता है और उसी मे कोई हारता है तो कोई जीतता है।

उत्सृष्टिकाङ्क का मौलिक नाम अङ्क है, किन्तु अङ्क कहने से नाटकादि के विभाजक अङ्क का भी बोध होता है। उससे भिन्न बनाने के लिए उत्सृष्टिकाङ्क नाम समीचीन है।

नान्दी टीका

शोक करने वाली स्त्रियों को उत्सृष्टिका कहते हैं। उनकी विशेषता के कारण इस प्रकार के रूपक को उत्सृष्टिकाङ्क कहते हैं। इसका अन्य नाम अङ्क है।

भरत के अनुसार इसमे प्रख्यात वृत्त होना चाहिए। अपवाद रूप से अप्रख्यात वस्तु भी कथा होती है।[१]

धनञ्जय का यह कहना कि उत्सृष्टिकांक के प्रख्यात वृत्त का 'बुद्धि से प्रपञ्च' करना चाहिए, व्यर्थ ही है। क्योंकि सभी कथाओं मे नित्य नये कल्पित संविधानों को सभी प्रकार के रूपकों मे कवि जोडता ही है। नेतारः पद का प्रयोग महासामान्यवचनात्मक है। अर्थात् सभी कथापुरुष नेतारः से संकेतित होते हैं।

उत्सृष्टिकांक मे युद्ध का समारम्भ होना ही नहीं चाहिए—ऐसी भरत की मान्यता है। इसकी कथा युद्धोत्तर होता है, जैसे महाभारत के स्त्रीपर्व की कथा है। ऐसी स्थिति मे वाचा युद्ध और जय-पराजय की चर्चा अप्रासंगिक होने के कारण चिन्त्य है।

---

१. अप्रख्यात कथा उत्पाद्य, अनार्ष और आहार्य तीन प्रकार की होती है, जैसा प्रकरण का विवरण देते हुए कह चुके हैं।

ईहामृगः

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसन्धिमत् ।।७२
७३ नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ।।७३
७४ दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छत ।
शृं गाराभासमप्यस्य किञ्चिकिञ्चित्प्रदर्शयेत् ।।७४
७५ संरम्भं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ।।७५

मृगवदलभ्यां नायिकां नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः । ख्याताख्यात वस्तु अन्त्य =प्रतिनायको विपर्यासाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेयः । स्पष्टमन्यत् ।

मिश्र कोटि की चार अंकों की और तीन सन्धियों की ईहामृग की कथावस्तु होती है । इसमें नायक और प्रतिनायक वैकल्पिक रूप से प्रख्यात और धीरोद्धत होते हैं । प्रतिनायक दुर्भाग्यवशात् अयोग्य काम कर बैठता है । न चाहती हुई दिव्य स्त्री को अपहरणादि के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले नायक का शृं गाराभास कुछ कुछ दिखाना चाहिए । नायक और प्रतिनायक के आवेश की सर्वोच्च स्थिति लाकर भी किसी बहाने युद्ध नहीं होने देना चाहिए । वध की स्थिति में आने पर भी महात्मा नायक का वध नहीं होना चाहिए ।७५

मृग के समान अलभ्य नायिका को पाने की कामना नायक करता है । अतएव ईहामृग नाम पड़ा । कथावस्तु ख्याताख्यात होती है । ७३वीं कारिका में अन्त्य प्रतिनायक के लिए प्रयुक्त है । वह भ्रमवश अयोग्य कर्म करता है ।

नान्दी टीका

धनञ्जय और भरत की ईहामृग-विषयक परिभाषायें बहुधा भिन्न हैं । नीचे की तालिका से भिन्नता के बिन्दु स्पष्ट होते हैं—

	भरत का मत	धनञ्जय का मत
१	ईहामृग की कथा सुविदित होती है	ईहामृग की कथा मिश्र कोटि की होती है ।[1]
२	ईहामृग का कथावस्तु में एक अंक होता है ।	ईहामृग की कथा चार अंकों में प्रपञ्चित होती है ।

१ मिश्र नामक कथावस्तु का भेद रूपकों में असम्भव है । देखिये इसी पुस्तक की १ १४ पर नान्दी टीका ।

३	कथावस्तु मे दो सन्धियाँ होती है मुख और निर्वहण। एक अक मे दो ही सन्धियाँ सम्भव हैं।	तीन सन्धियाँ—मुख, प्रतिमुख और निर्वहण होगी।
४	नायक केवल देवता होगा।	नायक नर या देवता कोई हो सकता है।

७६ इत्थ विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग—
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान्।
कुर्यादयत्नवदलकृतिभिः प्रबन्ध
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥७६

स्पष्टम्।

॥ इति धनञ्जयकृतदशरूपकस्य तृतीयः प्रकाश. समाप्त ॥

७६ पूर्वोक्त दशरूपक के लक्षण की विचारणा करके, इतिवृत्त का अनुशीलन करके, कवि के ग्रन्थो का अध्ययन करके लेखक अपने नाट्यप्रबन्ध को लिखे, जिसमें अलंकार स्वाभाविक हो, वाणी विलास उदार और मधुर हो तथा वृत्त स्पष्ट और सघनगति वाले हों।

———

अथ चतुर्थः प्रकाशः

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यते—

१. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥१

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरताम्—निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः । तेन रसिकाः सामाजिकाः । काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत् । आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत् ।

अब रस का भेद बताते हैं—

१ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आस्वादनीय स्थिति में लाया हुआ स्थायी भाव रस माना गया है ।

आगे चलकर विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और सात्त्विक भाव के लक्षण बतायेंगे । काव्यपाठ द्वारा ग्रहण किये गये अथवा अभिनय द्वारा बोध कराये गये विभावादि के द्वारा श्रोताओं और प्रेक्षकों के हृदय में उद्बोधित रति आदि स्थायी भाव स्वादगोचरता अर्थात् पूर्ण आनन्दानुभूति-रूप बना दिये जाते हैं । सामाजिकों के द्वारा आस्वाद्यमान रति आदि स्थायी भाव रस हैं । इस प्रकार सामाजिक (प्रेक्षक या पाठक) ही रसिक या रसवान् हैं । किन्तु आनन्दानुभूति को प्रकाशित करने का साधन होने के कारण काव्य को भी रसवत् मान लिया गया है, जैसे दीर्घायु का कारण होने से घृत को आयु नाम दे दिया गया है । (वास्तविकता तो यह है कि आयु और घृत सर्वथा भिन्न हैं ।)

नान्दी टीका

भट्टलोल्लट का अनुसरण करते हुए धनञ्जय आठ रस मानते हैं—शृंगार, वीर, बीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण । वे शान्त रस को नहीं मानते, यद्यपि आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने शान्त रस को सुप्रतिष्ठित किया है । भरत शान्त रस को मानते हैं कि नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता ।

रस कैसे निष्पन्न होता है—यह धनञ्जय ने भरत की कारिका के आधार पर बताया है कि स्थायी भाव जब विभावानुभाव और सचारि-भावो का संयोग पाता है तो आस्वाद्य होता है और रस कहा जाता है।

स्थायी भाव क्या है ? यह नाममात्र से ही स्पष्ट है। उसके नाम हैं रति, उत्साह, जुगुप्सा, हास, भय, क्रोध, शोक और विस्मय।

विभाव.

२. ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावदोपकृत्।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥२

'एवमयम्' 'एवमियम्' इत्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्ट-रूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमानः सन्नालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादि-रभिमतदेशकालादिर्वा स विभाव।

यदुक्तम् नाट्यशास्त्रे ७-३-४—'विभाव इति विज्ञानार्थ इति' तांश्च यथास्व यथावसरं च रसेषूपपादयिष्यामः। अमीषा चानपेक्षितबाह्यसत्त्वाना शब्दोपधानादेवासादितनद्भावाना सामान्यात्मना स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावि-ताना साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तु-शून्यता।

तदुक्त भर्तृहरिणा वाक्यपदीये साधनसमुद्देशे—
'शब्दोपहितरूपास्तान्बुद्धेर्विषयता गतान्।
प्रत्यक्षमिव कसादीन्साधनत्वेन मन्यते ॥' कारिका ५

षट्सहस्रीकृताप्युक्तम्—'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते' इति ना॰शा॰ गा॰ ओ॰ सीरीज पृ॰ ३४८

तत्रालम्बनविभावो यथा विक्रमोर्वशीये

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद
शृंगारैकनिधिः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजड कथ नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातु प्रभवेन्मनोहरमिदं रूप पुराणो मुनिः' ॥११०

उद्दीपनविभावो यथा –

'अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्व
परिणतविमलिम्नि व्योम्नि कर्पूरगौर।
ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्यस्य पादै-
र्जगदमलमृणालीपञ्जरस्थं विभाति ॥'

२. भावो का सम्यग्ज्ञान विभावों की ज्ञायमानता (पहचान) द्वारा सम्भव होता है। विभाव अपनी ज्ञायमानता के द्वारा भाव (स्थायी तथा संचारी) का पोषण करता है। विभाव दो प्रकार का होता है-आलम्बन और उद्दीपन।२

यह (नायक या देश कालादि) ऐसा है, यह (नायिकादि) ऐसी है—इस प्रकार कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा अतिशयोक्ति या रूपकालकारिक वर्णना अपने काव्य के द्वारा प्रस्तुत करता है। ऐसे नायकादि और अभीष्ट देश काल आदि कहीं-कहीं आलम्बन रूप से अन्यत्र उद्दीपन रूप से विभावित होने पर विभाव हैं।

नाट्यशास्त्र मे कहा गया है कि विभाव विज्ञानार्थ है, अर्थात् उसके द्वारा चित्तवृत्ति का उद्भव होता है और विभाव कारण हैं। विभाव के इस अभिप्राय का निदर्शन रसो की व्याख्या करते समय यथास्थान प्रत्येकश बताया जायेगा।

धनिक ने इस शङ्का का समाधान किया है कि ज्ञान तो वास्तविक या सत्तात्मक वस्तु का होता है न कि शब्दो के द्वारा वर्णित वस्तु का।

वे समझाते है कि लौकिक व्यवहार मे किसी भौतिक वस्तु के ठोस स्वरूप को नेत्रादि के सम्पर्क मे आने पर जैसे जाना जाता है, वैसे ही काव्यात्मक व्यवहार मे वस्तु का शब्दो के द्वारा प्रस्तुत वर्णन ही उसका ज्ञान करा देता है। इसके लिए वाह्यवस्तु (ठोस स्वरूप) की आवश्यकता नही रहती। जहाँ कोई शब्द उच्चरित हुआ, वह अपने से सम्बद्ध भाव या अर्थ को सभी भावक (पाठक, प्रेक्षक या रसिक) के चित्त पर सामान्य रूप मे *अङ्कित कर देता है। इस ज्ञान की प्रक्रिया मे लौकिक दृष्टि से वस्तु का अभाव* होने पर भी काव्यात्मक दृष्टि से ऐसा नहीं है, अर्थात् वस्तुशून्यता नही है। भर्तृहरि ने इसे प्रमाणित करते हुए कहा है—

काव्य मे कसादि का रूप शब्दो के द्वारा प्रस्तुत होता है और वे बुद्धि के विषय बनते हैं। इस प्रकार काव्य मे वर्णित कस वास्तविक शरीरधारी कस के समान प्रत्यक्ष जैसे साधन रूप मे सभी पाठको या प्रेक्षको को प्रतीत होते हैं।

षट्सहस्रा (नाट्यशास्त्र) के लेखक भरत ने भी कहा है—इन विभावो और भावो से सामान्यत: रस की निष्पत्ति होती है।

आलम्बन विभाव का उदाहरण है—

इस उर्वशी की सृष्टि करने में कान्तिदायक चन्द्र क्या विधाता बना? अथवा शृंगार की परम निधि कामदेव या वसन्त विधाता बने? वेद का अभ्यास करते-करते विषयों के प्रति मरी हुई रुचि वाले बूढ़े मुनि ब्रह्मा कैसे इतना मनोहर रूप गढ़ सकते हैं?

उद्दीपन विभाव

अपनी चन्द्रिका से विश्व को धवलित कर देने वाला यह चन्द्र उदित हो रहा

है। सर्वथा विमल आकाश में कपूर के समान गौर चन्द्र है। चाँदी की सीधी शलाका के समान अपनी किरणों से उसने जगत् के लिए श्वेत मृणालों का पंजर बना दिया है।

नान्दी टीका

२ विभाव को निम्न उदाहरण से समझना सरल है। किसी शत्रु को देखकर आपको क्रोध उत्पन्न हो गया। उसी समय शत्रु ने आँख दिखाई या कुछ अपशब्द कह दिये तो क्रोध और उद्दीपित हो गया। इस वक्तव्य में (१) आप आश्रय हैं क्रोध नामक स्थायी भाव के (२) क्रोध का आलम्बन है शत्रु। शत्रु न सामने आता तो क्रोध ही न होता। (३) आलम्बन (शत्रु) का चेष्टायें आँख दिखाना या अपशब्द कहना उद्दीपन है क्रोध नामक स्थायी भाव के लिए।[1]

काव्यशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में आलम्बन और उद्दीपन को विभाव कहते हैं। विभाव का अर्थ होता है बतलाने वाला। वह स्थायी भाव या अन्य भावों पर प्रकाश डाल कर उन्हें यथायोग्य प्रभविष्णुता प्रदान करता है। उदाहरण के लिए आप को भय हो गया। अब देखना है कि वह भय सिंह को देखकर हुआ कि केंचुए को देख कर हो गया। यदि साँप को देख कर हुआ तो वह भय स्थायी भाव होकर रस की निष्पत्ति के लिए हो सकता है अन्यथा यदि केंचुएँ को देख कर हुआ तो वह संचारी भावमात्र रहेगा। इस प्रकरण का विशद विवेचन आगे होगा।

अनुभाव·

३ अनुभावा विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

स्थायिभावाननुभावयन्तः सामाजिकानामश्रुभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावाः। एते चाभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयता साक्षाद्भावकानामनुभवकर्मतयानुभूयन्त इत्यनुभवनमिति चानुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते। विकारा भावसंसूचनात्मका इति तु लौकिकरसापेक्षया इह तु तेषां कारणत्वमेव। यथा ममैव—

> उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतटं लोलभ्रमद्भ्रूलतं
> स्वेदाम्भःस्नपिताङ्गयष्टि विगलद्व्रीडं सरोमाञ्चया।
> धन्यः कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिता सस्पृहं
> मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्या कटाक्षच्छटा ॥

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्यामः ।

३ भाव (स्थायी और संचारी के स्फुरण) की सूचना देने वाले विकार अनुभाव हैं।

---

[1] यह तो लोक में व्यावहारिक दृष्टि से हुआ। काव्य या नाट्याभिनय में भी यही प्रक्रिया होती है। वहाँ आपके स्थान पर नायकादि होते हैं।

स्थायी भाव स्फुरण को सूचित करने वाले अश्रुपात, भ्रूविक्षेप और कटाक्ष आदि रस का पोषण करते हैं। इन्हें अनुभाव कहते हैं। जब सहृदय अभिनय देखते हैं या काव्य का पारायण करते हैं तो वे अश्रु, भ्रूविक्षेप आदि की मानो निजी अनुभव के रूप मे अनुभूति करते है। यह प्रक्रिया अनुभवन है। रस के आचार्य इसे अनुभाव कहते हैं।

ये विकार भावो की सूचना देते हैं—यह वक्तव्य लौकिक (काव्यात्मक नही) रस की दृष्टि से समीचीन है। काव्य मे तो अनुभाव स्थायी या संचारी भावो के कारण हैं।

नान्दी टीका

लोक मे किसी सिंह को देखने पर भय होता है। भय स्थायी भाव है। इस भय (स्थायी भाव) के कारण वह भागता है। भागना अनुभाव है, जिसका कारण भय स्थायी भाव है। अभिनय और काव्य मे एक दूसरी ही वस्तुत विपरीत प्रक्रिया होती है। प्रेक्षक अभिनेता के अनुभाव को विभाव मे देखकर विभाव के स्थायी भाव को आत्मसात् करता है। इस प्रकार अनुभाव स्थायी भाव का कारण हुआ।

अनुभाव का उदाहरण

मुग्धा नायिका का वर्णन है—हे मुग्धे, तुम्हारा मुख जंभाई-युक्त है। उरोज प्रदेश उभर रहा है, भौहो मे चञ्चलता आ गई है। अङ्गलतिका पसीने से तर है। लज्जा तिरोहित होती जा रही है। रोमाञ्च हो रहा है। वह युवक धन्य है, जिसके मुख पर तुम्हारी वह दृष्टि सकाम पडी है, जो क्षीरमहासागर के फेन के समान श्वेत है।

रसोचित अनुभावो के उदाहरण रस विषय विवेचन मे मिलेगा।

पूर्वोक्त आश्रय स्थायी भाव का उद्रेक होने पर जो कुछ कार्य करता है, या स्थायी भाव के प्रभाव से उसके जो कोई शारीरिक विकार होते हैं, वे अनुभाव कहे जाते है। इन्ही अनुभावो को देखकर प्रकट होता है कि स्थायी भाव प्रभविष्णु है। स्थायी भावादि का ज्ञान कराने के कारण इन्हें भावसूचनात्मक कहा गया है।

हेतुकार्यात्मनो सिद्धिस्तयो सव्यवहारत ।।३

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरसं प्रति हेतुकार्यभूतयो संव्यवहारादेसिद्धत्वान्न पृथग्लक्षणमुपयुज्यते। तदुक्तम्—'विभावानुभावौ लोकसंसिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावानुगतत्वाच्च न पृथग्लक्षणमुच्यते' इति।

उन (विभाव और अनुभाव) की उत्पत्ति हेतु और कार्य के रूप मे व्यवहार से प्रकट है।३

*लोकव्यवहार मे यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि लौकिक रस में विभाव हेतु है और अनुभाव कार्य है। अतएव सर्वथा स्पष्ट होने के कारण विभाव और अनुभाव का विशेष लक्षण अनावश्यक ही है। इस बात को इस प्रकार भी समझाया गया है कि

विभाव और अनुभाव संसार मे प्रत्यक्ष उपपन्न हैं। जीवन यात्रा में ये नित्य आगे-पीछे लगे रहते हैं। लोक स्वभाव से ही समझ मे आ जाते हैं। अतएव इनका पृथक् लक्षण नहीं बताया जायेगा।

नान्दी टीका

विभाव स्थायीभाव को जगाने के लिए कारण है और स्थायी भाव के कार्य (परिणामत उत्पन्न होने वाले) अनुभाव हैं।

भावः

४. सुखदु खादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानै सुखदु खादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भाव । तदुक्तम्—'अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद्भावितं वासितम्' इति।

यत्तु 'रसान्भावयन्भाव' इति 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव' इति च तत् अभिनयकाव्ययो. प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्। ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणा।

४ सुख-दुःख आदि भावों के द्वारा उस (सामाजिक) के भाव (चित्त) का भावन (वासित होना) भाव है।

अनुकार्य (रामादि कथा पुरुष, जिनका अनुकरण पात्र करते हैं) का आश्रय लेकर वर्णित सुख और दुःख रूप भावों के द्वारा तद् (भाव के) सामाजिक के चित्त का भावन अर्थात् वासन ही भाव है। (संक्षेप में नायकादि की समवेदना जो सामाजिक के चित्त में हो वह भाव है।) लोक में भी ऐसा कहा जाता है कि इस रस से या इस गंध से यह सारा भावित या वासित हो गया।

भाव के दूसरे अर्थ के परिचायक प्रयोग हैं रसों को भाव भावित करते है अर्थात् आस्वाद योग्य बनाते है और कवि के अन्तर्गत भावों को भावित करते हुए अर्थात् बोध गम्य बनाते हुए—इन दो प्रसंगों मे नाट्य शास्त्र में भाव का अर्थ कुछ दूसरा हो है।[1] ये दोनों अर्थ किसी विशेष कारण में भिन्न अभिप्राय में प्रयुक्त है।

भाव दो प्रकार के होते हैं—स्थायी और व्यभिचारी।

नान्दी टीका

भाव तीन प्रकार के हैं—स्थायी भाव, संचारि भाव और अनुभाव। ये साधारणतः सुख दु खात्मक होते हैं।

---

१ इन दोनों प्रयोगों के लिए द्रष्टव्य ना० शा० ७ २३

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ।।४

५. सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ।

परगतदु.खहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्त करणत्वं सत्त्वम् । यदाह—'सत्त्वं नाम मन प्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते । एतदेवास्य सत्त्वं यत् खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते । तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विका । तद्भावभावनं च भाव । तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावा, भावससूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम् ।' इति ।

सात्त्विक भाव अनुभाव ही है । किन्तु उनका वर्ग अलग है, क्योंकि वे सत्त्व से उत्पन्न होते हैं । ये भाव हैं ही, क्योंकि तद्भावभावन (सामाजिक के चित्त को वासित करना)

यह लक्षण उनमे पाया जाता है, जो भाव का लक्षण है । सत्त्व क्या है—अन्त करण (मन) की उस स्थिति को सत्त्व कहते हैं, जब वह दूसरो के दुःख, हर्ष आदि भावना से अत्यन्त अनुकूल हो जाता है, अर्थात् उसमे समवेदना होती है । भरत ने कहा है—सत्त्व मन से उत्पन्न होता है । मन जब समाधि की अवस्था मे होता है, तब उससे सत्त्व का उत्पत्ति होती है ।[1] मन का सत्त्व यही है कि नायक किसी को दुःखी या प्रसन्न देखकर स्वय आँसू गिराने लगे या रोमाञ्चित हो जाय । सत्त्व से सात्त्विक भाव उदित होते हैं । इनको भाव इसलिए कहते हैं कि सामाजिक का चित्त नायक के अश्रु या रोमाञ्च आदि से वासित हो जाता है । सत्त्व से उत्पद्यमान होने के कारण अश्रु प्रभृति भाव है और स्थायी तथा सचारी भाव से नायक प्रभावित है—यह सूचना देने वाले विकार होने से कारण अनुभाव है ।

इस प्रकार सात्त्विक भाव के दो रूप—भाव और अनुभाव है ।

नान्दी टीका

अनुभावों की एक विशिष्ट कोटि का नाम सात्त्विक भाव है । इनकी उत्पत्ति सत्त्व से होती है अर्थात् चित्त जब किन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित होता है तो स्तम्भादि सात्त्विक भाव उत्पन्न होते हैं । यहाँ यह समझना है कि इतर अनुभाव कोरे शारीरिक व्यवहार हो सकते हैं कि सात्त्विक भावों की उत्पत्ति के लिए अन्त करण का सविशेष प्रभावित होना आवश्यक है । पहले चित्तवृत्ति प्रभावित होना है । जिसका प्रभाव शरीर पर प्रत्यक्ष होता है ।

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथु ।।५

६. अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ, स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता ।

प्रलयो नष्टसंज्ञत्वम्, शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ।।६

१. ना० शा० गा० ओ० सी० भाग १ पृष्ठ ३७४

यथा—

वेवइ सेअदवद्धिअ रोमंचिअगत्ति।
सद्दाइअ वीसरवअणा वाहुल्लिअणेत्ति होइ॥
मुहं पेमेण वि ण दिज्जइ सामलीहोइ।
खणे खणे मुच्छइ उट्ठेहि देहिसे दंसणअं॥

(वेपते स्वेदद्रवार्द्रितरोमाञ्चितगात्री।
शब्दायते च विस्वरवचना वाष्पार्द्रितनेत्रा भवति॥
मुखं प्रेम्णापि न दीयते श्यामलीभवति।
क्षणे क्षणे मूर्च्छति उत्तिष्ठ देह्यस्यै दर्शनम्॥)

सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ, प्रलय, रोमाच, स्वेद, वैवर्ण्य (पीला पड़ना), वेपथु (कँपकपी), अश्रु तथा वैस्वर्य (गद्गद, वाणी मे विकार आ जाना)। इनमें से स्तम्भ है अंगों का निश्चेष्ट होना और प्रलय है चेतना का अभाव। शेष सात्त्विक भाव सुपरिचित हैं।६

उदाहरण—

नायिका काँपती है। उसका शरीर पसीने से लथपथ है और अंग-प्रत्यग रोमाञ्चित है। वह गद्गद वाणी बोल रही है। उसकी आँखो मे आँसू भरे हैं। प्रेम होने पर भी मुख ऊपर नही करती। वह काली हो रही है। क्षण-क्षण मूर्च्छित हो रही है। हे नायक, उठो, उस दर्शन दो।

व्यभिचारिभाव.

अथ व्यभिचारिण:, तत्र सामान्यलक्षणम्—

७. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिण:।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना: कल्लोला इव वारिधौ॥७

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावा:।

व्यभिचारी का सामान्य लक्षण है—

७. व्यभिचारी (वि+अभि+चारी। वि=विशेष रूप से। अभि=अनुकूल बनकर। चारी=वर्तमान) विशेष महत्वपूर्ण बनकर और (स्थायी भाव के लिए) अनुकूल बनकर अभिनय में वर्तमान रहते हैं। जैसे समुद्र मे लहरें उठती और मिटती हैं, वैसे ही स्थायी भाव मे सचारी भाव उत्पन्न होता है और तिरोहित होता है।७

जैसे समुद्र मे लहरें उठती और विलीन होती हैं, वैसे ही रति आदि स्थायी भावों

में व्यभिचारी भावों का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अनुकूल बनकर विचरण करते हुए वर्तमान निर्वेद आदि व्यभिचारी होते हैं।

सान्दी टीका

तैतीस संचारी भाव हैं। स्थायी भावों की भांति इनके भी प्रत्येक के कारण (विभाव) और कार्य (अनुभाव) होते हैं।

३३ संचारी भाव + ८ स्थायीभाव (लौकविभावों से उत्पन्न) + ८ सात्विक भाव = ४६ भाव कहे जाते हैं।

ते च—

८. निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता—
त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः।
व्रीडापस्मारमोहाः सुमतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥८

ये व्यभिचारी भाव हैं—

८. निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, श्रम, धृति, जडता, हर्ष, दैन्य, औग्र्य (उग्रता), चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व स्मृति, मरण, मद, सुप्त, निद्रा, विबोध, व्रीडा, अपस्मार, मोह, मति, आलस्य, आवेग, वितर्क, अवहित्थ, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य, चापल।८

(इनकी परिभाषा प्रत्येक के विभाव और अनुभाव का निर्देश करते हुए लिखी जा रही है।)

अथ निर्वेद

९. तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनता ॥९

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा वैराग्यशतके—

'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्।
सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥'६३

आपदो यथा—

'राज्ञो विपद्बन्धुवियोगदुःखं देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः फलं मयैतच्चिरजीवितायाः ॥'

ईर्ष्यातो यथा हनुमन्नाटके—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटाञ्जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ॥' १४.६

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारि-निर्वेदो यथा—
'ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठ-
पीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः ।
नापि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्ग-
सङ्क्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते ॥'

आत्मानुरूपं रिपुं रमणीं वाऽलभमानस्य निर्वेदादिदमुक्तिः । एवं रसान्तराणामप्यङ्गभावः उदाहार्यः ।

'वस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं श्रूयताम् ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकरणी मार्गस्थितस्यापि मे ॥'

विभावानुभावरसाङ्गानङ्गभेदादनेकशाखो निर्वेदो निदर्शनीयः ।

९. निर्वेद है अपने आप को हीन समझने लगना। इसके विभाव हैं तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या आदि। इसके अनुभाव हैं चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, वैवर्ण्य, उच्छ्वास और दीनता।९

तत्त्वज्ञान से निर्वेद का उदाहरण

सभी कामनाओं को पूरा करने वाली लक्ष्मी प्राप्त हो गई तो क्या ? शत्रुओं के सिर पर पैर रखा तो क्या ? प्रेमियों का धन से प्रसन्न किया तो क्या ? शरीर प्रलय-काल तक जीवित ही रहे तो क्या ?

आपत्ति से निर्वेद का उदाहरण—

मेरे द्वारा इस कड़वे और निष्फल चिरजीवन का फल भोग लिया गया—राजा की ओर से विपत्ति, बन्धु-वियोग-दुःख, देश छूटना और दुर्गम मार्ग का खेद।

ईर्ष्या से निर्वेद का उदाहरण—रावण की उक्ति है—इन्द्रजित् को धिक्कार। कुम्भकर्ण को जगाने से क्या हुआ ? हमारी इन मोटी भुजाओं से क्या लाभ, जिनसे हमने स्वर्ग रूपी बँवई का जीत लिया था। अपमान तो यह है कि मेरा शत्रु हो, वह भी यह तपस्वी (राम), वह भी सामने ही राक्षस-वीरों को मारे डाल रहा है और मैं रावण जीता हुआ यह सब देख रहा हूँ।

वीर और शृङ्गार रसों के व्यभिचारी निर्वेद का उदाहरण—वे बाहु निष्फल हैं, जिनके कन्धे युद्ध में शत्रु के कठोर कण्ठपीठ से छहराते हुए रक्त की बिन्दु की पंक्ति

म सुशोभित न हो अथवा जिन पर प्रियतमा के विशाल उरोजो पर बना पत्ररचना का कुंकुम रस न चिपका हो।

अपने योग्य शत्रु या रमणी को न पाने वाले वीर का यह उक्ति निर्वेद के कारण है। इसी प्रकार अन्य रसो का अङ्ग बनाकर भी निर्वेद के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

रस का अङ्ग बने बिना भी निर्वेद का उदाहरण—

तुम कौन हो ? मैं कहता हूँ कि मुझ अभागे को शाखोटक जानें। वैराग्यपूर्वक ऐसा बोल रहे हैं। ठीक समझा। क्योंकर यह भी बतलाते है। यहाँ से थोड़ी ओर जो *वट का वृक्ष है, उसका पूर्णत आश्रय पथिक लेते हैं। मार्ग पर ही स्थित मेरी छाया* भी परोपकार के लिए नहीं है।

निर्वेद की अनेक शाखायें प्रशाखायें बताई जा सकती हैं जिनका आधार विभिन्न विभाव अनुभाव और रस हो सकते हैं। यह रसो का अङ्ग बनकर या स्वतन्त्र रूप से (अनङ्ग) बनकर आ सकता है।

अथ ग्लानि

११ रत्याद्यायासतटक्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रिया ॥ १०

निधुवनकलाभ्यासादिश्रमतृट्क्षुद्भमनादिभिर्निष्प्राणतारूपा ग्लानि। अस्या च वैवर्ण्यकम्पानुत्साहादयोऽनुभावा।
यथा माघे—

लुलितनयनतारा क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा
रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्य।
तिमिरमिव दधाना स्रंसिन केशपाशा
नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्व ॥११२०

शेष निर्वेदवदूह्यम्।

१० ग्लानि है निष्प्राणता जिसके विभाव है रति आदि के कारण आयास प्यास भूख आदि। इसके अनुभाव हैं विवर्णता कम्प, उत्साहहीनता तथा अंग, वचन और क्रिया की शिथिलता।१०

कामक्रीडा, कलाभ्यास आदि तथा श्रम, प्यास, भूख वमन आदि से शक्ति हास के रूप मे प्रकट होने वाली ग्लानि होती है। इसमे विवर्णता कम्प आदि अनुभाव हैं। जैसे शिशुपालवध मे—

ये वेश्यायें राजा के घर से निकली जा रही हैं। इनका आँखो का तारा चञ्चल है। मुख कृश है। इनकी आँखें निद्रा से मुकुलित हैं। इनके केशपाश

बिखरे हुए हैं। वे मानो रात्रि के अन्तिम भाग के समान हैं, जिसमें तारे कान्तिहीन रहते हैं, चन्द्रबिम्ब कृश रहता है और अन्धकार खिसकता सा चलायमान होता है। शेष का निर्वेद के समान जानें।

अथ शङ्का—

११ अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात्।
कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥११॥

तत्र परक्रौर्याद्यथा रत्नावल्याम्—

'ह्रिया सर्वस्यासौ हरति विदितास्मीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वाऽऽलापं कलयति कथामात्मविषयाम्।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितातङ्कविधुरा ॥'३४

स्वदुर्नयाद्यथा वीरचरिते—

'दूराद्वीयो धरणीधराभं यस्ताटकेयं तृणवद्व्यधूनोत्।
हन्ता सुबाहोरपि ताडकारिः स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ॥'२१

अनया दिशाऽन्यदनुसर्तव्यम्।

११ शंका है अपनी हानि का ज्ञान होना। इसके विभाव हैं शत्रु की क्रूरता या अपनी दुर्नीति। इसके अनुभाव हैं कम्प, शोष इधर उधर बगलें झांकना और वाणी का विकृत हो जाना।

शत्रु की क्रूरता में शङ्का का उदाहरण रत्नावली में—

प्रिया अपने हृदय में उत्पन्न हुए आतङ्क में व्याकुल है। मुझे लोग जान गए हैं इस कारण लज्जा से वह अपना मुख सबसे छिपाती है। किसी को बातचीत करती देखकर समझती है कि मेरे विषय में ही चर्चा हो रही है। सखियों के हँसने पर वह बहुत लज्जा प्रकट करती है।

अपनी दुर्नीति के कारण शंका का उदाहरण महावीरचरित में माल्यवान् कहता है—बहुत दूर से जिसने पर्वत के समान मारीच को तिनके के समान उड़ा दिया, सुबाहु को मारने वाला वह ताटका का शत्रु राजपुत्र राम मेरे हृदय में शूल रहा है।

अन्य विभावों के उदाहरण भी ऐसे ही समझ लें।

अथ श्रम —

१२ श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मदनादयः।

अध्वनो यथोत्तररामचरिते—

'अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि।

परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥ १.२४

रतिश्रमो यथा माघे—

'प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभरा सुरतस्य।
शश्रमु श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्य ॥ १० ८०

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ।

१२ श्रम खेद है। इसके अनुभाव मार्ग चलना और रति आदि हैं। इसके अनुभाव पसीना अङ्गमर्दन आदि हैं।

यात्रा से श्रम का उदाहरण उत्तररामचरित मे—

राम सीता से कहते हैं—यह वही स्थान है, जहाँ तुम यात्रा से उत्पन्न खेद के कारण शिथिल, निष्पन्द और मुग्ध अङ्गों को मेरी गोद मे रख कर सो गई थी, जो (अङ्ग) गाढ़ परिरम्भ से संवाहित थे और जो मसले हुए कमलनाल के समान दुर्बल थे।

रति से श्रम का उदाहरण शिशुपालवध मे—

सम्भोग के कामरस की चरम सीमा पर पहुँची हुई, भारी उरोज वाली, काले लम्बे केशों वाली रमणियाँ श्रान्त हुईं। उस समय पसीने से भीगे ललाट पर उनके केश चिपके थे।

ऐसे अन्यविध उदाहरण समझें।

अथ धृति —

सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥ १२

ज्ञानाद्यथा भर्तृहरिशतके—

'वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेष ।
स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्र ॥ वै०८९

शक्तितो यथा रत्नावल्याम्—

'राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्त समस्तो भर
सम्यक्पालनलालिता प्रशमिताशेषोपसर्गा प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामं काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सव ॥ १ ९

इत्याद्यूह्यम् ।

धृति सन्तोष है। इसके विभाव ज्ञान और शक्ति आदि हैं। इसका अनुभाव सुखपूर्वक भोग है। १२

ज्ञान से धृतिका उदाहरण भर्तृहरिशतक मे—

हम यहाँ वल्कल से सन्तुष्ट हैं और तुम लक्ष्मी से। बराबर ही हमारा परितोष है, जिसमे कोई तारतम्य नही है। दरिद्र तो वही है, जिसकी तृष्णा अधिक है। मन के सन्तुष्ट होने पर कौन धनी और कौन दरिद्र होता है ?

शक्ति से धृति का उदाहरण रत्नावली म।

नायक वत्सराज विदूषक से कहता है—राज्य के सभी शत्रु परास्त हो चुके है। योग्य मन्त्रियो पर सारा शासन-भार डाल दिया गया है। अच्छे शासन से प्रजायें सुविध लालित हैं और उनकी सारी कठिनाइयाँ शान्त कर दी गई हैं। प्रद्योत की कन्या वासवदत्ता, वसन्त का समय और विदूषक तुम-बस मेरी पूर्ण धृति है। यह काम आये। यह तो मेरे लिए महान् उत्सव है।

अथ जडता—

१३. अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णीभावादयस्तत्र ॥ १३

इष्टदर्शनाद्यथा कुमारसम्भवे—

'एवमालि निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥' ८ ५

अनिष्टश्रवणाद्यथोदात्तराघवे—'राक्षस —

तावन्तस्ते महात्मानो निहताः केन राक्षसाः।
येषा नायकता याातास्त्रिशिराःखरदूषणाः॥

द्वितीय —गृहीतधनुषा रामहतकेन। प्रथमः—किमेकाकिनैव ?। द्वितीयः—अदृष्ट्वा कः प्रत्येति ? पश्य तावतोऽस्मद्बलस्य—

सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्कुलाकुलाः।
कबन्धाः केवलं जातास्तालोत्ताला रणाङ्गणे॥

प्रथम —सखे यद्येवं तदाहमेवंविधः किं करवाणि।' इति।—

१३. जडता समझने-बूझने की शक्ति का अभाव है। इसके विभाव इष्ट तथा अनिष्ट का श्रवण और दर्शन हैं। इसके अनुभाव हैं—एकटक लगातार देखना, चुप्पी आदि। १३

इष्ट दर्शन से जडता कुमारसम्भव में

पार्वती की सखियाँ उससे कहती हैं—हे सखि, भय का दूर करके एकान्त में शङ्कर की उपासना करो। जब प्रिय शङ्कर सामने आये तो व्याकुल पार्वती सखियों के उपदेश को भूल गई।

अनिष्ट के श्रवण से जडता उदात्तराघव में—

राक्षस प्रमुख त्रिशिरा और खरदूषण आदि इतने महान् राक्षस किसके द्वारा मारे गये ?

द्वितीय—नीच धनुर्धर राम के द्वारा।

प्रथम—क्या अकेले ही ?

द्वितीय—बिना देखे कौन विश्वास करेगा ? तो भी मित्र सुनो। एक धनुष के साथ नेता पर भी हमारी सारी सेना के वीरों का रणभूमि में सिर काटने से (उनके कबन्धों के) ऊपरी गड्डों में घुसे कंक पक्षियों के कारण व्याकुल कबन्ध ऊंचे ताड़ के पेड़ के सदृश थे।

प्रथम—यदि ऐसा है तो इस प्रकार अब मुझे क्या करना चाहिए।

अथ हर्ष —

१४ प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदा ।

प्रियागमनपुत्रजननोत्सवादिविभावैश्चेतःप्रसादो हर्षः । तत्र चाश्रुस्वेदगद्गदादयोऽनुभावाः । यथा—

आयाते दयिते मरुस्थलभुवामुत्प्रेक्ष्य दुर्लङ्घ्यतां
गेहिन्या परितोषवाष्पकलिलामासज्य दृष्टिं मुखे।
दत्त्वा पीलुशमीकरीरकवलान्स्वेनाञ्चलेनादरा-
दुन्मृष्टं करभस्य केसरसटाभाराग्रलग्नं रजः ॥

निर्वेदवदितरदुन्नेयम् ।

१४ हर्ष मानसिक प्रसन्नता है। इसके विभाव उत्सव आदि हैं और अनुभाव अश्रु, स्वेद, गद्गद आदि हैं।

प्रिय के आगमन, पुत्र के जन्मोत्सव आदि विभावों से चित्त का प्रसाद हर्ष है। उसमें अश्रु, स्वेद, गद्गद आदि अनुभाव हैं। जैसे—

प्रोषित पति के आने पर मरुभूमि पार करने की कठिनाइयों को मान कर सन्तोष के आंसू से भरी अपनी दृष्टि को पति के मुख पर डाल कर पीलु, शमी और करीर के कवल को खाने के लिए देकर गृहिणी ने अपने अञ्चल से ऊंट के केसर सटा के ऊपर लगी धूलि को झाड़ दिया।

निर्वेद के समान अन्य विभाव से सम्बद्ध उदाहरण समझ लें।

अथ दैन्यम्—

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं कार्ष्ण्यामृजादिमत् ॥१४

दारिद्र्यन्यक्कारादिविभावैरनोजस्कता चेतसो दैन्यं तत्र च कृष्णतामलिनवसनदर्शनादयोऽनुभावाः । यथा—

वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥

शेषं पूर्ववत् ।

दैन्य ओजस्विता का अभाव है। इसका विभाव दुर्गति आदि है। इसका अनुभाव है काला पड जाना, धूसरित होना आदि ।१४

दारिद्र्य, हीनता का भाव आदि विभावों से चित्त की ओजस्विता का दूर हो जाना दैन्य है। उसमें कृष्णता, मलिन वस्त्र, दाँत आदि अनुभाव है। जैसे

वधू के गर्भ के दिन पूरे हो चुके थे। उसे देखकर सास बहुत देर तक यह कह कर रोती रही कि मेरे वृद्ध पति अंधे हैं, जो मचिया पर ही पड़े रहते हैं। घर का छप्पर उड गया है, केवल खम्भे भर खडे हैं। पानी बरसने का समय सिर पर है, विदेश गये पुत्र की चिट्ठी नहीं आई। यत्न से घडे पर जो तेल इकट्ठा किया था, वह घडा भी फूट गया।

यथौग्र्यम्—

१५. दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥

यथा वीरचरिते—'जामदग्न्यः—

उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषा-
दुद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान-
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥'

१५ औग्र्य चण्डता को कहते हैं, जिसके विभाव हैं किसी दुष्ट के द्वारा किये अपराध, उसके अपशब्द और क्रूरता। अनुभाव हैं स्वेद, सिर काँपना, तर्जन, ताडनादि ।१५

महावीरचरित में उदाहरण—

क्रोधाग्नि वाले मेरे स्वभाव को सभी प्राणी जानते हैं। क्षत्रिय वंश के प्रति क्रोध के कारण उनकी माताओं के गर्भ से नोच-नोच कर टुकडे-टुकडे कर डाला। इक्कीस बार पूर्णतया राजवंशियों को काट-पीट डाला। उनके रक्त से भरे सरोवर में जो पितृतर्पण किया, उसके आनन्द से मेरी क्रोधाग्नि कुछ मन्द पड़ी।

अथ चिन्ता—

१६. ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

यथा—

'पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभि
श्कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।
बाले बालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे
विन्यस्याननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ॥'

यथा वा—

'अस्तमितविषयसङ्गा मुकुलितनयनोत्पला बहुश्वसिता।
ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव॥'

१६. चिन्ता ध्यान को कहते हैं। इसका विभाव है अभीष्ट वस्तु का न मिलना। चिन्ता के अनुभाव हैं शून्यता (विकलेन्द्रियता) श्वास और ताप।

जैसे कोई सखी नायिका से कहती है—हे आयताक्षि वाले, कौन-सा वह देवता है, जिसका स्मरण तुम उस हाथ पर सिर रख कर रही हो, जो बालमृणाल के नाल के बने वलयालङ्कार से सुशोभित हो रहा है। तुम्हारे द्वारा शिव के हास से भी बढ़ कर हारावली भूषण अपनी छाती पर धारण किया गया है जो मोती से स्पर्धा करने वाले नेत्रों से झड़ने वाले आँसू की बूँदों से निर्मित हुआ है। दूसरा उदाहरण है—बाला योगी की भाँति किसी अलक्ष्य तत्त्व का ध्यान कर रही है और विषयासक्ति से वह विमुक्त और नयनकमलों को बन्द किये हुई जोरजोर से श्वास ले रही है।

अथ त्रासः—

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥ १६

यथा माघे—

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरू—
वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतो—
र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः॥ ८.२४

त्रास मन का क्षोभ है। इसका विभाव गर्जित आदि है और अनुभाव कम्पन आदि हैं। १६

जैसे शिशुपालवध में—

जलविहार करती हुई नायिका ऊरु प्रदेश का तैरती हुई मछली से धक्का लगा तो डरती हुई वह अतिशय विभ्रमवती हुई। रमणियाँ बिना कारण के ही बहुत अधिक क्षोभ लीलापूर्वक करने लगती है। यदि कोई कारण हुआ तो फिर क्या पूछना?

अथासूया—

१७. परोत्कर्षाक्षमासूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा।
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥१७

गर्वेण यथा वीरचरिते—

'अर्थित्वे प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभोः प्रत्युत
द्रुह्यन्दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया।

उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चात्मनः
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते ॥' २८

दौर्जन्याद्यथा—

'यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम्।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदञ्छ्रममेष्यसि ॥'

मन्युजा यथाऽमरुशतके—

'पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात्किमपि लिखितुं दैवहतकः।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक्परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥
ततश्चाभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद्गद्गदगिरा।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥'

१७ असूया है दूसरे के उत्कर्ष को न सह सकना। इसके विभाव हैं गर्व, दुर्जनता और मन्यु। असूया के अनुभाव हैं—दोष की चर्चा करना, अवज्ञा, भौं चढ़ाना, मन्यु, क्रोध।

गर्व से असूया का उदाहरण महावीरचरित में—माल्यवान् कहता है—मेरे स्वामी रावण ने जनक से सीता की याचना की, पर सफल न हुआ। उस कन्या से, विरोध करने वाले द्रोही राम का विवाह कर दिया। अभिमानी जगत्पति रावण शत्रु का उत्कर्ष, अपने मान और यश का भ्रंश तथा स्त्रीरत्न की हानि—यह सब कैसे सहे?

दुर्जनता से असूया

यदि दूसरों के गुण को नहीं सह सकते तो गुण प्राप्त करने के लिए यत्न करो। निन्दा के द्वारा परयश का मिटाना सम्भव नहीं। इच्छा-द्वेष में आसक्त मनोरथ वाले तुम यदि रुकते नहीं हो तो सूर्य की किरणों को हाथों के छाते से रोकने का व्यर्थ ही प्रयास करोगे।

क्रोध से उत्पन्न असूया

सुन्दरी नायिका के समक्ष गोत्र-स्खलन से विस्मित हुआ अभागा मैं मुँह नीचे करके घबराहट के कारण कुछ रेखायें खींचने लगा। वह रेखाचित्र जैसे-तैसे एक स्पष्ट रूप में ऐसा परिणत हुआ कि उससे वही तरुणी (जिसका नाम लेकर गोत्र-स्खलन किया था) अब साङ्ग प्रकट हो गई।

उस चित्र से मेरी नायिका को पहचान कर कपोल की लाल कान्ति वाली, गद्गद वाणी बोलने वाली मेरी ज्येष्ठा नायिका रोष और प्रणय के आवेश में चिल्ला उठी—अहो, साफ-साफ यह उसी का चित्र है, चित्र है। यह कह कर आँसू भर कर उसने मेरे सिर पर बायें पैर से प्रहार क्या किया, क्रोध से ब्रह्मास्त्र ही चला दिया।

अथामर्षः—

१८. अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१८

यथा वीरचरिते—

'प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥'२८

यथा वा वेणीसंहारे—

'युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थितं
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा-
नद्यैकं दिवस ममासि न गुरुर्नाहं विधेयस्तव ॥'१.१२

१८ अमर्ष अभिनिवेश या संकल्प है, जिसके विभाव अधिक्षेप (लानत मलामत) या अपमान आदि हैं। अमर्ष के अनुभाव हैं—पसीना, सिर की कँपकँपी, डाँट-फटकार और मारपीट आदि।१८

महावीरचरित में उदाहरण—

परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं—आप पूज्य महानुभावों का अनादर करने के कारण मैं प्रायश्चित्त करूँगा। मैं इस प्रकार शस्त्र धारण करने के महाव्रत का दूषित नहीं करूँगा।

वेणीसंहार में उदाहरण—

भीम युधिष्ठिर को सन्देश देते हैं—

आपकी आज्ञा के उल्लंघन-रूपी समुद्र में डूब जाने की मेरी स्थिति है। मर्यादाशील भाइयों के बीच में निन्दा का पात्र रहा। क्रोध से घुमाई जाती हुई और रक्तरञ्जित गदा वाले तथा कौरवों का नाश करने वाले आप एक दिन के लिए मेरे गुरु नहीं रहे और न मैं आपका आज्ञाकारी रहा।

अथ गर्वः—

१९. गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः।
कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥१९

यथा वीरचरिते—

मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रियं मे
विरमतु परिकम्पः कातरे क्षत्रियासि ।
तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूयनोष्ण
परिचरणसमर्थो राघव क्षत्रियोऽहम् ।।'२-२७

यथा वा तत्रैव—

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ।।'२.१०

१९. गर्व मद है। इसके विभाव हैं उच्च वंश में जन्म, लावण्य, बल, ऐश्वर्य आदि। गर्व के अनुभाव हैं—आधर्षण (अनादर या दबोचना), तिरस्कार और शान से अपने अंगों को देखना।

महावीरचरित में उदाहरण—

राम सीता से कहते हैं—यह मुनि (परशुराम) वैसे वीर हैं। यह मेरे लिए अच्छा ही है। तुम तो काँपना छोड़ो। क्षत्रिया हो। घमण्ड से जिनकी बाँहों में खुजली हो रही है और तपस्या के द्वारा जिनका यश फैला हुआ है, उस परशुराम की सेवा करने में हम समर्थ हैं। मैं रघुवंशी क्षत्रिय हूँ।

दूसरा उदाहरण—परशुराम

ब्राह्मण के अनादर करने से विरत होना यह आपके ही वैभव के लिए है। अन्यथा तुम्हारा मित्र यह परशुराम क्रोध करता।

अथ स्मृति—

२०. सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्या भ्रूसमुन्नयनादयः ।।२०

यथा हनुमन्नाटके—

'मैनाकः किमयं रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहतं-
शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुनाजानाति मां रावण-
मा ! ज्ञातं, स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ।। ४९

यथा वा मालतीमाधवे—माधवः—मम हि प्राक्तनोपलम्भसंभाविता-त्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैर-निरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्—

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवान्तर्निखातेव च ।

सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासंततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥'

२०. स्मृति के विभाव हैं—सदृश ज्ञान, चिन्ता आदि और संस्कार। इसके अनुभाव हैं भौंहों का ऊपर चढ़ना आदि, जब ज्ञात होने के नाते कोई वस्तु पुनः प्रतिभासित होती है।२०

हनुमन्नाटक मे उदाहरण—

जटायु को देखकर रावण सन्देह करता है—क्या यह मैनाक पर्वत है जो मेरे निर्विरोध मार्ग को आकाश मे रोक रहा है? उसमे ऐसी शक्ति कहाँ, वह तो वज्र-प्रहार के भय से महेन्द्र से भी डरता है। यह क्या गरुड है? वह भी तो अपने स्वामी के साथ मुझ रावण को जानता है। अरे समझ मे आया—यह तो जटायु है, जो बुढ़ापे मे वैराग्य पाता हुआ वध की कामना करता है। दूसरा उदाहरण मालतीमाधव मे—माधव की मालतीविषयक एकोक्ति है—पहले वह प्रत्यक्ष सी थी। जो संस्कार उसने उत्पन्न हुए, वे सतत ध्यान के कारण उद्बुद्ध हैं। वह अब इधर-उधर की परिस्थितियो मे अन्यथा नहीं किया जा सकता। मालती की निरन्तर स्मृति से मेरा चैतन्य तन्मय सा हो गया है।

मालती मानो लीन की भाँति, प्रतिबिम्बित की भाँति, लिखित की भाँति, उत्कीर्ण चित्र की भाँति, जड़ी हुई की भाँति, वज्रलेप (सिमेण्ट) से बनी हुई सी, भीतर से गाड़ी हुई के समान, हमारे चित्त मे मानो काम के पाँच बाणों से भीतर की ओर कीलित की भाँति चिन्तारूपी तन्तुजाल मे घनी-घनी सिली हुई की भाँति एकीभूत है।

अथ मरणम्—

२१. मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।

यथा—

'संप्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारंवारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किंचिच्चिरम्।
संप्रत्येव निवेद्य केलिकुररीं सास्रं सखीभ्यः शिशो-
र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः॥'

इत्यादिवच्छृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम्। अन्यत्र कामचारो यथा वीरचरिते—'पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम्—

हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्रसंवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा।
नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यदुद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥१.३८

२१. मरण को सभी जानते हैं और यह अमंगलकारी भी है। अतएव इसके विभाव और अनुभाव का वर्णन नहीं किया जाता है।

जैसे—

कोई दूती नायक से कह रही है—आपके लौटने का दिन आने पर आपके आने के मार्ग की ओर की खिड़की के पास बारबार जाकर चेष्टाविहीन आपकी प्रियतमा ने बड़ी देर तक कुछ सोचा। उसके पश्चात् उसने क्रीडा कुररी पक्षी को रोते हुए अपनी सखियों को सौंप दिया और बालावस्था वाली माधवी लता का आम्रवृक्ष के साथ सकरुण विवाह रच दिया।

इस प्रकार शृङ्गार का आश्रयभूत जब मरण हो तो उसका व्यवसाय (विचार, सकल्प) मात्र वर्णन करना चाहिए। अन्य परिस्थितियों में यथेष्ट वर्णन किया जा सकता है। जैसे महावीरचरित मे लक्ष्मण विहँस कर कहते हैं—

आप लोग ताड़का को देखें—

हृदय मर्म को भेदने वाले उड़ते हुए बाणो के वेग से तड़का के अङ्ग कट पिट गये। उसकी नाक रूपी कुटीर के द्वारों से बुद्बुद ध्वनि करता हुआ रक्तप्रवाह चल पड़ा। वह मर सी गई।

यथा मद. —

हर्षोत्कर्षो मद पानात्स्खलदङ्गवचोगतिः ॥२१

२२ निद्रा हासोऽत्र रुदित ज्येष्ठमध्याधमादिषु।

यथा माघे—

'हावहारि हसित वचनाना कौशलं दृशि विकारविशेषा ।

चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वा कामिनेव तरुणेन मदेन ॥१०.१३

इत्यादि।

मद है हर्ष की अतिशय ता। इसके विभाव हैं मद्यपान। अनुभाव हैं त्रुटिपूर्ण अङ्ग, वाणी और चाल। निद्रा हास और रुदित क्रमश ज्येष्ठ, मध्यम और अधम पुरुषों के लिए अनुभाव हैं।

जैसे शिशुपालवध म—

तरुण कामी की भाँति मद्यपान ने मुग्धा नायिका क हास को हावो से निर्भर करके आकर्षक बना दिया, वाणी म कौशल उत्पन्न कर दिया और दृष्टि में उत्कृष्ट विकार ला दिये।

अथ सुप्तम्—

सुप्तं निद्रोद्भव तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम् ॥२२

यथा—

'लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवाना

नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने।

परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
कुचकलशमहोष्मावद्धरेखस्तुषार ॥'

सुप्त नामक सचारिभाव का विभाव निद्रा है। इसमे श्वास और उच्छ्वास की क्रिया अनुभाव है।२२

जैसे—

यव के खेत के कोने मे तृण के बने कुटीर मे तकिया सहित धान के नये पुआल के विस्तर पर सोये हुए किसान-दम्पती को कुचकलश की ऊष्मा से रेखा बनाये हुए तुषार दूर से ही छोड रहा था।

अथ निद्रा—

२३ मनस्सामीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभि ।
तत्र जृम्भागभगाक्षिमीलनोत्स्वप्नतादय ॥ २३

यथा—

'निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥'

यथा च माघे—

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चै
प्रतिपदमुपहूत केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णा निद्रया शून्यशून्या
ददददपि गिरमन्तबुंध्यते नो मनुष्य ॥११.४

२३ निद्रा है मन का निश्चेष्ट हो जाना। इसके विभाव हैं—चिन्ता, आलस्य, और आयास आदि। इसके अनुभाव हैं—जँभाई, अँगड़ाई, आँख का मँपना और स्वप्न देखना। २३

जैसे—निद्रा से अधमुँदी आँखो वाली, मद से मन्थर, प्राय निरर्थक वाणी बोलने वाली उस मृगनयनी के मधुर अक्षर आज भी मेरे हृदय मे कुछ विचित्र ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर रहे हैं।

शिशुपालवध मे उदाहरण है—

माघ ने रात के पहरेदार का वर्णन किया है—अपने पहर तक जागे हुए अब सोने की इच्छा करते हुए उसने अपने जोड़ीदार को तार स्वर से जागो कहकर उठाया। उस दूसरे पहरेदार ने अव्यक्त वर्णों का उच्चारण निद्रा वश करते हुए शून्य बातें कहते हुए भी अन्दर से जगा नहीं।

अथ विबोध —

२४ विबोध. परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

यथा माघे—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखाना
चरममविशयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धा ।
अपरिचलितगात्रा. कुर्वते न प्रियाणा-
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्य ॥' ११ १३

२४ विबोध (जगना) का विभाव निद्रा का परिणामादि है। इसमे अनुभाव जँभाई, आँख मींचना है।

शिशुपालवध मे उदाहरण है—

नायिका पति के साथ सोई तो उसके बाद, पर जगी उससे पहले। फिर उसने अपने शरीर को बिना हिलाये रखा, ताकि पति की नींद न खुल जाय।

अथ व्रीडा—

२५ दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्ट्र्याभावस्तमुन्नयेत् ।
साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभि: ॥२४

यथामरुशतके—

"पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम्।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्त प्रथमपरिहासे नवबधू ॥' ४१

२४. व्रीडा ढिठाई का अभाव है। इसका विभाव दुराचारादि हैं। इसके अनुभाव हैं अंगों की वक्रता, आवरण, पीलापन, मुख को नीचा कर लेना आदि।२४

अमरुशतक मे उदाहरण —

नई वधू प्रथम परिहास के अवसर पर लज्जा से भीतर ही भय करती हुई कुछ बोल नहीं पाती है। पति के वस्त्र छूने पर विनयपूर्वक मुख को झुका लेती है। उसके हठ पूर्वक आलिंगन की इच्छा करने पर चुपचाप अङ्गों को हटा लेती है। अपने ऊपर हँसती हुई सखियों की ओर वह देखा करती है।

अथापस्मार —

२५ आवेशो ग्रहदु खाद्यैरपस्मारो यथाविध ।
भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादय. ॥२५

यथा माघे—

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारवृहत्तरङ्गम्।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥' ३.७२

२५. अपस्मार आवेश है।[1] इसका विभाव ग्रह, दुःख आदि है। अनुभाव पृथ्वी पर गिरना, कम्पन होना, पसीना छूटना, लार गिरना, मुँह से फेन निकलना आदि हैं।

उदाहरण शिशुपालवध मे—

कृष्ण ने समुद्र को देखा कि वह धराशायी है, तारस्वर से हहरा रहा है, चंचल भुजाओ के समान ऊँची तरंगो वाला है, और फेन से संयुक्त है। कृष्ण ने ऐसे समुद्र को अपस्मारी होने की शंका की।

अथ मोह —

२६. मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः।
तत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादयः ॥ २६

यथा कुमारसम्भवे—

'तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥' ३ ७३

यथा चोत्तररामचरिते—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥' १.३५

२६. मोह विचित्तता (मस्तिष्क का काम न करना) है। इसके विभाव हैं भीति, दुःख आवेश, अनुचिन्तन। इसके अनुभाव हैं अज्ञान, भ्रम, आघात, चक्कर खाना दिखाई न देना आदि।

कुमारसम्भव मे उदाहरण है—

इन्द्रिय-व्यापार को स्तब्ध कर देने वाले और प्रखर विपत्ति से उत्पन्न मोह के द्वारा रति का मानो उपकार कर दिया गया, जिससे वह पतिविषयक विपत्ति को मानो भूल ही गई।

उत्तररामचरित मे उदाहरण है—

यह समझ मे नही आता कि यह सुख है या दुःख है, मोह है या निद्रा है, विष

---

१. अपगता स्मृतिर्यत्र सोऽपस्मारः। अर्थात् जिसमे स्मृति नष्ट हो जाती है।

चढ गया है या मद है, तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श मे मेरी इन्द्रियो को मोहित कर देने वाला कोई विकार है जो मुझे जड बना दे रहा है और सन्ताप पैदा कर रहा है।

अथ मति —

२७ भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्या शास्त्रादेस्तत्त्वधीमति ।

यथा किराते—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक परमापदा पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिण गुणलुब्धा स्वयमेव सपद ॥ २ ३०

यथा च—

न पण्डिता साहसिका भवन्ति श्रुत्वापि त सतुलयन्ति तत्त्वम्।
तत्त्व समादाय समाचरन्ति स्वार्थ प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम् ॥

२७ मति तत्त्वज्ञान है। इसका विभाव शास्त्रादि है और अनुभाव भ्रान्ति का मिट जाना तथा उपदेश देना है।

किरातार्जुनीय मे उदाहरण—

काम सहसा न करे। विवेक का अभाव विपत्तियो का कारण है। गुणो से आकृष्ट होने वाली सम्पत्तियाँ विचारक को स्वय चुन लेती है।

दूसरा उदाहरण—

पण्डित साहसिक नहीं होते। वे श्रुति से तत्त्व का अनुशीलन करते है। तत्त्व ग्रहण करके आचरण करते है। वे स्वार्थ साधन करते है और परार्थ भी।

अथालस्यम्—

आलस्य श्रमगर्भादिर्जैड्म्य जृम्भासितादिमत् ॥२७

यथा ममैव—

चलति कथञ्चित्पृष्टा यच्छति वचन कथञ्चिदालीनाम्।
आसितुमेव हि मनुते गुरुगर्भभरालसा सुतनु ॥

आलस्य सुस्ती (काम न करने की प्रवृत्ति) है। इसका विभाव श्रम और गर्भ आदि है और अनुभाव जँभाई और बैठे रहना है।२७

उदाहरण स्वरचित—

गर्भ के भार से अलसाई हुई सुन्दरी नायिका केवल बैठ रहना चाहती है। कठिनाई से चलती है। सखियो को पूछने पर किसी किसी तरह धीरे से कुछ कह देती है।

अथावेग —

२८ आवेग सम्भ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो
वातात्पांसूपदिग्धस्त्वरितपदगतिर्वर्षजे पिण्डिताङ्ग ।

उत्पातात् स्रस्तताङ्गं प्वहितहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्नेर्धूमाकुलास्यः करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ॥२८

अभिसरो राजविद्रवादि तद्धेतुरावेगो यथा ममैव—

आगच्छागच्छ सज्जं कुरु वरतुरगं सन्निधेहि द्रुतं मे
खड्ग क्वासौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्गप्रविष्टम् ।
संरम्भोन्निद्रिताना क्षितिभृति गहनेऽन्योन्यमेवं प्रतीयं ।
वाद स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशा विद्विषामाविरासीत् ॥'

इत्यादि ।

'तनुत्राण तनुत्राण शस्त्रं शस्त्रं रथो रथः ।
इति शुश्रुविरे विष्वगुद्भटा सुभटोक्तय ॥'

यथा वा—

'प्रारब्धा तरुपुत्रकेषु सहसा सत्यज्य सेकक्रिया–
मेतास्तापसकन्यका किमिदमित्यालोकयन्त्याकुला ।
आरोहन्त्युटजद्रुमाश्च बटवो वाचंयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजवृषीष्वेवोच्चपादं स्थिता ॥'

वातावेगो यथा - 'वाताहत वसनमाकुलमुत्तरीयम्' इत्यादि ।

वर्षजो यथा—

'देवे वर्षत्यशनपचनव्यापृता वह्निहेतो—
र्गेहाद् गेह फलकनिचितै सेतुभि पङ्कभीता ।
नीध्रप्रान्तानविरलजलाःपाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषित सञ्चरन्ति ॥'

उत्पातजो यथा—

'पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान—
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशा प्रियाया ।
श्रेयासि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्न—
मालिङ्गनोत्पुलकमाभितमिन्दुमौले ॥'

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्या तद्यथोदात्तराघवे—'चित्रमाय —
(ससम्भ्रमम्) भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायता । (इत्याकुलता नाटयति)'
इत्यादि । पुन 'चित्रमाय —

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपु ।
नीयते रक्षसानेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥

राम.—

वत्सस्याभयवारिधे प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
त्रस्तश्चैष मुनिर्विरौति मनसश्चास्त्येव मे सम्भ्रम ।
मा हासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद् गुरुर्याचते
न स्यातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चय ॥'

इत्यन्तेनानिष्टप्राप्तिकृतसम्भ्रम ।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव—'(प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानर) वानर--महाराअ एदं खु पवणणन्दणागमणेण पहरिस—' (महाराज एतत्खलु पवननन्दनागमनेन प्रहर्ष—' ।)

इत्यादि 'देवस्स हिअआणन्दजणणं विअलिद महुवणम् ।' (देवस्य हृदयानन्द-जनन विदलितं मधुवनम्' ।) इत्यन्तम् ।

यथा वा वीरचरिते—

एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥'१ ५५

वह्निजो यथामरुशतके—-

'क्षिप्तो हस्तावलग्न प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन्केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षित सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभि साश्रुनेत्रोत्पलाभि
कामीवार्द्रापराध स दहतु दुरित शाम्भवो व. शराग्नि ॥'२

यथा वा रत्नावल्याम्—-

'विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्व
प्रसरयसि किमुच्चैरर्चिषा चक्रवालम् ।
विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्ध प्रियाया
प्रलयदहनभासा तस्य किं त्व करोषि ॥'४ १६

करिजो यथा रघुवंशे—

'स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथ क्षणेन ।
रामापरित्राणविहस्तयोध सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥'५ ४८

करिग्रहणं व्यालोपलक्षणार्थं, तेन व्याघ्रशूकरवानरादिप्रभवा आवेगा व्याख्याता ।

२८. अ.वेग सम्भ्रम (संवेग), साध्वस, हड़बड़ी) है। इसका विभाव अनिष्ट (आक्रमण) आदि हो तो अनुभाव शस्त्र ग्रहण और हाथी के द्वारा प्रहदाक्रमण अनुभाव

होते हैं । आँधी के विभाव होने पर धूसरित होना, प्रखर गति से चलना अनुभाव होते ह । वर्षा के विभाव होने पर अङ्गो का सकुचित होना अनुभाव होता है । उत्पात के विभाव होने पर अङ्ग का ढीला पड जाना अनुभाव है । अहित या हित के विभाव होने पर क्रमश शोक और हर्ष अनुभाव होते हैं । अग्नि के विभाव होने पर मुख का धूमाकुल होना अनुभाव है । हाथी के विभाव होने पर भय, स्तब्धता, कँपकँपी और दूर भागना अनुभाव हैं ।

अभिसर राजकीय विद्रव है । इससे उत्पन्न आवेग का उदाहरण धनिक कृत है—

किसी व दो की अपने आश्रयदाता राजा के प्रति चाटूक्ति है—ह स्वामिन् ! आप सपने म भी यदि दिखाई पड जाते हैं तो चकित नेत्रो वाले शत्रुओं की ऐसी स्थिति होती है—आओ, आओ सज्जित हो जाओ । श्रेष्ठ घोडे को मेरे पास शीघ्र लाओ । तलवार कहाँ ह ? कटार लाओ । धनुष मे क्या होगा ? क्या शत्रु प्रवेश कर गये ? घबराहट मे जगे हुए वे पर्वत पर छिपने के स्थान पर परस्पर इस प्रकार बातें करते हैं ।

कवच, कवच, शस्त्र, शस्त्र, रथ, रथ—इस प्रकार की वीरो की उदात्त उक्तियाँ (शत्रु के आक्रमण के समय) सुनो । (कहीं सेना को अपने आश्रम की ओर आते देखकर)

पुत्रवत् पौधो को पानी देने का काम सहसा छोडकर ये तापस-कन्यायें—यह क्या है—व्याकुल होकर देख रही हैं । चुप्पी साधे हुए ब्रह्मचारी आश्रम वृक्षो पर चढ गये हैं । वे शीघ्र ही समाधि छोडकर अपने कुशासन पर पैर उचका कर खडे हो गये है ।

आँधी से आवेग का उदाहरण—वायु क वेग से उत्तरीय उडा जा रहा है—इत्यादि ।

वर्षा मे उत्पन्न आवेग का उदाहरण

पानी बरस रहा है । भोजन पकाने का आरम्भ करने वाली स्त्रियाँ आग के लिए एक घर स दूसरे घर जा रही हैं । व पङ्क के भय से पटडो के बने सेतु का उपयोग चलने के लिए करती है । वे सूप का छाता बनाकर सिर को ढकी हुई हैं और अपने हाथो स निरन्तर जल गिराने वाले छज्जे के छोर को पोटती चलती हैं ।

(इस उदाहरण मे पिण्डिताङ्गता नामक अनुभाव का अभाव है)

उत्पात से उत्पन्न आवेग का उदाहरण

शिव का वह आसन आप लोगो का कल्याण करे, जो रावण की मोटी भुजाओं म उखाडे जाते हुए कैलास पर घबराहट से चचल नेत्रों वाली प्रिया पार्वती के आलिंगन से पुलकालकृत था और जिसमें कोप के चिह्न तिरोहित थे ।

अहित के श्रवण और दर्शन से उत्पन्न आवेग का उदाहरण उदात्तराघव मे—

चित्रमाय—(सभ्रमपूर्वक) भगवन् कुलपति रामभद्र, रक्षा करें, रक्षा करें । (वह आकुलता का अभिनय करता है ।) इत्यादि

पुन नितमाय—मृग का रूप छोड़कर विकट शरीर बनाकर उस राक्षस के द्वारा लक्ष्मण युद्ध मे संशय की स्थिति मे प्राप्त कराये गये।

राम—अभय के समुद्र भाई लक्ष्मण के लिए कैसे राक्षस से भय की शका करूँ? ये डरे हुए मुनि क्रन्दन कर रहे हैं। मेरे मन को भी घबराहट हो रही है। मुनि वसिष्ठ ने स्नेहपूर्वक कहा था कि सीता को छोड़ना मत। मुझ मूढ मति का निश्चय न तो रुकने और न जाने के लिए हो रहा है।

यह अनिष्ट प्राप्ति के कारण सभ्रम है।

इष्ट प्राप्ति से आवेग का उदाहरण उदात्तराघव मे है—

वानर—(पटाक्षेपपूर्वक प्रवेश करके घबराया हुआ) हे महाराज, यह हनुमान् के आने पर प्रहर्ष हुआ है? इत्यादि। आपके हृदय को आनन्द देने वाला मधुवन उजड गया।

महावीरचरित से उदाहरण—

जनक राम से कहते हैं—वत्स, आओ, आओ रघुनन्दन, पूर्णचन्द्र! तुम्हारे सिर का चुम्बन करूँ। देर तक तुम्हारा आलिंगन करूँ या हृदय से लगाकर दिन-रात आदर करूँ। अथवा तुम्हारे चरणकमलद्वय की वन्दना करूँ।

अग्नि से आवेग—जैसे अमरुशतक मे—

शिव की वह शराग्नि आपकी विपत्ति को जला दे। वह शराग्नि अभी-अभी अपराध किये हुए कामी की भाँति है। जब उसने आँसू भरी कमल नयनो वाली त्रिपुर युवतियो के हाथ को पकड़ा तो झटके से दूर हटाया गया। जब उनके रेशमी वस्त्र के छोर को पकड़ा तो बलात् दूर झटकारा गया, बाल पकड़ा तो निवारित किया गया, पैर पर गिरा तो घबराहट के कारण देखा भी नही गया। जब वह लिपट ही गया तो अनादृत हुआ।

दूसरा उदाहरण रत्नावली मे है—

आग, भला रुक तो जाओ। धुएँ से सर्वत्र व्याप्त मत बनो। क्योंकर ऊँची लपटों के मण्डल को फैला रहे हो? अपनी प्रिया की विरहाग्नि से मैं नहीं जला। उसका तुम अपनी प्रलयाग्नि की ज्योति से क्या कर लोगे?

हाथी से आवेग का उदाहरण रघुवंश मे—

उस बड़े वन्य गज को देखकर अपने बन्धन को तोड़ कर घोड़े भाग चले। भगदड़ मे रथो के धुरे भग हो गये। वे बिखरे पड़े थे। स्त्रियों की रक्षा करने मे सैनिक व्याकुल थे। सारा सैन्य-निवेश कोलाहल निर्भर था।

हाथी सभी वन्य पशुओं के लिए साङ्केतिक है। उसमे व्याघ्र, शूकर, वानरादि से उत्पन्न आवेग भी समझी जायें।

अथ वितर्क

२६. तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोङ्गुलिनर्तकः ।

यथा उदात्तराघवे

'किं लोभेन विलङ्घित स भरतो येनैतदेवं कृतं
सद्यः स्त्रीलघुता गता किमथवा मातैव मे मध्यमा।
मिथ्यैतन्मम चिन्तितं द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्माता तातकलत्रमित्यनुचितं मन्ये विधात्रा कृतम् ॥'

अथवा ।

'कः समुचिताभिषेकाद्रामं प्रच्यावयेद् गुणज्येष्ठम् ।
मन्ये ममैव पुण्यै सेवावसर कृतो विधिना ॥'

२८. तर्क विचार है। इसका विभाव सन्देह है और अनुभाव है—भौं, सिर और अगुलि को नचाना।२६

उदाहरण—क्या भरत लोभ के वशीभूत हो गये, जिससे उन्होंने ऐसा कर डाला या क्या मेरी मध्यमा माता कैकेयी आज स्त्री की स्वाभाविक लघुता को प्राप्त हो गई ? ये मेरे दोनो विचार मिथ्या हैं। भरत तो श्रेष्ठ राम के भाई हैं। माता कैकेयी भी श्रेष्ठ पिता दशरथ की पत्नी हैं। (वे दोनो ही ऐसा नहीं करेंगे)। इस अनुचित कार्य के कर्ता विधाता है।

अथवा—कौन गुणों से श्रेष्ठ आर्य राम को समुचित अभिषेक से गिरा सकता है ? मै समझता हूँ कि मेरे पुण्यों का प्रभाव है कि भगवान् ने मेरे लिए यह सेवा का अवसर उपस्थित कर दिया है।

अथावहित्था—

लज्जाद्यै विक्रियागुप्तावहित्थाङ्गविक्रिया ।

यथा कुमारसम्भवे—

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥'६८४

अवहित्था अङ्गों का विकार है। इसका विभाव लज्जा आदि है। इसका अनुभाव विकारों को छिपाना है।

कुमारसम्भव मे उदाहरण

देवर्षि नारद के ऐसा कह लेने पर पिता के पास मुख नीचे का हुई पार्वती ने लीलाकमल के पत्तो को गिना।

अथ व्याधि —

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ॥२६

दिङ्मात्र तु यथा

अच्छिन्न नयनाम्बु बन्धुषु कृत चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्त दैन्यमशेषत परिजने ताप सखीष्वाहित ।
अद्य श्व परनिर्वृतिं व्रजति सा श्वासै पर खिद्यते
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःख विभक्त तया ॥'

व्याधि सन्निपात आदि हैं। उनका अन्यत्र (आयुर्वेद शास्त्र मे) विस्तार है।
मकरन्द म उदाहरण—

कोई दूती नायक से विरहिणी नायिका का दशा का वर्णन करती है—सतत अश्रु बन्धुओ को, चिन्ता गुरुओ को सम्पूर्ण दैन्य परिजनो को, ताप सखियो को आपकी प्रणयिना न द डाला है। वह आजकल मे परम निर्वाण प्राप्त करने वाली है। उसके श्वास मात्र ही रह गये हैं, जिससे कष्ट हो रहा है। आप तो आश्वस्त रहे, उसने विरहजनित दुःख का बँटवारा कर लिया है।

अयोन्माद —

३०. अप्रेक्षाकारितोन्माद. सन्निपातग्रहादिभि ।
अस्मिन्नवस्था रुदितगीतहासस्मितादय ॥३०

यथा विक्रमोर्वशीये—आ ! क्षुद्रराक्षस ! तिष्ठ तिष्ठ, क्व मे प्रियतमामादाय गच्छसि' इत्युपक्रमे कथम्—

नवजलधर सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचर
सुरधनुरिदं दूराकृष्ट न तस्य शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥'४७

३० उन्माद (पागलपन) अप्रेक्षाकारिता है। इसके विभाव सन्निपात, ग्रह आदि हैं। इसम रुदित, गीत, हास, स्मित आदि अनुभाव हैं।
विक्रमोर्वशीय म उदाहरण है—

उन्मत्त पुरूरवा बादल को देखकर कहता है—आ क्षुद्र राक्षस, ठहरो, ठहरो। मेरी प्रियतमा को लेकर कहाँ जा रहे हो? यहाँ से लेकर—क्याकर—

यह तो नया बादल है, दर्पिष्ठ निशाचर नहीं है। यह इन्द्रधनुष है। राक्षस का पूरा ताना हुआ धनुष नहीं है। यह भी तेज धारासम्पात है, बाणपरम्परा नहीं है। स्वर्ण रेखा के समान स्निग्ध यह विद्युत् है, मेरा प्रिया उर्वशी नहीं है।

अब विषाद —

३१. प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषाद सत्त्वसंक्षय ।
नि श्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥३१

यथा वीरचरिते—'हा आर्ये ताडके ! किं हि नामैतत् । अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाण प्लवन्ते ।

नन्वेष राक्षसपते स्खलित प्रताप

प्राप्तोऽद्भुत परिभवो हि मनुष्यपोतात् ।

दृष्ट स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो

दैन्य जरा च निरुणद्धि कथ करोमि ॥ १४०

३१ विषाद सत्त्व (शक्ति, उत्साह) का क्षीण हो जाना है। इसका विभाव हाथ मे लिये काम मे असफलता आदि है और अनुभाव है नि श्वास, उच्छवास, हृदय का ताप, सहायक की खोज ।३१

महावीरचरित मे उदाहरण—

सर्वमाय नामक राक्षस कहता है—हा आर्ये ताटके, यह क्या हो रहा है। पानी में तुमड़ा डूब रही है और पत्थर तैर रहे हैं। आज रावण का प्रताप नीचे गिर गया। उसको मनुष्य शावक से अपूर्व पराजय मिली है। यहाँ पडे पडे ही मैंने अपने लोगों का सर्वनाश देखा है। दीनता और बुढ़ापा मुझे रोक रहे हैं। क्या करूँ।

अथौत्सुक्यम्—

३२ कालाक्षमत्वमौत्सुक्य रम्येच्छारतिसम्भ्रमै ।

तत्रोच्छ्वासत्वराश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमा ॥३२

यथा कुमारसम्भवे—

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।

हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणा प्रियालोकफलो हि वेष ॥७ २२

यथा वा तत्रैव—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्क ।

कमपरमवश न विप्रकुर्युर्विभुमपि त यदमी स्पृशन्ति भावा ॥६ ९५

३२ औत्सुक्य है विलम्ब न सहना या प्रतीक्षा न कर सकना। इसके विभाव हैं रमणीय वस्तु की कामना, अरति और सम्भ्रम विभाव है। इसके अनुभाव है—उच्छ्वास, त्वरा श्वास, हृदय का ताप, स्वेद और विभ्रम ।३२

कुमारसम्भव मे उदाहरण—

दर्पण मे अपने को शोभमान देखकर टकटकी लगाये हुए बडी दृष्टि वाली पार्वती शिव के पास पहुँचने के लिए अधीर हो गई। स्त्रियों का वेष प्रियतम के दर्शन से सफल होता है।

वही दूसरा उदाहरण है—

पार्वती से मिलने के लिए उत्सुक शिव ने भी उन दिनो को कष्ट से ही बिताया।

ये भाव जब ऐश्वर्यशाली शिव को अछूता नहीं छोड़ते तो किस दूसरे को वश में नहीं कर रखेंगे ?

अथ चापलम्--

३३. मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थिति ।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥३३

यथा विकटनितम्बायाः –

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥'

यथा वा—

विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्राक्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात् सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि ॥
अथवा प्रस्तुतमेव तावत्सुविहितं ।' इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव भावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान्न पृथग्वाच्या ।

३३ चापल अनवस्थिति (अस्थिरता, अधीरता) है। इसके विभाव मात्सर्य द्वेष, राग आदि हैं। इसके अनुभाव भर्त्सना, कठोरता, स्वेच्छाचारिता आदि हैं। उदाहरण विकटनितम्बा से—

हे भ्रमर, उन पुष्पवती लताओं में अपने चञ्चल मन का विनोद करो, जो विनोद के श्रम को सह सकें। इस नवमल्लिका की बाल कलिका को वृथा व्यर्थ ही असमय में भोग्य बनाना चाहते हो ? अभी तक इसमें पुष्प नहीं आये ।

रावण वानरों की सेना के विषय में कहता है—

आज ही क्या ये सभी मुख मानो स्पर्धा करते हुए एक साथ ही कोप के कारण वानरी सेना के ऊपर गिर पड़ेंगे, जिन मुख में भयङ्कर कन्दरा गर्भ स्थित हैं और जो रगड़ खाने तथा कड़कड़ाते हुए कठोर दाढ़ों के क्रकच से युक्त हैं।

अथवा प्रस्तुत कार्य को ही तब तक यथावत् रीति से सुसम्पादित करूँगा।

कुछ अन्य चित्तवृत्तियाँ सम्भव हैं। वे पूर्वोक्त व्यभिचारी भावों के विभाव और अनुभावों में समाविष्ट हो जाती हैं। अतएव उनकी पृथक् चर्चा नहीं की जाती।

स्थायी भाव:

३४. विरुद्धै रविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।। ३४

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी। यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जुकायामनुरागः तत्तदवान्तरानेकनायिकानुरागैरतिरस्कृतः स्थायी। यथा च मालतीमाधवे श्मशानाङ्के बीभत्सेन मालत्यनुरागस्यातिरस्कार—'मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मन संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशे प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः' प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसंतानस्तन्मयमिव करोत्यन्तर्वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्' इत्यादिनोपनिबद्ध। तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिना च समावशो न विरोधी।

तथाहि—कथं विरोध? सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा? उभयरूपो न तावत् स्यादात्मनि तस्यैकरूपत्वेनाविर्भावात्। स्थायिना च भावादीना यदिविरोधस्तत्रापि न तावत् सहानवस्थानम्-रत्याद्युपरक्ते चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिना व्यभिचारिणा विरोधिना चोपनिबन्धः समस्तभावकस्वसंवेदनसिद्ध. यथैव च स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्येऽप्यावेश्यमान स्वचेतःसम्भेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतु सम्पद्यते। तस्मान्न तावद्भावाना सहानवस्थानम्।

बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कार। स च न स्थायिनामविरुद्धव्यभिचरिभि स्थायिनोऽविरुद्धत्वात् तेषामङ्गत्वात्। प्रधानविरुद्धस्य चाङ्गत्वायोगात्। आनन्तर्यविरोधोऽप्यनेन प्रकारेणऽपातो भवति। तथा च मालतीमाधवे शृङ्गारानन्तरं बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद्वैरस्यम्। तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसैकालम्बनत्वमेव विरोधे हेतु। स त्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो विरोधी।

यथा—'अण्णहु णाहु महेलिअजुहु परिमलु सुअन्धु।
महक्न्तहु अगत्यहअङ्ग ण फिट्टइ गन्धु।।'
अन्यासा नाथा महिलाना जुहुधि परिमलं सुगन्धम्।
मम कान्तस्य अग्रस्तं हताङ्ग न भ्रश्यते गन्ध।।

इत्यत्र बीभत्सस्य व्यवधानेन शृङ्गारवीरसमावेशो न विरुद्धः। प्रकारान्तरेणैकाश्रयविरोधः परिहर्तव्यः।

ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषा विरुद्धानामविरुद्धाना च न्यग्भूतत्वेनोपादान तत्र भवत्वङ्गत्वेनाविरोध, यत्र तु समप्रधानत्वेनानेकस्य भावस्योपनिबन्धनं तत्र कथम्?

यथा—एक्कत्तो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेन अ भडस्य डोलाइअं हिअअं ॥
(एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः ।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ॥)

इत्यादौ रत्युत्साहयो.।

(२) 'मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु ।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥'
शृंगार ०३८

इत्यादौ रत्युत्साहयो '

(३) 'इयं सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसतिः

संग्रामतूर्ययोरुपादानं वीरमेव पुष्णातीति भटस्येत्यनेन पदेन प्रतिपादितम् । न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावरहितयोरेकत्रभावो युज्यते। किञ्चोपक्रान्ते संग्रामे सुभटानां कार्यान्तरकरणेऽ प्रस्तुतसंग्रामौदासीन्येन महदनौचित्यम्। अतो भर्तुः संग्रामैकरसिकतया शौर्यमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकरुणो वीरमेव पुष्णाति ।

एवं 'मात्सर्यम्' इत्यादावपि विरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयतयोपादाना-च्छमैकपरत्वम् 'आर्या समर्यादम्' इत्यनेन प्रकाशितम् ।

एवम् 'इयं सा लोलाक्षी' इत्यादावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारिविषादविभावदवितर्कहेतुतया च रतिक्रोधयोरुपादाने रौद्रपरमेव । 'अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः' इत्यादौ बीभत्सैकपरत्वमेव । 'एकं ध्याननिमीलनात्' इत्यादौ शम्भोर्भावान्तरैरनाक्षिप्त-तया शमस्यस्यापि योग्यन्तरसमाधिवैलक्षण्यप्रतिपादनेन शमैकपरतैव 'समाधिसमये' इत्यनेन स्फुटीकृता । 'एकेनाक्ष्णा' इत्यादौ तु समस्तमपि वाक्य *भक्तिप्रह्वविषयमिति न क्वचिदनेकतात्पर्यम् ।*

यत्र तु श्लेषादिवाक्येऽनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपरतेत्यदोषः । यथा—

'श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-
त्रैलोक्या चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।
बिभ्राणा मुखमिन्दुसुन्दररुचं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने या स्वतनोरपश्यदधिका सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥'

इत्यादौ । तदेवमुक्तप्रकारेण रत्याद्यनिबन्धे सर्वत्राविरोधः । यथा वा श्रूयमाणरत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाग्रे दर्शयिष्यामः ।

३४ विरुद्ध अथवा अविरुद्ध (अन्य) भावों से जो विच्छिन्न नहीं होता, वह लवणाकर (सागर या लवण की खानि) के समान स्थायी भाव होता है जो सभी अन्य (विरुद्ध और अविरुद्ध भावों) को आत्मरूप प्राप्त करा लेता है ॥ ३४

सजातीय तथा विजातीय अन्य भावों से तिरोहित न होता हुआ जो रत्यादि भाव निबद्ध किया जाता है, वह स्थायी कहा जाता है—जैसे, बृहत्कथा में नरवाहनदत्त का मदनमञ्जुका में अनुराग स्थायी है, क्योंकि वह अनेक नायिकाओं में होने वाले अवान्तर (तथा सजातीय) अनुरागों से तिरोभूत नहीं होता। विजातीय भावों से तिरोहित न होने वाले स्थायी भाव का उदाहरण मालतीमाधव-प्रकरण के श्मशानाङ्क में इस प्रकार उपनिबद्ध किया गया है। (माधव कहता है) —"पूर्व जन्म के अनुभव से उत्पन्न संस्कार के निरन्तर सजग होने के कारण प्रतीति में आया हुआ प्रियतम के स्मृतिजात

की उत्पत्ति की अविच्छिन्न धारा अन्य विजातीय ज्ञान प्रवाहों से तिरोभूत नहीं हुई[1] और वह मेरी चेतना को अपनी वृत्ति की तदाकारता से तन्मय कर रही है।[2]

इस प्रकार विरोधी और अविरोधी भावो का समावेश स्थायी भाव का विरोधी नहीं ठहरता है।

अवलोक—तर्हिं—क्व विरोध ?—विरोध के दो रूप हो सकते हैं, एक तो यह कि स्थायी के साथ दूसरा भाव रह ही न सकता हो, और दूसरा यह कि दोनो में बाध्य-बाधक भाव हो—अर्थात् एक भाव का दूसरा भाव बाधक हो। इन दोनों प्रकारो मे स्थायी भाव के साथ विरोध का तादात्म्य नहीं बन पाता, क्योंकि स्थायी के सागर म तरङ्गवत् सभा व्यभिचारी भाव एकीभाव लेकर ही प्रकट होते हैं, अलग सत्ता ही प्रतीतिगम्य नहीं होती।

पहले 'सहानवस्थान' वाले विरोध के स्पष्टीकरण मे विदित होगा कि स्थायी भावो का अन्य भावो से वैसा विरोध असम्भव है, जिसमे दोनो साथ-साथ न रह सकें। रसिक का चित्त जब रत्यादि स्थायी भाव से रञ्जित हो जाता है, तब जो व्यभिचारी उपनिबद्ध किये जाते हैं उनका अविरोध ही रहता है—जैसे माला म सूत्र का कोई विरोध नहीं होता। स्थायी सूत्र तुल्य है, जिसमे पुष्पतुल्य व्यभिचारी भाव पिरोये रहते हैं। यह तथ्य सभी भावको (रसिको) के स्वसंवेदन से प्रमाणित है, स्वसंवेदना सिद्ध है, तदर्थ प्रमाणान्तर का अपेक्षा नहीं है। स्वसंवेदनसिद्धता के समान ही वह स्थायी काव्य-व्यापार के समारम्भ (गुणालंकारादियोजन तथा विभावादियोजना) से अनुकार्य रामादि म सहृदय का अन्त करण तादात्म्य ग्रहण कर लेता है। फलत स्थायी

---

१. यहाँ भवभूति ने एक ऐसी स्मृति का वर्णन किया है जो अनेक जन्मो के स कारो की अविरत परम्परा से कभी उद्बुद्ध होती है, जैसा कालिदास ने कहा है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि ॥

२ अन्त करण के विषयाकार परिणाम को 'वृत्ति' कहते हैं। चेतना उस वृत्ति से तदाकार हो जाती है। सभी जागतिक बोधो में इसे 'वृत्तिसारूप्य' कहा जाता है। इस वृत्तिसारूप्य से मुक्त आत्मा स्वरूपावस्थित होता है—

तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।

चमत्कारी आनन्द संवेदन का कारण बन जाता है। अतः भावों का सहानवस्थान (एक साथ न रहने का विरोध) *हो ही नहीं सकता*।[1]

बाध्य-बाधकभावस्तु

अवलोक—किसी भाव का दूसरे भाव से निरस्करण बाध्य-बाधक भाव है। अविरुद्ध व्यभिचारियों से स्थायी का तिरस्करण असम्भव है, क्योंकि वहाँ अविरुद्ध व्यभिचारी स्थायी के अङ्ग होते है। स्थायी के विरुद्ध होने वाला व्यभिचारी अङ्ग नहीं हो सकता? इसी प्रकार वह आनन्तर्यविरोध भी, जिसमें एक रस के अनन्तर दूसरे रस के उपनिबन्धन मे विरोध बताया जाता है, अपास्त हो जाता है—जैसे, मालतीमाधव मे शृङ्गार के अनन्तर बीभत्स के निबन्धन मे भी कोई विरसता (रसभग) नहीं आती। ऐसी स्थिति में विरुद्ध रसो का स्वालम्बन होना ही विरोध का कारण हो सकता है, परन्तु वहाँ भी (दो विरुद्ध रसों के मध्य) अविरुद्ध रसान्तर के व्यवधान से उपनिबन्धन हो तो विरोध नहीं रहता। उदाहरणार्थ—हे दिव्याङ्गने, अन्य महिलाओं के भी पति हैं। (उन्हें) तीव्र सुगन्धयुक्त परिमल प्रदान करो। मेरे प्रिय का मृत अङ्ग (गृध्र, शृगाल आदि के द्वारा भी) अभक्षित है। *उसकी दुर्गंध नहीं मिट रही है*।[2] (इसे छोड़ दो।)

यहाँ बीभत्स रस के अङ्गभूत रसान्तर के व्यवधान से शृङ्गार रस का समावेश विरुद्ध नहीं रह गया है। जहाँ एक आश्रय मे विरुद्ध रस आते हैं, वहाँ भी प्रकारान्तर से परिहार कर लेना चाहिए।

---

1 आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी आचार्य भावों मे विरोध मान्य करके विरोध निरास पर विस्तृत विचार करते हैं। परन्तु धनंजय स्थायी की परिभाषा ही इस प्रकार करते हैं कि लगता है, विरोध रहता ही *नहीं—अविच्छिन्न* रहने वाला भाव ही स्थायी हो सकता है, इस मान्यता की कारिका मे प्रतिष्ठा दी गयी है। धनिक ने तदनुसार ही विवेचन करना चाहा है। रसरूप एक प्रयोजन के निष्पादक होने पर *विरोधी भावों की साथ साथ स्थिति कभी हुआ करती है*, पर उनका नैसर्गिक विरोध अवश्य रहता है, जुगुप्सा और रति का ऐसा ही विरोध है। परन्तु ये दोनों रस की निष्पत्ति में सहावस्थायी हो सकते हैं जब जुगुप्सा या चुम्बनादि में *तिरोभाव हो जाता है*—यह विरोधपरिहार कविशक्ति की कसौटी है, जिस पर ध्वनिकार ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। इसके विपरीत लक्षण कर देने भर से धनंजय सभी भावों को विरोधमुक्त मान लेते हैं—यहाँ तक कि उनके मत से विरोधहीन भाव ही स्थायी हो सकता है।

२ दूसरे पाठ के अनुसार अर्थ है—अन्य स्त्रियाँ अपने पति के परिमल से सुगन्धित होती हैं। पति के युद्ध के प्रहार के घावों से *निकलती हुई दुर्गंध ही* मेरे पल्ले पड़ी है।

अवलोक—ननु यत्रैकतात्पर्येणेतरेषा—

(धनिक स्वयं ही प्रश्न उठाते हैं—) जहाँ तात्पर्य एक ही रहता है (एक ही मुख्य भाव में शब्दार्थ की तत्परता होती है) वहाँ अन्य भाव चाहे विरुद्ध हो या अविरुद्ध सभी गौण या तिरोभूत रहते हैं। फलतः अङ्गभूत हो जाते हैं (एक ही भाव अंगी रहता है अतः) अविरोध हो सकता है, परन्तु जहाँ अनेक भावों की प्रधानता समान होती है और ऐसा ही उपनिबन्धन काव्य में देखा जाता है, वहाँ अविरोध कैसे सम्भव है? जैसे—

(१) "एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर समर-वाद्य का निर्घोष है। प्रेम और युद्धरस से भट का हृदय दोलायित हो रहा है।" यहाँ रति और उत्साह भावों का प्राधान्य समान है। अथवा जैसे—

(२) "द्वेष छोड़ कर प्रयोजन का विचार करके आर्य लोग मर्यादापूर्वक यह बताएँ कि पर्वतों के नितम्बों का अथवा काम-विलास से स्मयमान विलासिनियों के नितम्बों का सेवन करना चाहिए।" यहाँ रति और शम भावों का प्राधान्य समान है। और जैसे—

(३) "एक ओर तीनों लोकों के सौन्दर्य की एकमात्र आवास भूमि, चपल नेत्रों वाली यह सुन्दरी है, दूसरी ओर यह दुष्टात्मा है, जिसने मेरी बहन का अपमान अपकार किया है, एक ओर तीव्र काम है तो दूसरी ओर यह सारी क्रोधाग्नि है और मैंने यह वेष (कुप्त) बना रखा है—यह कैसे हो, इस विषय में मन भटक रहा है।" यहाँ रति और क्रोध का समान प्राधान्य है। अथवा—

(४) (रणप्राङ्गण में) ये पिशाचियाँ आँतों से मङ्गल-मालाएँ बनाई हुई, रक्त के हस्तरूपी लाल कमल से बनाये हुए कर्णाभरण धारण की हुई, हृदय रूपी कमल की माला पिरोकर पहनी हुई, रुधिरपङ्क के कुङ्कुम लगाई हुई, प्रिय पिशाचों के साथ मिल कर कपालरूपी सुरापात्रों से अस्थि की मज्जा की मदिरा पी रही है।" यहाँ एक ही आश्रय में रति और जुगुप्सा का सम प्राधान्य देखा जाता है।

(५) "एक नेत्र ध्यानमुद्रित होने से मुकुलवत् है। दूसरा पार्वती के मुखकमल तथा स्तन तट पर संलग्न रतिभाव के भार से आलस्ययुक्त है, और अन्य तृतीय नेत्र दूर तक खिंचे धनुष वाले मदन के प्रति क्रोधानल से उद्दीपित है—इस प्रकार समाधिकाल में भिन्न रस वाले शम्भु के तीन नेत्र आप की रक्षा करें।" यहाँ एक ही आश्रय में शम, रति और क्रोध की समान प्रधानता देखी जाती है।

(६) "प्रवृद्ध रोष से युक्त एक नेत्र से (चक्रवाकी) गगनस्थित सूर्यमण्डल को देख रही है, अश्रुजल से तरल द्वितीय नेत्र से अपने प्रिय (चक्रवाक) का अवलोकन कर रही है—दिवस के अवसान में प्रिय विरह की आशङ्का से युक्त चक्रवाकी निपुण नर्तकी (अभिनेत्री) के समान दो भिन्न रसों का प्रदर्शन करती है।" यहाँ शोक और

वीर की समान प्रधानता उपनिबद्ध है । ऐसी स्थितियों में भावों का विरोध कैसे नहीं हो सकता ?

अवलोक—अत्रोच्यते—तत्राप्येक एव स्थायी ।

उक्त प्रश्न का (धनिक के अनुसार) उत्तर इस प्रकार है—उक्त सभी स्थलों में स्थायी एक ही है (क्योंकि धनंजय अविच्छिन्न रहने वाले भाव को ही स्थायी मान कर चले हैं) । विवेचन निम्नलिखित है—

(१) 'एकतो रुअइ पिआ' इत्यादि प्रथम स्थल में उत्साह स्थायी है, जो वितर्क व्यभिचारी के कारण संदेह का कारण है । अतः प्रिया का रुदन और संग्राम-वाद्य का पद्य में ग्रहण है जो वीर रस को ही पुष्ट करता है—'भट' पद से यही तथ्य प्रतिपादित हुआ है । यहाँ रति और उत्साह दो स्थायी भावों की प्रधानता समान मानने पर एकवाक्यता नहीं बन पाती । एक वाक्य में दो भाव तभी आ सकते हैं, जब उनमें से एक उपकार्य हो और दूसरा उसका उपकारक (अङ्ग) हो । और यह अनुचित होगा कि संग्राम चल रहा है और तब सुभट अन्य कार्य करने लगे । अतः यही योग्य है कि पति एकमात्र संग्राम का रसिक है, प्रियतमा का रुदन (रोदन) वीर रस को पुष्ट करता है—पति का शौर्य मुख्य रूप से प्रकाश्य है ।[1]

(२) 'मात्सर्यमुत्सार्य' इत्यादि में भी एकमात्र शम स्थायी भाव की प्रधानता है, विगलित रति-वासना का त्याज्य रूप में ही ग्रहण हुआ है, यह तथ्य 'आर्याः समर्यादम्' से प्रकट किया गया है ।

(३) 'इयं सा लोलाक्षी' इत्यादि रावण सीता के विषय में कहता है । रावण प्रतिनायक निशाचर है, साथ ही मायावी है । यहाँ रौद्र ही प्रधान है—वितर्क रौद्र का व्यभिचारी तथा वितर्क का विभाव (कारण) है और वितर्क व्यभिचारी के कारण रूप में रति और क्रोध का ग्रहण किया गया है (क्योंकि रति और क्रोध में अनिश्चय ही वितर्क है) । अन्त में निशाचर का क्रोध ही प्रधान ठहरता है । फलतः एक ही भाव स्थायी है ।

अवलोक—अन्त्रैः कल्पितमंगलप्रतिसरा —

(४) अन्त्रैः इत्यादि में एकमात्र बीभत्स-रस का तात्पर्य है ।

---

१ ध्वनिमत से इस पद्य में रति और उत्साह भावों की सन्धि मान्य है । सहृदय इस सन्धि के चमत्कार का ही आनन्द लेता है न कि शुद्ध वीर रस का । यह तथ्य 'दोलायितं हृदयम्' से ही स्पष्ट है । 'भट' होने मात्र से कोई प्रिया से विमुख नहीं हो जाता कि उसे 'सांग्रामिकरसिक' कह कर वीर रस को पुष्ट किया जा सके । दोलायित हृदय में एकमात्र उत्साह कैसे रह सकता है ? सांग्रामरसिकता के साथ काम-रसिकता का अङ्गाङ्गिभाव नहीं बन पाता । अतः ध्वनिवादियों ने इसे भावसन्धि का उदाहरण माना है ।

मे हम भी राग स्थायित्व का निषेध करते हैं, क्योंकि राग तो सभी मनोव्यापारों का विकार रूप है अतः उसका अभिनय नही हो सकता।

अवलोक—यत्तुकैश्चित्

कुछ विद्वानो ने नागानन्द आदि नाटको मे शम को स्थायी भाव बताया है, यह विरुद्ध है, क्योकि पूरे प्रबन्ध मे मलयवती का अनुराग व्याप्त है और अन्त मे जीमूतवाहन नायक को विद्याधर चक्रवर्ती पद उपलब्ध होता है। (काम और अर्थ फलो की व्याप्ति है, मोक्ष फल नहीं है कि शम को स्थायी माना जा सके)। एक ही अनुकार्य विभाव के आधार पर विषयो के प्रति अनुराग और विराग नही हो सकते। अतः दयावीर का उत्साह ही वहाँ स्थायी है। शृङ्गार रस उसी उत्साह का अग है, जिसका चक्रवर्तित्व की प्राप्ति के फल से कोई विरोध नहीं। सभी प्रकरणो मे अभीष्ट कार्य का ही समावेश करना चाहिए। इस दृष्टि से जीमूतवाहन परोपकार मे प्रवृत्त है और विजय का इच्छुक है। उसे अवश्यभावी होकर अब काम-रूप फल की प्राप्ति हो जाती है। इस तथ्य पर धीरोदात्त नायक के प्रकरण मे विस्तारपूर्वक चर्चा है।

अतः आठ ही स्थायी भाव होते है।

अवलोक—ननु च

कुछ विद्वानो का मत है—

"रसन या आस्वादन के कारण ही रत्यादि को रस कहा जाता है, जैसे मधुर आदि गुणो को आस्वादन के कारण रस कहते हैं। यह आस्वादन निर्वेदादि मे भी यथार्थ विद्यमान है। अतः वे भी रस हैं।"

इस प्रकार ये मनीषी अन्य रस भी मान्य बनाते हैं, फलतः अन्य स्थायी भावों की भी कल्पना करते हैं। ऐसी स्थिति मे आठ ही (या नौ ही) स्थायी भावों का अवधारणा अनुपपन्न हो जाती है।

नान्दी टीका

भरत ने भी कहा है कि नाट्य मे आठ ही रस माने है।[1] इस वक्तव्य से यह प्रतीत होता है कि नाट्येतर साहित्य मे आठ से अधिक रस की सम्भावना वे भी मानते हैं।

नवम है शान्त-रस। रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ आदि जैसे महान् आचार्यों की यह मान्यता है।

शान्त-रस का क्या नाट्येतर साहित्य तक ही सीमित किया जाय? इस सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त का स्पष्ट मत है कि नाट्य साहित्य मे शान्त रस विरल है किन्तु होता अवश्य है।[2] पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर मे शान्तरस का सर्वथा नाट्यानुकूल बताया है।[3]

---

1 अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। ६.१५

2 इत्याद्य-तरङ्गदर्शनम् के पृष्ठ १०३ पर अभिनवगुप्त का मत उद्धृत है।

3 प्रथम आनन मे।

अत्रोच्यते—

३६ निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥ ३६

(अताद्रूप्यात्=) विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्, अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति । न च निष्फलावसानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनम्, हासादीनामप्यस्थायित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात् अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति किन्तु विरुद्धैर्भावैरतिरस्कृतत्वम् । न च तन्निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः, ततो रसत्वमपि न तेषामुच्यते अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता ।

कः पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्धः ? न तावद्वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदितत्वात् । नहि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते येन तेषां तत्परिपोषस्य वाभिधेयत्वं स्यात् । यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्वमात्रेण ।

नापि लक्ष्यलक्षकभावः तत् सामान्याभिधायिनस्तु—लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । यथा गङ्गायां घोषः इत्यादौ तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासम्भवात्स्वार्थं स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थाविनाभूतार्थलक्षणं क्षयति । अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः ? को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत ? 'सिंहो माणवकः' इत्यादिवत् । अतएव गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः ।

यदि वाच्यत्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात्तदा कवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेतसामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत् । न च काल्पनिकत्वम् अविगानेन सर्वसहृदयानां रसास्वादोद्भूतेः । अतः केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्तं व्यञ्जकत्वलक्षणं शब्दव्यापारं रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति ।

तथा हि विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात् । यथा कुमारसम्भवे—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥' ३८

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववद् गिरिजालक्षणविभावोपवर्ण-

नादेवाशाब्द्यपि शृङ्गारप्रतीतिरुदेति, रसान्तरेष्वप्ययमेव न्याय:, न केवलं रसेष्वेव यावद्वस्तुमात्रेऽपि ।

यथा—'भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥' गाथा सप्तशती २७५

('भ्रम धार्मिक विश्रब्ध: स श्वाद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥')

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशाब्द्यपि व्यञ्जकशक्तिमूलैव ।

तथालङ्कारेष्वपि—

'लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधि: ॥'

इत्यादिषु 'चन्द्रतुल्यं तन्वीवदनारविन्दम्' इत्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिर्व्यञ्जकशब्दनिबन्धनीनि । न चासावर्थापत्तिजन्या-अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात् । नापि वाक्यार्थत्वं व्यङ्ग्यस्य—तृतीयकक्ष्याविषयत्वात् । तथा हि—'भ्रम धार्मिक' इत्यादौ पदार्थविषयाभिधालक्षणप्रथमकक्ष्यातिक्रान्तक्रियाकारकसंसर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्ष्यातिक्रान्ततृतीयकक्ष्याक्रान्तो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकशक्त्यधीन: स्फुटमेवावभासते । अतो नासौ वाक्यार्थ: ।

ननु च तृतीयकक्ष्याविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थतात्पर्येषु 'विषं भुंक्ष्व' इत्यादिवाक्येषु निषेधार्थविषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थस्य । न चात्र व्यञ्जकत्वगादिनापि वाक्यार्थत्वं नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद् ध्वने: । तन्न, स्वार्थस्य द्वितीयकक्ष्यायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्ष्याभावात्, सैव निषेधकक्ष्या । तत्र द्वितीयकक्ष्याविधौ क्रियाकारकसंसर्गानुपपत्ते: प्रकरणात्पितरि वक्तरि पुत्रस्य विषभक्षणनियोगाभावात् ।

रसवद्वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्ष्याया रसानवगमात् ।

तदुक्तम्—'अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम् ।
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परतास्य सा ॥
यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावतागतम् ।
तत्प्रसर्पति तत्र स्यात्सर्वत्र ध्वनिना स्थिति: ॥'

इत्येवं सर्वत्र रसानां व्यङ्ग्यत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु क्वचिद्वाच्यत्वं क्वचिद्व्यङ्ग्यत्वं, तत्रापि यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रैव ध्वनि: अन्यत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

और तब स्थायी की परिभाषा इन पर भी लागू न होगी। निर्वेद आदि भी साक्षात् फलसहित न होकर भी, परम्परा से फलसहित होते ही हैं। अत अस्थायी होने में निष्फलत्व (तथा स्थायी होने में सफलत्व) को प्रयोजक (हेतु) नहीं माना जा सकता। वस्तुत विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से तिरोहित न होना ही स्थायित्व का लक्षण है। निर्वेदादि व्यभिचारियों में वह लक्षण नही लगता। अतएव वे रसरूपी में आस्वाद्य नहीं कहे जाते—अस्थायी होने के कारण रस रस रूपी में आस्वाद्य नहीं है।

काव्यार्थसम्बन्ध-विवेकः

अवलोक—क पुनरेतेषां काव्येनापि सम्बन्ध[1] —

इन भावों का काव्य से क्या सम्बन्ध है? वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता—भावों को वाच्य (अभिधेय) और काव्यशब्द का वाचक (अभिधायक) मानकर अभिधावृत्ति द्वारा भावों को बोध्य नहीं कहा जा सकता। रति आदि स्ववाचक शब्दों से भावों का प्रतिपत्ति नहीं होती। शृङ्गारादि रसों से युक्त काव्य में शृङ्गारादि या रत्यादि शब्द नहीं सुने जाते कि उन भावों की अथवा भावपरिपोषात्मक रसों की अभिधेयता हो सके। जहाँ कहीं स्वशब्द से भावों का अभिधान होता भी है, वहाँ भी विभावादि द्वारा ही उनकी रसरूपता पायी जाती है, स्वशब्द से वाच्य होने मात्र से रसत्व नहीं होता।[2]

लक्षितलक्षणा से भी रसादि की प्रतीति नहीं हो सकती। जैसे, 'गङ्गायां घोष' इत्यादि स्थलों में प्रवाहरूप स्वार्थ अभिधेय है, जिस पर घोष का होना असम्भव है।

---

1. दशरूपककार तात्पर्यवादी भट्ट मीमांसक है, व्यञ्जनावादी नहीं। अतएव वे काव्य और भावों के सम्बन्ध पर विचार करते हुए व्यञ्जना का खण्डन ही करते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में पहले व्यञ्जना की स्थापना की गयी है और ३७ वी कारिका द्वारा उस का खण्डन प्रस्तुत है। व्यञ्जनास्थापन करने वाली धनिक की टीका उस कारिका की अवतरणिका टीका है।

2. अभिधा वृत्ति से भावों की रसात्मक प्रतीति असम्भव है। यह सिद्ध हो जाने पर विचारणीय है कि क्या लक्षणा वृत्ति से वैसा सम्भव है? क्या काव्य और भाव का लक्ष्य-लक्षकभाव सम्बन्ध हो सकता है? लक्ष्यलक्षकभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि भावसामान्य के अभिधायक लक्षक पद का काव्य में प्रयोग नहीं देखा जाता। सामान्य अर्थ में अभिधा के बाद विशेष अर्थ में लक्षणा का उदाहरण है 'कदली कदली करभ करभ'। इसमें सामान्य कदलीवृक्ष के अर्थ में अभिधा है जिसमें 'अहरहर्वर्धिष्णु कदली' अर्थ में लक्षणा देखी जाती है। लक्ष्य-लक्षक भाव भी नहीं होता, क्योंकि सामान्य के द्वारा प्रस्तुत लक्षक पद का प्रयोग नहीं होता।

अत वाच्यार्थ मे गङ्गाशब्द की वाच्यार्थगति स्खलित होती है और तब स्वार्थ या वाच्यार्थ (प्रवाह) मे नियतसम्बद्ध (अविनाभूत) तट मे लक्षणा देखी जाती है। रसादि स्थलो मे नायकादि शब्दो की स्वार्थ मे गति स्खलित नहीं होती—मुख्यार्थबाध नहीं होता, तब अर्थान्तर मे लक्षणा कैसे हो सकती है ? कारण और प्रयोजन के बिना, मुख्य अर्थ के रहते हुए, उपचरित या लाक्षणिक अर्थ का कौन प्रयोग करेगा ?—मुख्यार्थ बाध कारण है और शैत्यादि की प्रतिपत्ति प्रयोजन है, जो 'गङ्गायां घोष' मे द्रष्टव्य है। अतएव 'सिंहो माणवक' इत्यादि के समान गौणी लक्षणा से भी रसप्रतीति नही हो सकती—क्योकि वैसे स्थलो मे भी मुख्यार्थबाध कारण विद्यमान है और शौर्यादि की सूचना प्रयोजन है, जब कि रसस्थल मे वैसा कुछ भी नही पाया जाता।[१]

यदि भाव के वाच्य होने से ही रसनिष्पत्ति होती तो केवल वाच्यवाचकभाव मे जिनकी मेधा प्रबल है, उन अरसिक जनो को भी रसास्वाद हो सकता (जब वैसा नही होता तब स्पष्ट ही अभिधा और लक्षणा से भिन्न शब्द वृत्ति की खोज होनी चाहिए)। यह भी नही कह सकते कि रसनिष्पत्ति मिथ्या कल्पना की प्रसूति है, क्योंकि अनिन्द्य होने के साथ-साथ सभी सहृदयो के द्वारा आस्वादनीय रस वास्तविक है। ऐसी स्थिति मे वाच्य की सीमा मान कर कल्पित की हुई अभिधा, लक्षणा और गौणी वृत्तियों से पृथक् व्यञ्जकत्वरूप (व्यञ्जना) शब्द व्यापार को कुछ विचारक (ध्वनिवादी) मानते हैं और उसके तीन विषय स्वीकार करते हैं—रस अलकार और वस्तु।

(१) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के द्वारा होने वाली रसादि की प्रतिपत्ति वाच्य कैसे हो सकती है ? कुमारसम्भव में उदाहरण द्रष्टव्य है

"(काम के प्रभाव से जिस समय शिव किंचिद् शृंगाराविष्ट हुए, उस समय) पार्वती भी कुछ कम्पयुक्त नवकदम्ब के समान अगो से और तिरछे नेत्रो से युक्त मुख से प्रथम रागविकार (भाव) प्रकट करती हुई तिरछी खडी हुई।"

इस प्रकार के स्थलो मे अनुरागजन्य अवस्था विशेषरूप अनुभावो से युक्त

---

१ धनिक ने 'गङ्गायां घोष' मे लक्षितलक्षणा बता कर चिन्तनीय स्थिति पैदा कर दी है। जहाँ एक लक्षणा से दूसरी लक्षणा होती है, वहाँ लक्षित-लक्षणा मानी जाती है। ऐसा वहाँ होता है जहाँ एक शब्द अन्य शब्द को लक्षित करता है और उस अन्य शब्द से तीसरी कक्षा मे लक्ष्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है। 'द्विरेफ शब्द इसका उदाहरण लिया जाता है—इस शब्द से दो रकारो वाला 'भ्रमर' शब्द लक्षित होता है और फिर उससे अर्थबोध होता है। धनिक कदाचित् समझते हैं कि गगापद प्रवाह अर्थ को लक्षित करता है और उससे तट अर्थ मे लक्षणा होती है। परन्तु यह ठीक नहीं है। 'प्रवाह' अर्थ वाच्य है, उसके लक्षित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

पार्वतीरूप विभाव के वर्णन से ही अशाब्दी[1] होकर भी शृंगार रस की प्रतीति उदय होती है। ऐसा ही अन्य रसों में भी देखा जाता है और केवल रसो मे ही नहीं, वस्तु मात्र में भी यही पाया जाता है, उदाहरणार्थ—

"हे धार्मिक, आश्वस्त भाव से भ्रमण करो, आज वह कुत्ता उस सिंह द्वारा मार डाला गया, जो गोदावरी के तटवर्ती कुञ्ज में रहा करता था।"

इत्यादि में भ्रमण रूप विधि से जहाँ अभ्रमणरूप निषेध की प्रतीति होती है, वहाँ भी वह प्रतीति 'अशाब्द' है। अत. व्यञ्जकत्वशक्तिमूलक ही है। यही स्थिति अलकार-स्थलो में भी देख सकते हैं। यथा,

"हे तरल-दीर्घ लोचनो वाली सुन्दरि, जब यह तुम्हारा स्मितशील मुख अपने लावण्य की कान्ति (ज्योत्स्ना) से सभी दिशाओं म व्याप्त है, तब भी यह सागर जरा भी नहीं बढ़ता अत मैं समझता हूँ कि स्पष्ट ही यह जलराशि (जडराशि) है।"

ऐसे स्थलो मे प्रतीति होती है कि सुन्दरी का मुखकमल चन्द्रसदृश है, यह उपमादि अलकार की प्रतीति है और उसका कारण व्यञ्जकत्व है।

यह अलकारप्रतीति अर्थापत्ति प्रमाण से उत्पन्न नहीं है, क्योंकि अनुपपन्न अर्थ की यहाँ अपेक्षा ही नहीं है। (जिससे अर्थापत्ति हो सके)।[2] तृतीय कक्षा का विषय होने से यह वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) भी नहीं कहा जा सकता (—क्योंकि वाच्यार्थ प्रथम अर्थ-*कक्षा है, वाक्यार्थ या तात्पर्य द्वितीय कक्षा है और तात्पर्य जान लेने पर तृतीय कक्षा में* उपमा अलकार की प्रतिपत्ति होती है)।[1] (इसी प्रकार) 'भ्रम धार्मिक' जैसे स्थलों म

१. व्यञ्जना के प्रस्ताव मे रसादि की प्रतीति 'अवाच्य' होती है 'अशाब्दी' नहीं क्योंकि व्यञ्जना नामक शब्द वृत्ति से ही प्रतिपाद्य होने से वह शाब्दी प्रतीति है। अनुमान प्रमाण से वैसे अर्थों की निष्पत्ति मानने वाले नैयायिक भले ही उसे 'अशाब्द' कहते हैं तात्पर्यवादी मीमांसक भी 'अशाब्द' नहीं कह सकता अत 'अवाच्य' होना चाहिए।

२. अन्यथानुपपत्ति को अर्थापत्ति कहते हैं। मीमांसा और वेदान्त मे यह एक प्रमाण जैसे, "मोटा देवदत्त दिन मे नहीं खाता" इस स्थल मे रात्रि-भोजन अर्थापत्ति प्रमाण से आता है, क्योंकि अन्य प्रकार से मोटा होने की उपपत्ति नहीं है। इसे समझने के लिए धान्यपुआलन्याय को भी लिया जाता है—पुआल के बिना धान उत्पन्न नहीं हो सकते। अत धान की उत्पत्ति से पुआल की उत्पत्ति का अर्थापत्ति से ज्ञान हो जाता है। यही अविनाभाव सम्बन्ध है—बिना भोजन के मोटापा असम्भव है और दिन मे भोजन नहीं करता तो रात्रिभोजी होना अविनाभूत है। भाट्ट मीमांसा में प्रत्येक पद का अर्थ, जो अभिधाजनित बोध का विषय होता है, वाच्य है। वाक्यार्थ उन वाच्यार्थों के सम्बन्ध से बनता है। इस सम्बन्ध का बोध कराने वाली वाक्यवृत्ति का नाम तात्पर्यवृत्ति है। अत वाक्यार्थ तात्पर्यार्थ कहा जाता है। व्यङ्ग्यार्थ उस तात्पर्यार्थ के अनन्तर बोध मे आता है।

अभिधा रूप शक्ति का विषय पदों का अर्थ है, जो पहली कक्षा है। फिर उस कक्षा का अतिक्रमण करके वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ की दूसरी कक्षा आती है, जो क्रिया कारक सम्बन्धरूप विधि विषयक अर्थ देती है (कि धार्मिक या नदी के किनारे घूमने में कुत्ते की बाधा नहीं है। अतः वह घूमता रहे)। इस दूसरी कक्षा का भी अतिक्रमण कर निषेध-रूप व्यङ्ग्य अर्थ की तीसरी कक्षा बनती है (कि पण्डित जी यहाँ न घूमें, सिंह आपको भी मार डालेगा)। व्यङ्ग्य अर्थ व्यंजना शक्ति[1] (वृत्ति) के अधीन है, यह स्पष्ट ही भासित हो रहा है। अतः व्यङ्ग्यार्थ को वाक्यार्थ नहीं कहा जा सकता।

अब मीमांसासंमत तात्पर्यार्थ का एक अन्य उदाहरण लिया जाय—पिता पुत्र से कहता है "विषं भुङ्क्ष्व, मा चास्य गृहे भुङ्क्था (विष खा लेना, इसके घर में न खाना)।" यहाँ वाक्यार्थ का विषय निषेधरूप अर्थ है। अभिप्राय यह है कि उसके घर में खाना विष खाने से भी अधिक भयावह है। मीमांसामत से यह अभिप्राय तात्पर्यार्थ ही है, यद्यपि तृतीय कक्षा में आता है (वाच्यार्थ और उनके सम्बन्धरूप वाक्यार्थ के अनन्तर—दो कक्षाओं के अनन्तर—यह अभिप्राय आता है)। यहाँ अभिप्रायरूप, वाक्यार्थ अध्याहार आदि से नहीं आ सकता, क्योंकि ध्वनि या व्यञ्जना तात्पर्यवृत्ति से भिन्न है। (इस तर्क पर ध्वनिवादी कहता है—) वाक्यार्थ (स्वार्थ) जब द्वितीय कक्षा में विश्रान्त या पूर्ण नहीं हुआ तो पिता के अभिप्राय वाली कक्षा तृतीय नहीं है, दूसरी में ही अभिप्राय भी समाविष्ट है। क्योंकि पिता वक्ता है और वह पुत्र को विषभक्षण की आज्ञा नहीं दे सकता। अतः प्रकरणवश अभिप्राय लेकर ही द्वितीय कक्षा पूरी होती है। द्वितीय कक्षा में 'विषभक्षण' की विधि है जिसमें क्रियाकारक सम्बन्ध ही अनुपपन्न है। अतः तात्पर्य ही निषेधपर्यवसायी है।

(उक्त तथ्य के विपरीत) रसात्मक वाक्यों में विभाव प्रतीतिरूप द्वितीय कक्षा में रस-प्रतीति नहीं होती। अतः कहा गया है —

"कोई वाक्य जब तक अपने अन्वित अर्थ (वाक्यार्थ) में प्रतिष्ठा या पूर्ति नहीं पाता, तब तक साकाङ्क्ष रहने के कारण अविश्रान्त या अनुपपन्न रहता है—अन्वय-रहित वाच्य पदार्थों की भिन्नता रहती है—उस दशा में अन्वययुक्त उस स्वार्थ (वाक्यार्थ) में उस वाक्य का तात्पर्य (अन्वयवृत्ति) उचित है। परन्तु जब वही वाक्य अन्वित अर्थ में पूर्णता और प्रतिष्ठा पा लेता है, तब वैसे रसादि स्थलों में तृतीय कक्षा का अर्थ चमकता है और वहाँ ध्वनि की स्थिति होती है—व्यञ्जनावृत्ति कार्य करती है।"

इस प्रकार सर्वत्र रसों की व्यङ्ग्यता ही होती है—प्रथम कक्षा में अलग-अलग पदार्थों की वाच्यदशा, द्वितीय में उनका अन्वय (तात्पर्यार्थ) और तदनन्तर तृतीय कक्षा में रस ध्वनि मान्य है। वस्तु और अलंकार कहीं वाच्य और कहीं व्यङ्ग्यरूप में देखे जाते

1 ध्वनिक वृत्तिपर्याय मान कर 'शक्ति' का प्रयोग करते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से व्यञ्जना शब्द-वृत्ति तो है, पर शब्द-शक्ति नहीं—'शक्ति' और 'अभिधा' शब्द पर्याय हैं।

हैं तथा जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानरूप से प्रतीति होती है, वही ध्वनि (उत्तम काव्य) होता है, प्रधानता के अभाव वाले स्थलों में गुणीभूत व्यङ्ग्य (मध्यम काव्य) रहता है। अतः आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

"जहाँ अपने अर्थ को गुणीभूत करके अर्थ अथवा शब्द उस व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करते हैं, वह काव्यविशेष मनीषियों द्वारा 'ध्वनि' कहा जाता है।"

"परन्तु जहाँ अन्य वाक्यार्थ की प्रधानता होती है और रसादि व्यङ्ग्य अंग (गौण) रहते हैं, उस काव्य में रसादि अलकार हो जाते हैं—ऐसा मेरा मत है।"

जैसे—

> उपोढरागेण विलोलतारकं
> तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
> यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया
> पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

अर्थात् राग (लाली तथा प्रेम) से युक्त चन्द्रमा ने चञ्चल तारकों (नक्षत्रों तथा कनीनिकाओं) वाले रात्रि के मुख (सन्ध्या काल तथा वदन) को इस प्रकार ग्रहण किया कि उस (रात्रि-सुन्दरी) का सारा तिमिररूपी वस्त्र रागवश पहले ही खिसक गया और वह उसे लक्षित न कर सकी।[1]

उस ध्वनि के विवक्षित वाच्य और अविवक्षित वाच्य दो भेद हैं। अविवक्षित वाच्य दो प्रकार का होता है—अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य और अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य। विवक्षित वाच्य के भी दो प्रकार हैं—असंलक्ष्य क्रम तथा क्रमद्योत्य (लक्ष्यक्रम)। इन भेदों में रसादि असंलक्ष्यक्रम ध्वनि है, जब व्यङ्ग्य की प्रधान प्रतिपत्ति होती हो, अन्यथा अङ्ग या गौण रूप से रसादि की प्रतीति में रसवत् अलंकार होता है।

नान्दी टीका

यहाँ तक धनिक ने ध्वनिमत की स्थापना की है अब आगे उसका खण्डन कर के तात्पर्यमत की स्थापना करेंगे।

अत्रोच्यते—

> **३७. वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।**
> **वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः॥ ३७**

---

१. ध्वन्यालोक १।१३ पर समासोक्ति का यह उदाहरण है। यहाँ स्त्री-पुरुष के काम व्यापार की व्यञ्जना प्रधान नहीं है, प्रत्युत सन्ध्या का वाच्य अर्थ ही प्रधान है, जिसमें व्यङ्ग्यार्थ गौण होकर अङ्ग बन गया है, अतः शृङ्गार रस अलंकार बन गया है।

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज' इत्यादिषु अश्रूयमाण-क्रियेषु च— द्वारं द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात्प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता काव्येष्वपि क्वचित् स्वशब्दोपादानात् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ, क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्य-विनाभावाद्वा साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादि स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थः ।

न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्–कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः । तथा हि पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम् अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत् । काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वाद-व्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमित्तत्वं च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः । तदेतत्काव्य-वाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ ।

न चैवं सति गीतादिवत्सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोग विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वानन्दोद्भूतेः, तदनेनातिप्रसङ्गोऽपि निरस्तः ।

ईदृशे च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्त-वाक्यार्थावगतेः शक्त्यन्तरपरिकल्पनं प्रयासः । यथावोचाम काव्यनिर्णये—

'तात्पर्यान्तरिते वाक्ये व्यञ्जकत्वं न च ध्वनिः ।
विमुखं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ १
विषं भक्षय पूर्वोऽयं समो तत्परतादिषु ।
प्रसज्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते ॥ २
ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम् ।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्न विश्रान्त्यसम्भवात् ॥ ३
एतावतैव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किंकृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥ ४
भ्रम धार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम् ।
निर्व्यापृति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ॥ ५
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि ।

पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमत काव्यस्य युज्यते ॥ ७ इति ।

अतो न रसादीना काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव । किं तर्हि ? भाव्य भावकसम्बन्ध । काव्यं हि भावक, भाव्या रसादय । ते हि स्वतोऽभवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते ।

न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम् भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकृतत्वात् । किञ्च मा चान्यत्र तथास्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथावगमात् । तदुक्तम्—

'भावाभिनयसम्पन्नान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाटययोक्तृभि ॥'

ना० शा० ६ ३४

कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्य शब्देभ्य स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् ? लोके तथाविधचेष्टायुवस्त्रीपुसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तयोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतिपत्ति । यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्व तथाग्रे वक्ष्याम ।

ध्वनिमत की पूर्वोक्त स्थापना का खण्डन करते हुए धनजय कहते हैं—

३७ जिस प्रकार वाक्य क्रिया कारकों से युक्त होकर अथवा प्रकरणादि से बुद्धिस्थ रह कर भी कारकयुक्त होकर वाक्यार्थ बनती है उसी प्रकार स्थायी भाव विभावादि से युक्त होकर (वाच्य बुद्धिस्थ रूप मे) रस बनता है[1] ॥ ३७

अवलोक—यथालौकिकवाक्येषु—

जैसे, कभी ऐसे लौकिक वाक्य होते हैं जिनमे क्रिया श्रूयमाण (वाच्य रूप में

---

1. वाक्य की दो स्थितियाँ देखी जाती हैं—एक वह जिसमे क्रिया और कारक दोनो उपस्थित रहते हैं जैसे 'जल देहि' । दूसरी स्थिति वह हो सकती है जिसमे क्रिया अनुक्त हो और प्रकरणवश उसे बुद्धि में लाकर वाक्यार्थबोध हो, जैसे 'जलम्' कहने पर प्रकरणवश देहि' क्रिया बुद्धिस्थ होकर वाक्यार्थ पूरा करती है । उसी प्रकार स्थायी भाव भी कहीं वाच्य हो सकता है—जैसे 'दुष्यन्तस्य शकुन्तलाया रति ' यहाँ तो 'रति' स्थायी वाच्य है, पर तु एक स्थिति ऐसी हो सकती है, जब स्थायी बुद्धिस्थ रह कर वाक्यार्थ पूरा करे—जैसे, 'दुष्यन्त शकुन्तलामनिमेष पश्यति ।' यहाँ रति बुद्धिस्थ है और तात्पर्यवृत्ति से आकर वाक्यार्थ पूर्ण करती है ।

धनजय दोनों स्थितियो में अन्तर नहीं कर पाते । वे मानते हैं कि वाच्य रति और बुद्धिस्थ रति दोनों से शृगार की निष्पत्ति होती है, जब कि ध्वनिमत अनुभावो से व्यक्त बुद्धिस्थ रति मे ही रस मानता है ।

प्रयुक्त) होती है—'गामभ्याज' (गाय ले जाओ) ऐसा ही वाक्य है और कभी ऐसे वाक्य भी प्रयुक्त होते हैं, जिनमे क्रिया अश्रूयमाण रहती है—'द्वारं द्वारम्' ऐसा ही वाक्य है, जिसमे 'पिधेहि' (बन्द करो) क्रिया उच्चारित नही है। अत कही स्वशब्द (क्रिया पद) का उपादान है, परन्तु कही उपादान न होने पर प्रकरणादि बल से स्वत बुद्धि मे स्फुरित होकर क्रिया ही कारक से युक्त होकर वाक्यार्थ बनाती है। इसी प्रकार काव्यो मे भी होता है कि कही रत्यादि स्थायी भाव का स्वशब्द मे उपादान (ग्रहण) होता है। जैसे,

'प्रीत्यै नवोढा प्रिया'

(नवोढाहा प्रेयसी प्रीतिदात्री होती है)

इस वाक्य मे प्रीति शब्द रतिपर्याय होकर कथित है और रसप्रतीति होती है, जबकि दूसरे स्थल ऐसे हो सकते हैं, जिनमे कही प्रकरणादिवश मे और कही नियताभिहित विभावादि के अविनाभाव मे रसिक के चित्त मे साक्षात् रस रूप परिणाम लेता हुआ रत्यादि स्थायी भाव शब्दो से लाये हुए विभावानुभावव्यभिचारिभावो से सहृदय के संस्कारवश (वासना द्वारा) परम प्रौढता (उत्कर्ष) को प्राप्त करता हुआ वाक्यार्थ बनता है।[१]

नान्दी टीका

वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ से अभिप्राय है वह अर्थ जो व्यञ्जना की अपेक्षा नही रखता अपितु क्रिया कारक-सम्बन्ध रूप तात्पर्य वृत्ति से आता है। धनिक कहना चाहते हैं कि रस व्यङ्ग्यार्थ न होकर वाक्यार्थ है—तात्पर्य बोधित अर्थ है। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि कुमारिल मीमासा की तात्पर्य-वृत्ति क्रिया-कारक-सम्बन्ध रूप अन्वय मात्र का बोध कराती है, जिससे वाक्यार्थ बोध होता है, परन्तु उसी तात्पर्य-वृत्ति से रसरूप अर्थ का बोध सुकर मानने वाले धनिक उसे व्यञ्जना का स्थानापन्न मान कर चलते हैं। जब व्यञ्जना का कार्यभार तात्पर्य वृत्ति ले लेती है, तब नाम मात्र का विवाद बचता है, क्योंकि जो कार्य व्यञ्जना का है, वही तात्पर्य का मान लेने पर उतने ही भेदोपभेद भी करने होंगे, परन्तु वैसा कुछ न करके तात्पर्यवादी आचार्य एक ओर कुमारिलमत का उल्लङ्घन करते हैं तो दूसरी ओर ध्वनिमत के प्रति अपनी असहमति प्रकट करते हैं।

---

१. अविनाभाव नियत सम्बन्ध को कहते हैं—धान्य और पुआल मे ऐसा ही सम्बन्ध है। धान्योत्पादन कहने पर अर्थापत्ति से पुआल का उत्पादन स्वत ज्ञात होता है। इसी प्रकार विभावादि और रत्यादि में अविनाभाव है। जब विभावादि नियत होने से उक्त होते हैं, तब रत्यादि की प्रतीति स्वत. हो जाती है और वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ बन जाता है।

अवलोक—न च अपदार्थस्य वाक्यार्थत्व नास्तीति वाच्यम्

(धनिक व्यजनावादी की ओर से प्रश्न उठाते हैं—) तात्पर्य वृत्ति (जिसे धनिक शक्ति कह रहे है) कार्यपर्यवसाना है—पदार्थों का अन्वयन करके पदार्थ सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ देकर विरत हो जाती है, यही कार्य का अन्त हो जाना है। इसके विपरीत रत्यादि जब पदार्थ (पदबोध्य अर्थ) ही नहीं है, तब वे वाक्यार्थ कैसे हो सकते हैं। इसका उत्तर इस प्रकार है। चाहे पौरुषेय लौकिक वाक्य हो या अपौरुषेय वैदिक वाक्य, सभी का परम प्रयोजन कार्य होता है। यदि वाक्य की कार्यपरता न हो तो उन्मत्त-प्रलाप के समान वह अग्राह्य हो जायगा। काव्य शब्दों का कार्य (प्रयोजन) आत्मानन्द (रस) की प्रतीति ही है, अन्य कोई प्रयोजन ज्ञात नहीं होता—जहाँ काव्य है, वहाँ रस है, रसाभाव में काव्याभाव है, यही अन्वयव्यतिरेक है, जिससे अनुमित होता है कि प्रतिपाद्य (अर्थ) और प्रतिपादक (काव्य शब्द) सहृदय की प्रवृत्ति के विषय हैं तथा एकमात्र निरतिशय सुखास्वाद (रसास्वाद) के अतिरिक्त उनका कोई अन्य प्रयोजन नहीं। आनन्द की उद्भूति (प्रतीतियोग्यता) का कारण विभावादि सामग्री से युक्त स्थायी भाव ही जाना जाता है। अतः वाक्य की अभिधान शक्ति रस से आकृष्ट होती हुई, रसपर्यवसान प्राप्त करती है, जिसका कारण रसरूप अर्थ के लिए अपेक्षित विभावादि का प्रतिपादन है। ऐसी स्थिति में विभावादि पदार्थ के स्थान पर हैं जिनसे सम्बद्ध रत्यादि भाव वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) बनता है। इस प्रकार जिस रस का काव्य वाक्य होता है, उसी के पदार्थ रूप विभावादि और वाक्यार्थ रूप स्थायी भाव हैं।

नान्दी टीका

मीमांसा दर्शन का यह सिद्धान्त है कि 'सर्वं वाक्यं कार्यपरम्' (सम्पूर्ण वाक्य में कोई-न कोई कार्य प्रधान होता है)। इसके अनुसार रसात्मक वाक्य का कार्य या प्रयोजन रस ही होना है, विभावादि योजना वाच्य होकर भी पदों का कार्य करती है—पदस्थानीय होती है और स्थायी वाक्यस्थानीय होता है—वाक्य का कार्य करता है और रस वाक्यार्थ बन जाता है। धनंजय की कारिका और धनिक का अवलोक यही स्पष्ट करते हैं। परन्तु इस प्रकार पद और वाक्य के स्थान पर वाच्यरूप विभावादि तथा अवाच्यरूप स्थायी भाव को मानने की व्यवस्था मूल तात्पर्य सिद्धान्त में नहीं है। एतदर्थ यह मान कर चलना पड़ता है कि अनुक्त स्थायी का अध्याहार कर लिया जाता है जबकि अध्याहार पदार्थ का होता है, पूरा वाक्य (वाक्यस्थानीय स्थायी भाव) यहाँ अध्याहरणीय बनाया गया है, जो भ्रान्ति प्रतीत होती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अरसिक वाक्यार्थ समझ कर भी रसास्वादन नहीं कर पाते। इसका कोई समाधान नहीं किया गया है। तात्पर्यार्थ उच्चरित या अध्याहृत पद-पदार्थ से वस्तुतः है, जबकि रस वाक्य में स्थायी सर्वदा अनुच्चरित रहता है।

धनिक का स्पष्टीकरण है—

अवलोक—न चैवं सति गीतादिवत् सुखजनकत्वेऽपि

ध्वनिवादी का प्रश्न है कि जैसे, सुखजनक होते हुए भी गीतादि में वाच्य (अर्थ) और वाचक (पद) के सम्बन्ध का कोई उपयोग नहीं होता, उसी प्रकार रसस्थल में भी वाच्यवाचकभाव का क्या उपयोग रह जाता है ? (जैसे, संगीत में पदस्थानीय षड्जादि *स्वर है और वाक्यस्थानीय रागयोजना होती है, उससे सहृदय सुख प्राप्त करता है,* पद या वाक्य भी वहाँ अनावश्यक होते हैं, उसी प्रकार काव्य में भी क्यों न माना जाय, जहाँ पद का कार्य विभावादि और वाक्य का कार्य स्थायी करते हैं ?)

इसका उत्तर यह है—विशिष्ट विभावादि की सामग्री जानने वाले और वाक्य-स्थानीय रत्यादि की भावना (वासना) से सम्पन्न जनों का ही रसरूप स्वानन्द की की उद्भूति होती है। अतः वाच्यवाचकभाव का उपयोग तो है ही। अरसिकों को रसोद्भूति नहीं होती, क्योंकि उनमें स्थायी वासना नहीं होती। अतः कोई अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति) नहीं है। आशय यह है कि जो अरसिक है, उन्हें उच्चारित पद-वाक्य के अर्थ की ही अवगति होती है, जबकि रसिक जन वाक्य का रस-तात्पर्य ग्रहण करते हैं।

अवलोक ईदृशे च वाक्यार्थनिरूपणे—

उक्त रीति से वाक्यार्थ निरूपण करने में पूर्वकल्पित (प्रसिद्ध) अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्तियों से ही सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। अन्य शक्ति (व्यंजना) की कल्पना व्यर्थ प्रयासमात्र है। इस तथ्य को हमने (धनिक ने) काव्यनिर्णय नामक (अपने ग्रन्थ में) स्पष्ट किया है —

(१) जिसे व्यंजनावादी व्यङ्ग्यार्थ कहता है, वह तात्पर्यार्थ से भिन्न नहीं है। अतः ध्वनिकाव्य नहीं होता कि व्यंजना वृत्ति आवश्यक हो। वाक्य से जो अर्थ निकलता है, वह तात्पर्य की परिधि के भीतर ही है।

(२) किमुक्तम्·········त्वविश्रान्तौ—ध्वनिवादी की विप्रतिपत्ति है—अन्योक्ति *वाक्य में तात्पर्य वृत्ति से कैसे काम चलेगा ? वहाँ तात्पर्यार्थ अनुच्चारित या अभूत रहता* है ॥१॥ 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था' (विष खा लेना (पर) इसके घर में न खाना) जैसे वाक्य का अर्थ होता है 'विष भोजन से भी बुरा इसके घर में भोजन है' जो मूल अर्थ से असंगत है। अतः दूसरे अर्थ का ध्वनित्व कैसे निरस्त किया जा सकता है?॥२॥ ध्वनि और तात्पर्य का अन्तर भी स्पष्ट है—जहाँ वाक्य अपने अर्थ में विश्राम या पर्यवसान ले चुकता है और फिर अर्थान्तर देता है—वाक्यार्थ पूर्णता पा लेता है, तदनन्तर अन्य अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, वहाँ ध्वनि का क्षेत्र है। इसके विपरीत वाक्यार्थ की *विश्रान्ति न होने पर तात्पर्य वृत्ति कार्य करती है ॥३॥*

तत्र·· ···तुलाधृतम्—ध्वनिवादी धनिक का उक्त तर्क अमान्य करते हुए तात्पर्य-वादी धनिक का प्रतितर्क है कि अन्तिम अर्थ तक अर्थ की विश्रान्ति असम्भव है।

तात्पर्य का विश्राम किसी एक सीमा पर हो जाता है—इतने पर ही उसका अन्त है, इसमें क्या युक्ति हो सकती है ? *कार्य या प्रयोजन की प्रतीति तक तात्पर्य का प्रसार है* । तात्पर्य वृत्ति कुछ तराजू पर तोल कर नहीं प्रस्तुत होती है ॥४

ध्वनिवादी पुन युक्ति प्रस्तुत करता है—"हे धर्मात्मा, आश्वस्त होकर घूमो, वह कुत्ता उस नदीकुञ्जवासी सिंह द्वारा मार डाला गया" इस वाक्य में भ्रमण ही वाच्य है, कोई वर्जन नहीं किया है। तब पूरा वाक्य निषेध तक कैसे पहुँचता है। (बिना व्यञ्जना वृत्ति के निषेध नहीं आ सकता और कुलटा भ्रमण निषेध चाहती है कि उसके स्वच्छन्द विहार मे बाधा न आए।) ॥५

इस प्रश्न पर तात्पर्यवादी उत्तर देता है—यदि वक्ता की अपेक्षा की पूर्ति होने से ही *प्रत्येक वस्तु की विश्रान्ति होती है तो जब तक वक्ता के विवक्षित की प्राप्ति नहीं* हो जाती, तब तक वाक्यार्थरूप तात्पर्य की अविश्रान्ति क्यों न मानी जाय ॥६

पूर्वोक्त वाक्य तो शिक्षा (वक्ता की कथनेच्छा) के पराधीन रहता है। अत वक्ता के अभीष्ट अर्थ तक काव्य का तात्पर्य मानना सगत है ॥७

अवलोक—अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्य व्यञ्जकभाव ।

अत काव्य के साथ रसादि का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव न होकर भाव्यभावक-सम्बन्ध है, क्योकि काव्य भावक है, रसादि भाव्य है। वे रसादि स्वत होते हुए ही भावको (रसिको) मे विशिष्ट विभावादि से युक्त काव्य द्वारा भावित होते हैं।

यह प्रश्न उठाना व्यर्थ है कि काव्येतर शब्दों मे भाव्यभावक सम्बन्ध नहीं होता तो काव्य शब्दों म भी वैसा ही होना चाहिए। भावनाव्यापारवादियो द्वारा वैसा ही मान्य किया गया है (कि काव्य शब्द रसादि के भावक होते हैं)। और काव्येतर स्थलो मे भावकत्व न हो तो भी काव्य मे उसे अन्वयव्यतिरेक से ज्ञात किया जा सकता है (—जहाँ काव्य है वहाँ भावकत्व है, जहाँ भावकत्व नहीं वहाँ काव्य नहीं)। अत भरत का कथन है—

'*भावाभिनय (अनुभाव) के सम्बन्ध वाले रसो को भावित करने के कारण नाट्य* योजको द्वारा इन्हें भाव कहा जाता है।"

अवलोक—कथं पुनरगृहीत सम्बन्धेभ्य

अब प्रश्न उठता है कि जब तक सम्बन्ध रूप शब्दशक्ति का ज्ञान न हो तब *तक पदो से स्थायी भाव आदि की प्रतीति कैसे हो सकती है* । इसका उत्तर यही है कि लोक में वैसी चेष्टाओ से युक्त स्त्रीपुरुषादि मे रत्यादि की अवश्यभाविता देखने से यहाँ *भी वैसी रचना होने पर रत्यादि के साथ अवश्यभावी चेष्टादि के प्रतिपादक शब्दों के* श्रवण से वाच्यार्थ के साथ अवश्यभावी रत्यादि की लाक्षणिक प्रतीति हो जाती है। *काव्यार्थ रस का भावक होता है, इसे आगे कहा जायगा* ।

नान्दी टीका

तात्पर्य वृत्ति से रत्यादि स्थायी भाव वाक्यार्थरूप काव्यार्थ बनते हैं और उनकी रसात्मक निष्पत्ति भाव्य-भावक सम्बन्ध से होती है। इस प्रकार अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तात्पर्य और भावकत्व वृत्तियाँ भी धनञ्जय और धनिक मान्य करते हैं। इन में प्रथम तीन सामान्य वृत्तियाँ हैं जो काव्य और काव्येतर में व्याप्ति रखती हैं जबकि भावकत्व केवल काव्य व्यापार है।

यहाँ भट्टनायक के भावकत्वव्यापार से इस भावकत्वव्यापार का अन्तर स्पष्ट कर लेना चाहिए। भट्टनायक भावकत्व और भोजकत्व दो विशिष्ट काव्य-व्यापार मानते हैं। उनके अनुसार भावकत्व साधारणीकरण व्यापार का नाम है जिससे विभावादि और स्थायी भाव साधारणीकृत होकर रसरूप लेते हैं, फिर सत्त्वोद्रेकरूप भोजकत्व-व्यापार से सहृदय को आस्वाद होता है। इसके विपरीत 'दशरूपक' के इष्ट भावकत्व से रसास्वाद होता है।

धनञ्जय रस की निष्पत्ति तात्पर्य वृत्ति द्वारा मानते हैं। आनन्दवर्धन, अभिनव-गुप्त, मम्मट और पण्डितराज जगन्नाथादि महान् आचार्य व्यञ्जना से ही रस मानते हैं।

धनञ्जय का मत है कि वाक्य से जो कुछ अर्थ मिलता है, उसकी चरम परिणति रस में होती है। रस वाक्यार्थ है। यह वाक्यार्थ तात्पर्य की परिधि से बाहर नहीं है, क्योंकि वाक्य रस के लिए ही प्रयुक्त है— यत्पर शब्द स शब्दार्थ।

रस तात्पर्य वृत्ति से निष्पन्न है या व्यञ्जना से—यह विषय नाट्यशास्त्र से दूरत सम्बद्ध है।

३८. रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात्।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥ ३८
३९. द्रष्टु प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः।
लौकिकस्य स्वरमणीसयुक्तस्येव दर्शनात् ॥ ३९

काव्यार्थोपप्लावितो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायी भाव स इति निर्दिश्यते। स च स्वाद्यता निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रस। रसिकवर्ती वर्तमानत्वात्, नानुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात्तस्य।

अथ शब्दोपहितरूपत्वेनावर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमुच्यते। तथापि तदवभासस्यास्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्समत्वेव स्वादं प्रति विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव। किञ्च न काव्यं रामादीनां रसो-पजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम्। स च समस्तभाव-कस्वसंवेद्य एव।

यदि चानुकार्यस्य रामादे शृङ्गार स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिक इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणा प्रतीतिमात्र भवेत्, न रसिकाना स्वाद । सत्पुरुषाणा च लज्जा, इतरेषा त्वसूयानुरागापहारेच्छादय प्रसज्येरन्। एव न सति रसादीना व्यङ्ग्यत्वमपास्तम् । अन्यतो लब्धसत्ताकं वस्त्वन्येनापि व्यज्यते प्रदीपेनेव घटादि । न तु तदानीमेवाभिव्यञ्जकत्वाभिमतैरापाद्यस्वभावम् । भाव्यन्त च विभावादिभि प्रेक्षकादिषु रसा इत्यावेदितमेव ।

३८ वही (तात्पर्य वृत्ति से उपस्थापित) स्थायी भाव रस होता है क्योंकि वही आस्वाद्य होता है और रसिक मे वर्तमान होकर ही स्थायी आस्वाद्य बन पाता है। (भट्टलोल्लटादि समत) अनुकार्यगत स्थायी रस नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह (वर्तमान न होकर) अतीत होता है तथा काव्य का रस रामादि अनुकार्य के लिए नहीं होता ।। ३८

इसके अतिरिक्त यदि अनुकार्य के स्थायी को रस माना जाय तो (वह लौकिक होगा और) दर्शक को लज्जा ईर्ष्या राग और द्वेष की प्रतीति का प्रसङ्ग होगा जैसा अपनी रमणी से आलिंगित किसी लौकिक पुरुष को देखने से होता है ।। ३९

काव्य के अर्थ (तात्पर्य) से उपप्लावित या उपस्थापित तथा रसिक मे वर्तमान रत्यादि स्थायी भाव ही रसरूप मे निर्दिष्ट किया जाता है, क्योंकि वह स्थायी स्वाद नीयता को प्राप्त कराया जाता है—वही अतिशय आनन्दरूपसंवेदन है। वह रस रसिक मे रहता है, क्योंकि वहीं वह वर्तमान रहता है। अनुकार्य रामादि का स्थायी रस नहीं हो सकता क्योंकि रामादि अतीत होते हैं (अत उनका स्थायी भी वर्तमान न होकर अतीत होता है)।[1]

1 पातञ्जल महाभाष्य मे कहा गया है कि शब्द मे अतीत को भी वर्तमानरूप दिया जा सकता है। अत अतीत कंस, रावण आदि की शाब्दिक वर्तमानता अक्षुण्ण रहती है। इस तथ्य को भर्तृहरि ने इस प्रकार लिया है—

शब्दोपहितरूपास्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते । (वाक्यपदीय)

अर्थात् नाटयादिगत कंसादि पात्र शब्दरूप उपाधि से उपहित (अवच्छादित) होकर दर्शक या रसिक की बुद्धि मे आकार लेते हैं और प्रत्यक्षवत् या वर्तमानवत् प्रतिभास देते हैं। अत दर्शक उन्हे वध आदि क्रियाओ का कारक मान लेता है।

इस प्रकार निश्चित होता है कि अतीत पदार्थ भी शब्दगत आकार लेकर वर्तमानता ग्रहण कर लेते हैं और तब लोल्लट के अनुसार भी कहा जा सकता है कि अतीत अनुकार्य शब्दाकार मे वर्तमानता पाकर सहृदय द्वारा ज्ञेय बनता है और अनुकार्य का स्थायी ही रसरूप से आस्वादनीय बनता है। इस पर धनिक का विचार आगे द्रष्टव्य है।

अवलोक—अवशब्दोपहित इत्यादि ।

हाँ, अनुकार्य शब्द से उपहित रूप लेकर अतीत होता हुआ भी वर्तमानवत् भासित होता है। तथापि उस अवभास को हम लोग (सहृदय) अनुभव नहीं करते। अत वह आस्वाद की दृष्टि से असत् (अवर्तमान) के तुल्य ही ठहरता है—विभाव रूप से रामादि अनुकार्य का वर्तमानवत् अवभासन तो हम भी मानते हैं। सबसे बड़ी बात (लोल्लटादि के विरुद्ध) तो यह है कि कविजन रामादि (अनुकार्य) में रसजनन हेतु काव्यरचना नहीं करते, अपितु सहृदयों को आनन्दित करने के प्रयोजन से काव्य में प्रवृत्त होते हैं। वह आनन्द (रस) सभी भावकों (सहृदयों) के स्वसंवेदन (स्वानुभूति) से ही सिद्ध या प्रमाणित होता है (अनुकार्य की अनुभूति से नहीं)।

अवलोक—यदि चानुकार्यस्य रामादे ।

यदि अनुकार्य रामादि का शृंगार हो तो नाटकादिगत उस (शृंगार) के दर्शन में ऐसा कुछ होगा, जैसा लौकिक शृंगारी नायक को अपनी कान्ता से संयुक्त देखने पर प्रतीत होता है कि 'यह शृंगारी है'। प्रेक्षकों को यह लौकिक प्रतीति तो हो सकती है, पर रसास्वाद नहीं हो सकता। इसके विपरीत सज्जनों को लज्जा तथा अन्य जनों को ईर्ष्या, अनुराग, अपहरण की इच्छा आदि का प्रसंग उपस्थित होगा (जैसा लोक में देखा जाता है)। इस तर्क के आधार पर रसों का व्यंग्य होना भी निरस्त हो जाता है (क्योंकि व्यंग्य होने पर भी लौकिकता यथावत् है)। व्यञ्जना के विरुद्ध एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह भी है कि जो वस्तु अन्य कारण से सत्तालाभ कर चुकी होती है, वही अन्य द्वारा व्यक्त होती है, जैसे, दीपक से घट व्यक्त होता है (वह पहले से सत्तावान् है, तभी दीपक से व्यक्त होता है)। रस के विषय में यह बात नहीं है, क्योंकि रस तो पहले से सत्तावान् नहीं है, उसका स्वरूप तो विभावादि द्वारा निष्पादित होता है और उसी क्षण उसकी अभिव्यक्ति उन्हीं विभावादि को व्यञ्जक मान कर कैसे हो सकती है? प्रेक्षकादि में विभावादि द्वारा रस भावित होते हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है।

नान्दी टीका

अभिव्यक्तिवादी सहृदय में वासनारूप से स्थित स्थायी भाव की व्यञ्जना मानता है, जो स्थायी पहले से चित्त में सत्तावान् होता है। विभावादि से व्यक्त होकर वह स्वाद में उतरता और रस नाम पाता है। इससे पूर्व अव्यक्त रहता है। जैसे, अन्धकार में सत्तावान् घट अव्यक्त रहता है और प्रदीप से व्यक्त होकर अनुभव में आता है, उसी प्रकार चित्त में सदा सत्ता रखने वाला वासनात्मक स्थायी भाव विभावादि से व्यक्त होकर ही रसरूप से अनुभाव्य बनता है। वासना वैयक्तिक नहीं होती, वह तो व्यापक तत्त्व है। अत उसमें स्वकीयता या परकीयता के भाव का उदय ही नहीं होता—यही ध्वनिमत का सार है, जिसे ग्रन्थकार ने उपेक्षित कर अपने मत की नींव डाली है।

रस विभावादि से भावित होता है, यह कह देने भर से लज्जा आदि का निरास नहीं हो सकता। भावित होना मानने पर भी लौकिकता का उल्लेख हो सकता है और सहृदय आस्वादविमुख रह सकता है। अतएव ध्वनिवादी सदा कहता है—

वीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो रसः।

लौकिकता का आ जाना विघ्न है, जो व्यक्त मानें या भावित, दोनों के साथ संभव है और उस विघ्न से मुक्त होकर ही रस का आस्वाद किया जा सकता है।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः? कथं च सीतादीनां देवीनां विभावत्वेन विरोधः? उच्यते—

४०. धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥४०

नहि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ज्ञात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति। किं तर्हि? सर्वलोकसाधारण्यात् स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधयो धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिन्यो भवन्ति।

अब प्रश्न उठता है कि सामाजिकगत रसों में विभाव कौन होता है? सीता आदि देवियों के विभाव होने से विरोध कैसे आता है? इसका उत्तर इस प्रकार है—

४०. रामादि अनुकार्य धीरोदात्तादि अवस्थाओं का प्रतिपादन करते हैं (जो लोकसिद्ध हैं और इस प्रकार वे रत्यादि स्थायी भावों को विभावित कर विभाव नाम पाते हैं। उनके द्वारा विभावित रत्यादि का आस्वाद रसिकों को होता है ॥४०

कवि लोग योगियों के समान ध्यान दृष्टि से देख कर, इतिहास के समान, यथा घटित रामादि की अवस्थाओं का वर्णन नहीं करते। प्रत्युत, लोकमात्रसामान्यता से अपनी कल्पना द्वारा उन्हें मानस-सन्निधि में लाते हैं। फलतः वे धीरोदात्तादि अवस्थाएँ कहीं आश्रय मात्र देने वाली होती हैं।

४१. ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः।

तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः।

किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेत्? उच्यते—

४१. वे ही धीरोदात्तादि अवस्थाएँ विशेष (व्यक्तित्व आदि) का त्याग कर रस का कारण बनती हैं।

काव्य में 'सीता' आदि शब्द जनकपुत्रीत्व आदि विशेष धर्मों का त्याग कर स्त्रीमात्रवाचक रह जाते हैं, तब कौन-सा अनिष्ट करेंगे?[१]

१. उनको पूज्यादि मानने से उनकी रति के दर्शन में जो लज्जा हो सकती है, वह नहीं रह जाती, जब उन्हें स्त्री मात्र ही समझ लिया जाता है। इस प्रकार उनकी रति के दर्शन में अशिष्टता के कारण अनिष्ट का परिहार हो जाता है।

इन सीतादि के काव्य में ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है ? इस प्रश्न का उत्तर आगे दिया जा रहा है—

क्रीडतां मृन्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ।।४१
४२. स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।

एतदुक्तं भवति—नात्र लौकिकश्रृङ्गारादिवत्स्त्र्यादिविभावादीनामुपयोग । किं तर्हि ? प्रतिपादितप्रकारेण(उपयोग ।) लौकिकरसविलक्षणत्वात् नाट्यरसानाम् । यदाह—'अष्टौ नाट्यरसाः स्मृताः' इति । ना० शा० ६ १५

"जिस प्रकार मिट्टी के बने हाथी आदि से खेलते हुए बालकों का अपना उत्साह ही आस्वादित होता है, उसी प्रकार श्रोताओं का (अपना उत्साह) अर्जुनादि (अनुकार्यों) से आस्वादित होता है ।।४१"

अभिप्राय है कि काव्य में लौकिक शृङ्गारादि के समान स्त्री आदि विभावों का उपयोग नहीं होता, प्रत्युत ऊपर बतायी हुई रीति से उपयोग होता है, क्योंकि नाट्यरस लौकिक रसों से विलक्षण होते हैं—जैसा भरत ने कहा है कि आठ नाट्यरस मान्य हैं ।

काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ।।४२

नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवेत् । तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् । काव्यार्थभावनायां त्वस्मदादिवत्काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते ।

"काव्यार्थ (रस) की भावना का आस्वाद नर्तक (नट) को भी निवारित नहीं है ।।४२"

अर्थात् नट भी वहाँ लौकिक रस से रसवान् नहीं होता, क्योंकि भोग्य रूप से अपनी स्त्री का ग्रहण नहीं करता । अतः काव्यार्थ की भावना में हम सभी के समान काव्यरस का आस्वाद नर्तक को भी हो सकता है ।

नान्दी टीका

नट को रस का आस्वाद होता है—धनञ्जय की यह मान्यता सर्वथा निर्मूल है । यदि वह रसापन्न होगा तो वह अभिनय करने में असमर्थ हो जायेगा ।

अभिनवगुप्त ने उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जैसे पात्र में मधुर रस रखा हो तो पात्र को उसके माधुर्य की परख नहीं होती । वैसे ही नाटक के पात्र नर्तक को भी रस की प्रतीति नहीं होती । वह तो रस का साधक है, आस्वादक नहीं ।

कथं च काव्यात् रसास्वादोद्भूतिः, किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

४३. स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ।। ४३

शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥ ४४
४५ अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

काव्यार्थेन—विभावादिसंसृष्टस्याय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे=अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः। तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन सम्मदभेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद्यथा—शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः रौद्रे विक्षेप इति। तत्रान्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानककरुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः। अत एव च—

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥' ना० शा० ६ ३९

इति हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितः। न कार्यकारणभावाभिप्रायेण। तेषां कारणान्तरजन्यत्वात्।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः। ना० शा० ६ ४०

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणात्। अवधारणमप्यत एव 'अष्टौ' इति। सम्भेदानां तावत्त्वात्।

ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदाद् आनन्दोद्भव इति करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुःष्यात्? तथाहि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति। न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते। सत्यमेतत्। किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणताडनादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात्करुणात्काव्यकरुणः। तथाहि—अत्रोत्तरोत्तरं रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिककरुणवद्दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चित्तत्र प्रवर्तेत, ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्चेतिवृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपतितेष्टलौकिकवैक्लव्यादिवत् प्रेक्षकेषु प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते तस्मात्रसान्तरवत्करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।

काव्य से रसास्वाद का उद्भव कैसे होता है और उसका स्वरूप क्या है? इसे स्पष्ट किया जा रहा है—

४३ "काव्यार्थ के संसर्ग से तथा आत्मानन्द से उत्पन्न स्वाद विकास, विस्तर, क्षोभ और विक्षेप से चार प्रकार का होता है ॥ ४३

४४ 'शृङ्गार और हास्य मे मन का विकास, वीर और अद्‌भुत मे विस्तार, बीभत्स और भयानक मे क्षोभ तथा रौद्र और करुण मे विक्षेप होता है ।। ४४

४५ अतएव शृङ्गार से हास्य, वीर से अद्‌भुत, बीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण को उत्पन्न कहा गया है तथा इसी कारण आठ रसो का ही अवधारण (नाट्यशास्त्र मे) किया गया है ।

विभावादि के ससर्ग से युक्त स्थायी भाव ही काव्यार्थ है । उससे भावक के चित्त का सभेद या परस्पर सगमन होता है, जिससे स्वकीयता और परकीयता का भेद मिट जाता है । फलत जो अनिप्रबल स्वसवेदन रूप आनन्द का उद्भव होता है, यही रसास्वाद है । यद्यपि वह स्वाद सामान्य रूप होता है, तथापि स्थायिविशेष के निश्चित विभावादि रूप कारण से जनित होने वाले उक्त सगमन से चार प्रकार की चित्तभूमियाँ बनती हैं—जैसे *शृङ्गार मे विकास, वीर म विस्तर, बीभत्स म क्षोभ और रौद्र म विक्षेप ।* अन्य चार हास्य, अद्‌भुत, भयानक और करुण भी जब अपनी-अपनी विभावादि-सामग्री से परिपुष्ट होते हैं, तब उनके भी वे ही चार, विकासादि रूप चित्त क सभेद क्रमश होते हैं । अतएव भरत ने यह कह कर कि—

"*शृङ्गार से हास्य और रौद्र से करुण रस हो सकता है*, इसी प्रकार वीर से अद्‌भुत की और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है ।' सभेद को ध्यान मे रख कर हेतु-हेतुमद्भाव-सम्बन्ध ही दिखाया है, कार्य कारण भाव के अभिप्राय से नही कहा है क्योकि बाद वाले चार हास्यादि अन्य कारणो से जनित होते हैं ।

"जो शृङ्गार की अनुकृति है वह हास्य कहा गया है ।'

इत्यादि कथन द्वारा भरत ने विकासादि के सभेदकत्व का ही स्पष्टीकरण किया है । अतएव यह अवधारण है कि आठ ही रस है, क्योंकि विकासादि चार से अधिक सभेद नही होते ।

माना कि प्रमोदात्मक शृङ्गार, वीर, हास्य इत्यादि मे वाक्यार्थ संभेद से आनन्द का उद्‌भव होता है, परन्तु दु खात्मक करुणादि म वह आनन्द कैसे हो सकता है ? यह स्पष्ट है कि करुणात्मक काव्य के सुनने से दु ख का आविर्भाव हाता है । अतएव रसिको क भी अश्रुपात आदि प्रकट होते हैं । रस आनन्दात्मक हो तो यह योग्य नही (कि अश्रुपातादि हो) ।

उक्त बात अर्ध सत्य कही जाती है (क्योंकि अश्रुपातादि देखे जाते हैं) परन्तु करुणादि का यह आनन्द वैसा हो सुख-दुःखात्मक होता है जैसा कि प्रहरण या ताडन आदि के अवसर पर सभोग दशा के कुट्टमित (हर्षावस्था मे भी शिर कम्पन आदि) में स्त्रियो को आनन्द मिलता है । लौकिक करुण से काव्य का करुण भिन्न होता है । अत रसिको की अधिकाधिक प्रवृत्ति देखी जाती है । यदि लौकिक करुण के समान दु ख रूपता ही काव्य-करुण मे भी होती तो उसमे कोई प्रवृत्त ही न होता और तब एकमात्र

करुणरस वाले रामायणादि काव्यों की प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती। इतिवृत्त वर्णन के श्रवण से जो अश्रुपातादि प्रेक्षकों में प्रादुर्भूत होते हैं, वे वैसे ही होते हैं, जैसे युद्धादि में मृत इष्टजन के लिए लौकिक विकलता देखी जाती है। अतः वे अश्रुपातादि विरुद्ध नहीं हैं। अतः अन्य रसों के समान ही करुण भी आनन्दात्मक ही है।

शान्तरसस्य चानभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्यानुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यतया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते।

अतस्तदुच्यते—

शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ॥४५

शान्तो हि यदि यावत्—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः ॥'

इत्येवलक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावः। तस्य च स्वरूपेणानिर्वचनीयता। तथा हि—श्रुतिरपि—'स एष नेति नेति' इत्यन्यापोहरूपेणाह। न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति। अथापि तदुपायभूतः शमो (यदि) मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणः विवक्षितस्तर्हि तस्य रूपकेषु न पोषः। काव्ये सम्भावितस्य तस्य च स्वादे मनसो विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति तदुक्तैव शान्तरसास्वादो निरूपितः।

यद्यपि शान्त रस अभिनय योग्य नहीं होता, अतः नाट्य में उसका प्रवेश नहीं है। फिर भी, सूक्ष्म और अतीत आदि सभी वस्तुएँ शब्द द्वारा प्रतिपाद्य हो सकती हैं। अतः वे भी काव्य का विषय हों तो कोई रोक नहीं। अतः शान्तरस के विषय में कहा जा रहा है—

'शम स्थायी भाव का प्रकर्ष (परिपोष) अनिर्वचनीय होता है क्योंकि मुदिता आदि की योग सम्बन्धी भावना ही शम रूप होती है ॥४५

क्योंकि शान्त का यदि यह लक्षण है—

जिसमें न दुःख हो, न सुख, न चिन्ता, न राग-द्वेष और न कोई इच्छा, इसी को मुनिवर ने शान्त रस कहा है, जो सभी भावों में समान रहता है।'

तो उस शान्त रस का प्रादुर्भाव मोक्ष दशा में हो, जब आत्मा को स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, सम्भव है। वह स्वरूप से अनिर्वचनीय है क्योंकि वेद (उपनिषद्) भी इस आत्मा को 'नेति नेति' कह कर अन्यापोह द्वारा प्रतिपादित करता है—(दृश्य मात्र का निराकरण ही अन्यापोह है जिससे शेष तत्त्व आत्मा है)।

उस प्रकार के अन्यापोह रूप शान्त रस के आस्वादकर्ता सहृदय भी नहीं होते। फिर भी यदि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा वाली चित्तवृत्ति को शम कहा जाय

४६. पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः ।
काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः ॥४६

४७. भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

अतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्रादिभिरुद्दीपनविभावैः, प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावैः रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेप-कटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायी भावो विभावितः=भावरूपतामानीतः स्वदते। स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम् ।

अब विभावादि के विषय में अवान्तर काव्य-व्यवहार का प्रतिपादन करते हुए प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है—

४६. "चन्द्रमा आदि कारण, (निर्वेदादि सहचारी भाव) और रोमाञ्चादि (कार्य) काव्य के व्यापार से विभाव, संचारी और अनुभाव नाम पाते हैं। उनसे भावित स्थायी आस्वादित होता है और रस कहलाता है।"

काव्य में अतिशयोक्ति रूप विशेष व्यापार रहता है, जिससे विशेषता प्राप्त कर चन्द्रादि उद्दीपन विभाव, प्रमदादि आलम्बन विभाव, निर्वेदादि व्यभिचारी भाव और रोमाञ्च, अश्रु, भ्रुकुटि, कटाक्ष आदि अनुभाव कहे जाते हैं। ये सब उक्त (अतिशयोक्ति रूप) अवान्तर व्यापार से पदों के अर्थ बनते हैं और उनसे विशेष भावित स्थायी भाव भावरूपता को प्राप्त कराया जाता है तथा आस्वादित होता है। वही रस है, यह पूर्व प्रकरण में बताया जा चुका है।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते—तत्राचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग्लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि। अत्र तु

लक्षणैक्यं विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥४७

क्रियते इति वाक्यशेषः ।

विशेष रस लक्षण आगे कहे जा रहे हैं—आचार्य (भरत) ने रत्यादि स्थायी भावों और शृङ्गारादि रसों के विभावादि प्रतिपादन के साथ पृथक् लक्षण कहे हैं। यहाँ तो—

"विभाव की एकता के कारण तथा रस और भाव के अभिन्न होने के कारण लक्षण की एकता (की जा रही है) ॥४७

शृङ्गारः

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥४८

इत्थमुपनिबध्यमानं काव्यं शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति रत्युपदेशपरमेतत् । तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते—

'स्मरसि सुतनु तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
स्मरसि सरसतीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥ १.२६

कलाविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

'हस्तैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयः षड्विकल्पोऽनुवृत्तै—
र्भावे भावे नुदति विषयात् रागबन्धः स एव' ॥२.८

यथा च नागानन्दे—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नास्त्रिधाऽयं लयः ।
गोपुच्छप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता—
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥'
१ १५

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे—

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन नापेक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमाशिञ्जितनूपुरेण ॥' ३.२६

वेषविभावो यथा तत्रैव—

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ति ॥' ३.५३

उपभोगविभावो यथा—

'चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरीकपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै-
र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेतःस्थलीवर्धितः ॥'

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे—

'जगति जयिनस्ते ते भावा नवे दुकलादय
प्रकृतिमधुरा सन्त्येतान्येव मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदिय याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषय जन्मन्येक स एव महोत्सव ॥' १ ३८

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे—

दीर्घाक्ष शरदिन्दुकान्निवदन बाहू नतावसयो
सक्षिप्त निबिडोन्नतस्तनमुर पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्य पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नतयितुर्यथैव मनसि स्पष्ट तथाऽस्या वपु ॥ २ ३

यूनोर्विभावो यथा मालतीमाधवे—

भूयो भूय सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्त
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्काम नवमिव रतिर्मालती माधव यद्
गाढोत्कण्ठालुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥ १ १८

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन त
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभ वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढ निखात इव मे हृदये कटाक्ष ॥ १ ३२

मधुराङ्गविचेष्टित यथा यत्रैव—

स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलताना
मसृणमुकुलिताना प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चिताना
विविधमहमभूव पात्रमालोकितानाम् ॥१ ३०

४८ रम्यदेश काल कला वप भोग आदि का आनन्द लने के द्वारा परस्पर अनुरक्त युवक और युवती की रति प्रमोदात्मिका (आनन्दमय) होती है। उनके अङ्गो की मधुर चेष्टाओं के द्वारा हर्षाभिमुखी बनी हुई रतिभृङ्गार है। अर्थात् रति नामक स्थायी भाव के विभाव रम्य देशादि हैं और इसके अनुभाव हैं युवती और युवक के अगों की मधुर चेष्टायें।४८[1]

---

१ रतिर्नाम प्रमोदात्मिका ऋतुमाल्यानुलेपनाभरण भोजनवरभवनानुभवनाप्रति कूलादिभिर्विभावै समुत्पद्यते । तामभिनयेत् स्मितवदनमधुरकथनभ्रूक्षेप-कटाक्षा दिभिरनुभावै । ना० शा० सप्तमाध्यायपृष्ठ ३५० गा० ओ० सी०

इन विषयों को लेकर रचा हुआ काव्य शृंगार के आस्वाद के लिए होता है। यह रति विषयक चर्चा हुई।

उत्तररामचरित में देश के विभाव होने का उदाहरण—राम सीता से पूछते हैं—हे सुन्दरि, उस (प्रस्रवण—) पर्वत पर लक्ष्मण के द्वारा हमारी सेवा शुश्रूषा की व्यवस्था किये जाने से सुखी हम दोनों के उन दिनों का तुम्हें स्मरण है। वहाँ की सरस जल वाली गोदावरी का तुम्हें स्मरण है। उस गोदावरी के आस पास हमारे निवास का स्मरण है। कला के विभाव होने का उदाहरण मालविकाग्निमित्र में—परिव्राजिका मालविका के नृत्य की समीक्षा करती है—वाणी को समाविष्ट किये हुए अङ्ग के द्वारा (गीत का अर्थ) पूर्णतः सूचित किया गया। पैरों की गति लय के अनुसार थी। (नर्तकी की) रस में तन्मयता थी। हाथ पैर की मुद्राओं से व्यक्त अभिनय कोमल था। उसके अभिनय के विविध प्रकारों का अनुसरण करने में भाव दूसरे भाव को प्रेरित करता था। आद्यन्त पर ही रागबन्ध प्रतिष्ठित रहा।

दूसरा उदाहरण नागानन्द से—

नायक मलयवती के वीणावादन की समीक्षा करता है।

दस प्रकार की व्यञ्जना विधि से वाद्य ने स्पष्टतः प्राप्त की है। लय का द्रुत, मध्य और विलम्बित से भिन्न किया हुआ सुबोध कर दिया गया है। इसमें तीन यतियां गोपुच्छ आदि क्रमशः निष्पन्न हैं। वाद्य की तीन विधियाँ—तत्त्व, ओघ और अनुगत भली-भाँति प्रकट की गई हैं।

काल के विभाव होने का उदाहरण कुमारसम्भव में—अशोक वृक्ष ने स्कन्ध प्रदेश में ही उस समय पल्लवों के साथ पुष्पों को उत्पन्न कर दिया। उसने इसकी भी अपेक्षा नहीं की कि नूपुर के रुनझुन वाली सुन्दरी के पाद का प्रहार हो। यहाँ से आरम्भ करके—

अपनी प्रिय भ्रमरी का अनुवर्तन करते हुए भौरे ने पुष्प के एक ही पात्र में मधु-पान किया। हरिण ने अपनी पत्नी को सींग से खुजलाया और उसने पति के स्पर्श-सुख से आँखें मूँद लीं। वेष का विभाव होने का उदाहरण कुमारसम्भव में—

पार्वती ने पुष्पों का ऐसा आभरण धारण किया, जिसमें अशोक पद्मराग मणि को पराजित कर रहा था, कर्णिकार ने स्वर्णज्योति अपना ली थी, और सिन्दुवार मुक्ताकलाप बन चुका था।

उपभोग के विभाव होने का उदाहरण—हे मानिनि, तुम्हारी आँखों में कज्जल लुप्त हो गया है, होठ पर लगी पान की ललाई चबा ली गई है, गालों पर कबरी शिथिल होकर बिखरी है, अंगों की आभा फीकी पड़ गई है। ऐसा लगता है कि प्रेमी ने कैसे भी उपायों के अनुष्ठान द्वारा तुम्हारी चित्त-भूमि पर चढ़ाये हुए मानरूपी पक्षवृक्ष को तोड़ डाला है।

रति प्रमोदात्मा है। उदाहरण मालतीमाधव मे—

नव चन्द्र की कलादि जो भाव हैं, उन्हें बधाई। और भी प्रकृत्या मधुर भाव है, जो लोगो के मन को हर्षित करते हैं। मेरे लिए यह जो नायिका है, वह नेत्रों के लिए चन्द्रिका है, मुझे दृष्टिगोचर हुई। यह मेरे जीवन मे अद्वितीय महोत्सव रहा।

युवती के विभाव होने का उदाहरण मालविकाग्निमित्र मे—राजा नायिका मालविका के रूप का वर्णन कर रहा है—बडी आँखो वाला मुख शरत् के चन्द्रमा के समान कान्ति वाला है। कन्धे से बाहु प्रणत हो रहे है। छाती उन्नत और ठोस उरोजो के लिए छोटा पड रहा है। बगल घिस कर चिकने बना दिये गये हैं। कमर हथेली मे आ जाती है। *जघन-प्रदेश सुन्दर नितम्बो से शोभित है। पैर की अँगुलियाँ गोलाई लो हुई हैं।* नृत्य-शिक्षक की इच्छानुसार ही इसका शरीर सुश्लिष्ट है।

युवा और युवती दोनो के विभाव होने का उदाहरण—

नगर की निकटवर्ती सडक पर कई बार चक्कर लगाते हुए साक्षात् काम के समान माधव को भवन-वलभी के ऊँचे वातायन पर खडी होकर बार-बार निहारती हुई रति के समान मालती अतिशय उत्कण्ठित होकर शिथिल अगो से सन्तप्त है।

नायक और नायिका के परस्पर अनुराग के विभाव होने का उदाहरण—माधव कहता है—लटकने नाल वाले कमल के समान मुख को धारण करती हुई बारंबार गर्दन मोडती हुई जब नायिका जा रही थी तो सघन भौंहों से युक्त नयनों वाली ने विष और अमृत से सना कटाक्ष मेरे हृदय मे गहरा गाड दिया।

मधुराङ्ग—विचेष्टित के विभाव होने का उदाहरण—माधव बता रहा है कि मालती की कैसी-कैसी दृष्टियाँ मेरे ऊपर पडीं—कभी तो उसकी दृष्टियाँ निश्चल और विकसित थीं, फिर उसकी भौंहें उल्लसित हो उठी, कभी वे कोमल मुकुलित थी, कभी कोने तक उनका विस्तार बढ चुका था, प्रत्येक बार देखते समय कुछ-कुछ सकुचित दृष्टियो का पात्र मैं बना।

४९. ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति।
आलस्यमौग्र्यं मरणं जुगुप्सा तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥४९

त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिन. अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येकोनपञ्चाशत् युक्त्या=अङ्गत्वेनोपनिबध्य=मा=नाः शृङ्गारं सम्पादयन्ति। आलस्यौग्र्यजुगुप्सामरणादीन्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते। प्रकारान्तरेण चाविरोधः प्राक् प्रतिपादित एव। विभागस्तु (शृङ्गारस्य)—

४९. आठ सात्त्विक भाव हैं, आठ स्थायी भाव हैं और ३३ व्यभिचारी भाव

है। ये सब भाव ४६ हुए। योजनाबद्ध रीति से निबद्ध होने पर ये स्थायी भाव का पोषण करते हैं। आलस्य, उग्रता, मरण और जुगुप्सा को शृंगार के आश्रय में समञ्जसित करना समीचीन नहीं है।४६

तैंतीस व्यभिचारी, आठ स्थायी, आठ सात्त्विक भाव—इनका योग ४६ हुआ। य युक्ति पूर्वक अर्थात् अङ्ग रूप से वर्णित होकर शृङ्गार निष्पन्न करते हैं। आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा, मरणादि को आलम्बन विभाव म आश्रित करके यदि साक्षात् विन्यस्त किया जाय तो विरोध होता है। यदि इनको बीच-बचावपूर्वक रखा जाय तो विरोध का परिहार हो जाता है—यह पहले ही बता चुके हैं।[१]

५०. अयोगो विप्रयोगश्च सम्भोगश्चेति स त्रिधा।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद्विप्रलम्भस्य तत्सामान्याभिधायित्वे विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्मा भूदिति न प्रयुक्त। तथा हि—उक्त्वा तद्व्यतिक्रमे नायिकान्तरानुसरणे च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोग। वञ्चनार्थत्वात् तस्य।

५० शृंगार तीन प्रकार का होता है—अयोग, विप्रयोग और सम्भोग।

अयोग और विप्रयोग की विशेषताओं के कारण इन दोनों के लिए विप्रलम्भ नाम देने में यह असामञ्जस्य है कि विप्रलम्भ का मुख्य अर्थ छोड़कर उपचरित (लाक्षणिक भाव) अर्थ लेना पड़ता है। वस्तुत विप्रलम्भ शब्द का मुख्य प्रयोग नीचे लिखे दो अर्थों में होता है, क्योंकि इस का मूल अर्थ वंचना है—(१) कह कर उल्लंघन करना और (२) अन्य नायिका के पीछे पड़ना। (इन दोनों तत्त्वों का अयोग और विप्रयोग में होना आवश्यक नहीं है।)

तत्रायोगोऽनुरागेऽपि नवयोरेकचित्तयो ॥५०

५१. पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसङ्गम।

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोग। पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद्दैवी पित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव। दैवाद्गौरीशिवयोरिवासमागमोऽयोग।

एक मन वाले नई अवस्था के नायक और नायिका का अनुराग मात्र होने पर भी अयोग होता है। इसमें परतन्त्रता के कारण दैववशात् या दूर होने के कारण उन दोनों का मिलन अभी सम्भव नहीं हो पाता।

योग नायक और नायिका का परस्पर स्वीकरण है। उसका अभाव अयोग है। परतन्त्रता से, दूरी के कारण, दैवी, पिता आदि के वश में होने के कारण सागरिका

---

१. तेन भिन्नालम्बनाश्रयत्वेनोपनिबन्धनीयानि। एकालम्बनाश्रयत्वेऽपि व्यवधानेनोपनिबन्धनीयानीत्यर्थ। लघु टीका से।

और मालती का वत्सराज और माधव से अयोग रहता है। दैववशात् गौरी और शिव का समागम न होना अयोग है।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥५१
५२. स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वराः ।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥५२
५३. अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे ।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥५३
५४. साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम् ।
श्रुतिव्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥५४

अभिलाषो यथा शाकुन्तले—

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥' १ १९

विस्मयो यथा—

'स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्या शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम्—

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलिता
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना—
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥'१.३१

साध्वस यथा कुमारसम्भवे—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि—
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥५ २६

यथा वा—

'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥' ८.२

उस अयोग की दस अवस्थायें होती हैं—अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुणकथा, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, ज्वर, जडता तथा मरण। क्रमानुसार इनकी विषमता बढ़ती जाती है।५२

५३ अभिलाष है सर्वांग सुन्दर प्रियतम के लिए स्पृहा (इच्छा)। उसको देखने या सुनने पर विस्मय, आनन्द और साध्वस (उद्वेग) होते है।५३

५४ साक्षात्, प्रतिमा, स्वप्न, छाया और माया के माध्यम से परस्पर नायक और नायिका का दर्शन होता है। सखियों के गीत और मागध आदि के गुणगान से श्रवण के द्वारा परिचय होता है।५४

दुष्यन्त कहता है—निस्सन्देह शकुन्तला क्षत्रिय के साथ विवाह के योग्य है क्योकि मेरा उदात्त मन इसके प्रति अभिलाषी है। सन्देहास्पद विषयों में मन का झुकाव ही प्रमाण है।

विस्मय का उदाहरण

उस सुन्दरी के दो उरोजो को देख कर युवक सिर हिलाने लगा, मानो उन दोनो के बीच डूबी हुई दृष्टि को उपरा रहा था।

आनन्द का उदाहरण विद्धशालभञ्जिका मे—

प्राकार के ऊपर दृष्टिपात करो और थोडा विचार करो बिना आकाश के ही यह कैसा चन्द्र निकल आया है, जिसके हरिण कहाँ चले गये हैं? यह नये प्रकार का चन्द्र लवली फल-पाक रूप उस स्वच्छ ज्योत्स्ना को बिखेर रहा है, जिसे अमृताशी उपवन के चकोर खा रहे हैं।

साध्वस (किं कर्तव्य विमूढता) का उदाहरण कुमारसम्भव मे

काँपती हुई और रसमय गात्र वाली पार्वती शिव को देख कर अन्यत्र रखने के लिए उठाये हुए पैर को ऊपर ही रखी हुई न तो चल ही सकी और न खडी ही रही, जैसे मार्ग म पहाड से रोके जाने पर आकुल नदी न आगे बढ पाती है और न रुकी ही रह पाती है।

दूसरा उदाहरण है—

शिव के पूछने पर पार्वती उत्तर नही देती थी, वस्त्र पकडने पर चला जाना चाहती थी। बिस्तर पर शिव से पराड्मुख होकर पडी थी। फिर भी वह शिव को आनन्द प्रदान कर रही थी।

५५. सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्या. पूर्वदर्शिता.।

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम्।

५५. चिन्तादि संचारी भावों को उनके अनुभाव और विभावों के साथ पहले ही बता दिया गया है।

गुणकीर्तन सभी जानते है। उसकी व्याख्या नहीं दी गई है।

दशावस्थत्वमाचार्यै. प्रायोवृत्त्या निदर्शितम्॥५५

५६. महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता।

आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वा वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्ध प्रणामाञ्जलि ।।' ३ ३७

नायिकाया यथा श्रीवाक्पतिराजदेवस्य—

'प्रणयकुपिता दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्य प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ।।'

उभयो प्रणयमानो यथा—

'पणअकुविआण दोह्णवि अलिअपसुत्ताणा माणइत्ताणम् ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाण को मल्लो'
('प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतो ।
निश्चलनिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयो को मल्ल ।।')

नायक और नायिका दोनों के कोपाविष्ट होने पर प्रणयमान होता है ।५८

प्रणय है प्रेमपूर्वक परस्पर वशीकरण। उस प्रणय का भङ्ग होना मान है। प्रणयमान नायक और नायिका दोनों का होता है।

नायक के प्रणयमान का उदाहरण उत्तररामचरित म—

वासन्ती राम से कहती है—इस लतागृह मे आप सीता के मार्ग पर दृष्टि डाले प्रतीक्षा कर रहे थे। वह गोदावरी-पुलिन पर हंसो के साथ क्रीडा करती हुई देर तक रह गई थी। आने पर उसने आपको खिन्नमन-सा देखकर कातर होकर कमल-कलिका की भाँति प्रणामाञ्जलि की रचना की।

नायिका के प्रणयमान का उदाहरण वाक्पतिराज देव से—

पार्वती को प्रणयकुपित देखकर घबरा कर त्रिभुवन गुरु शिव ने भीति से उन्हे प्रणाम किया। सिर नीचे करने पर अपनी सपत्नी गंगा को देखकर पार्वती ने उन पर पाद प्रहार किया। उस समय शिव का सकपका जाना आप लोगो की रक्षा करे।

नायक और नायिका दोनों का परस्पर प्रणयमान करना—

प्रणयमान किये हुए दोनो ने बनावटी निद्रा का बहाना करके साँस रोक कर निस्पन्द पडे हुए कान लगाकर जानना चाहा कि हम दोनो मे से कौन अधिक देर तक मान करके जीतना है।

५९ स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।
श्रुते वानुमिते दृष्टे, श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ।। ५९

६० उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनकल्पित ।
त्रिधानुमानिको, दृष्ट. साक्षादिन्द्रियगोचरः ।।६०

ईर्ष्यामान पुन स्त्रीणामव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे सत्य-न्यासङ्ग श्रुतो वानुमितो दृष्टो वा (यदि) स्यात् । श्रवण सखीवचनात् यस्या विश्वास्यत्वाच्च ।

यथा ममैव—

सुभ्रु त्वं नवनीतकल्पहृदया कनापि दुर्मन्त्रिणा
मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनास्मासु चण्डीकृता ।
किं त्वेतद्विमृश क्षण प्रणयिनामणाक्षि यस्ते हित
किं धात्रीतनया वय किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृत् ॥'

उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य—

निर्मग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादाली समालिङ्गिता
केनालीकमिद तवाद्य कथित राधे मुधा ताम्यसि ।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वच शार्ङ्गिण
सव्याजं शिथिलीकृत कमलया कण्ठग्रह पातु व ॥'

भोगाङ्कानुमितो यथा शिशुपालवधे—

नवनखपदमङ्ग गोपयस्यशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठ पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्ध केन शक्यो वरीतुम् ॥'११·३४

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा—

'केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअव अआणन्तो ।
दुटठ उअसु परिहास जाआ सच्चं विअ परुण्णा ॥'
('केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती ।
दुष्ट पश्य परिहास जाया सत्यामिव प्ररुदिता ॥')

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य—

'प्रणयकुपिता दृष्ट्वा देवी ससम्भ्रमविस्मित
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्य प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद्विलक्षमवस्थितम् ॥'

ईर्ष्यामान स्त्रियों का तब उत्पन्न होता है, जब उनके पति का दूसरी नायिका से आसक्त होना विदित होता है। अन्य नायिका से आसक्ति सुनकर, अनुमान करके या देखकर ज्ञात होती है। सुनना सखियों की बातों को सुनना है। क्योंकि उनकी बातें विश्वास्य होती हैं। धनिक का श्लोक उदाहरण है—

नायक अपनी मानवती नायिका से कहता है—

हे सुभ्रू, तुम तो मक्खन जैसे हृदय वाली हो। किसी बुरे कुचरे, झूठ ही प्रिय कहने का दम्भ भरने वाले, मिठबोले के द्वारा तुम हमारे प्रति चण्डी बनाई गई हो। क्षण भर के लिए हे मृगनयनि, तुम विचार तो करो कि कौन तुम्हारा उपकारी है—क्या धाई की लड़की या हम या तुम्हारी सखी या कोई हमारा मित्र ?

उत्स्वप्नायित का उदाहरण रुद्र ने दिया है—

कृष्ण राधा से कहते हैं—हे राधे, तुम व्यर्थ क्यों व्यथित हो ? किसने तुमसे यह झूठ कहा कि, मैंने पानी में डूबे-उबे कामुकता से तुम्हारी सखी का आलिंगन किया ? सोते समय स्वप्न-परम्परा में कृष्ण की यह वाणी सुनकर किसी सहाने कमला ने कृष्ण के साथ अपने कण्ठग्रह को ढीला कर लिया। वह कण्ठग्रह आप की रक्षा करे।

भोग के चिह्नों का अनुमान करके ईर्ष्यामान

खण्डिता नायिका नायक से उलाहना देती है—अपने दुपट्टे से आप उन अङ्गों को छिपा रहे हैं, जिन पर नायिका के ताजे नख चिह्न है। उसके द्वारा काटे हुए होठ को हाथ से आच्छादित रखते हैं। पर किसके द्वारा वह परिमल गन्ध छिपाया जा सकता है, जो फैलते हुए सभी दिशाओं में आपके ऊपर स्त्रीसंग का डंका पीट रहा है।

गोत्रस्खलन से ईर्ष्यामान का उदाहरण

केली करते हुए नायक के द्वारा गोत्रस्खलन से कैतव को न जानने वाली भोली नायिका कोप कर रही है। अरे दुष्ट नायक परिहास छोड़ो। तुमने पत्नी को सचमुच रुला दिया।

परस्त्री सङ्ग को देखकर मानिनी नायिका का मुञ्ज के श्लोक द्वारा उदाहरण—

पार्वती को प्रणय कुपित देखकर घबराये हुए त्रिभुवन-गुरु शिव ने भीति से उन्हें प्रणाम किया। उनके सिर नीचे करने पर अपनी सपत्नी गंगा को देखकर पार्वती ने उन पर पादप्रहार किया। उस समय शिव का सकपका जाना आप लोगों की रक्षा करे।

एवम्—

६१ यथोत्तर गुरु षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत्।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरे ॥६१

६२ तत्र प्रियवच साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम्।

दानं व्याजेन भूपादे, पादयो. पतनं नति । ६२

६३. सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादे. कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ ६३

६४. कोपचेष्टाश्च नारीणा प्रागेव प्रतिपादिता ।

तत्र प्रियवच साम यथा ममैव—

'स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परित. ।
वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥'

यथा वा—

'इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलै स विधाय वेधा
कान्ते कथ रचितवानुपलेन चेत ॥'

नायिकासखीसमावर्जनं भेदो यथा ममैव—

'कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मयानिप्रणमतो
धृतासि त्वं हस्ते विसृजसि रुष शुभ्र बहुश ।
प्रकोप काऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद् गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धा प्रियसहचरीणामपि गिर ॥'

दान व्याजेन भूपादेर्यथा माघे—

'मुहुरुपहसितामिवालिनादै-
र्वितरसि न कलिका विमर्शमनाम् ।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्या
शठ कलिरेव महांस्त्वयाऽद्य दत्त ॥'७ ५५

पादयो पतनं नतिर्यथा—गाथासप्तशत्याम्

'णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअ पउत्थमाण उम्मोअं त्ति चिअअ कहेइ ॥'२ ८८
(नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं प्रोषितमानमुन्मोचयन्त्येव कथयति ॥)

उपेक्षा तदवधीरण यथा किराते—

'किं गतेन नहि युक्तमुपैतुं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।

आनयैनमननीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेय ॥'
निगतेन न हि युक्तमुपैतु क प्रिये सुभगमानिनि मान ।६ ३६-४०
रमसत्रासहर्षादे रसान्तरात्कोपभ्रंशो यथा ममैव—

'अभिव्यक्तालीक सकलविफलोपायविभव
श्चिरं ध्यात्वा सद्य कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इत पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषा धूर्ते स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥

६१ पूर्वोक्त ईर्ष्यामान उत्तरोत्तर अधिक गम्भीर होते हैं। (श्रुत से बढ़कर अनुमित और अनुमित से बढ़कर प्रत्यक्ष देख हुए व्यलीक गुरुतर मान के कारण होते है।) इनको आगे लिख छ उपायो से शमन करे—१ साम, २ भेद ३ दान, ४, प्रणति ५ उपेक्षा और ६ रसान्तर।६१

६२ साम है नायिका से प्रिय बातें बोलना। भेद है नायिका की सखी को फोड लेना। दान है किसी बहाने आभूषण आदि नायिका को प्रदान करना। नति है नायिका के पैर पर गिर पडना।

६३ सामादि उपायो से मान की शान्ति न हो तो उपेक्षा करनी चाहिए अर्थात् उसके मान की अवधारणा (कोई महत्त्व न देना) हो। खलबली, त्रास या हर्ष आदि उत्पन्न करके नायिका के कोप को मिटा देना रसान्तर नामक उपाय है।६३

६४ स्त्रियो की कोप चेष्टा की चर्चा पहले हो की जा चुकी है।[1]

साम का उदाहरण है धनिक की उक्ति—

नायक मानिनी नायिका से कहता ह—तुम्हारा मुख चन्द्र अपनी स्मित-ज्योत्स्ना से विश्व को उजागर करता है। तुम्हारी दृष्टि चारो ओर अमृत रसो प्रवाहित करती है। तुम्हारा शरीर दिशाओ म लावण्य बिखेरता है। हे सुतनु, यह परुषता कहाँ से आज तुम्हारे हृदय मे प्रगुणित हो रही है?

दूसरा उदाहरण है—

नायक नायिका स कहता है— तुम्हारी आँख नीलोत्पल से, मुख कमल से, दाँत कुन्द से, होठ पल्लव से और अङ्ग चम्पक की पँखरी से बनाकर विधाता न तुम्हारे चित्त को पत्थर से कैसे बना दिया?

सखी का फोडन (भेद) का उदाहरण धनिक की उक्ति है—

हे सुभ्रु, आज्ञा भङ्ग होने पर भी जैसे-तैसे अतिशय प्रणयपूर्वक तुम हाथ म पकडी गई हो। अनेक बार तुमने क्रोध का विसर्जन किया है। आज कोई अन्य ही प्रकार का असीम प्रकोप है जिसको दूर करने की दिशा में प्रिय सखियो की स्निग्ध वाणी भी व्यर्थ जा रही है।

---

१. दशरूपक २.२५-२८

भूपादि के बहाने दान का उदाहरण शिशुपालवध में—खण्डिता नायिका नायक से कहती है—भौंरो के गुञ्जन मे उपहसित इस कलिका (कली और कलह) को मुझे किस प्रयोजन से उपहार रूप मे प्रदान कर रहे हो ? उस नायिका के घर पर रात्रि मे जाकर हे शठ, तुम्हारे द्वारा महान् कलि (कलिका और कलह) दे दिया गया है।

पैर पर गिर कर नति का उदाहरण—नति पैर पर गिरना है। जैसे गाथा-सप्तशती मे पैर पर गिरे हुए नायक के सिर के बाल नूपुर की नोक मे फँस गये तो नायिका उनको छुडाती हुई मानो सूचना दे रही है कि मेरे हृदय से मान दूर हो गया है।

उपेक्षा नायिका के प्रति उदासीनता है। जैसे किरातार्जुनीय में मानवती नायिका दूती से कहती है—नायक से सब कुछ कह डालो। कुछ भी न उठा रखो।

दूती—हे सखि, स्वामी नायक के प्रति कठोरता ठीक नहीं रहती।

नायिका—अच्छा उन्हें मना कर लाओ।

दूती—अपराधी नायक का मनाने का प्रश्न ही कहाँ ?

नायिका—तुम्हारे जाने से तब कोई लाभ नहीं। नायक के पास जाना समीचीन नही है।

दूती—हे सुभगमानिनि, जिसे प्यार करते है, उससे मान क्या करना ?

खलबली, त्रास या हर्ष आदि मे अन्य रस के मध्यवर्ती बनाने से कोपभ्रंश का उदाहरण है धनिक की उक्ति—

नायक का अपराध प्रकट हो चुका था। नायिका को मनाने के सभी उपाय विफल हो चुके थे। उसने कुछ देर सोचकर तत्काल बनावटी हडबडी के प्रयोग द्वारा कुशल विधि से नायिका को सहसा डराया—इधर पीछे की ओर, पीछे की ओर, यह क्या है ? फिर तो धूर्तनायक ने आलिंगन-पाश में आई हुई वधू को मधुर हास्यपूर्वक प्राप्त किया।

अथ प्रवासविप्रयोग —

कार्यत सम्भ्रमाच्छापात्प्रवासो भिन्नदेशता ॥६४

६५. द्वयोस्तत्राश्रु नि श्वासकार्श्यलम्बालकादिता ।

स च भावी भवन् भूतस्त्रिधाद्यो बुद्धिपूर्वकः ॥६५

आद्य कार्यज समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वाद्भूत-भविष्यद्वर्तमानतया त्रिविध ।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा गाथासप्तशत्याम् —

'होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्स ।

पुच्छन्ती भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीआ ॥'१४७

(भविष्यत्पथिकस्य जाया आप्रच्छन-जीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहं गृहात् प्रियविरहसहनशीला ॥)

गच्छत्प्रवासो यथामरुशतके—

'प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वास्त नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापै सबाष्पगलज्जलै ॥'१२

यथा वा तत्रैव—

'देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृता काननै
र्यत्नेनापि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि ।
उद्ग्रीवश्चरणार्धरुद्धवसुध कृत्वाऽश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशा पथिकस्तथापि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥'८८

गतप्रवासो यथा मेघदूते—

'उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणा
मद्गोत्राङ्कं विरचितपद गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रा नयनसलिलै सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूय स्वयमपि कृता मूर्च्छना विस्मरन्ती ॥'उ०२३

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेष्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाऽविशेषात्त्रै विध्यमेव युक्तम् ।

नायक और नायिका का कार्यवशात् या हडवड़ी से या शाप से भिन्न भिन्न देशों में रहना प्रवास है । उन दोनों के उस समय अनुभाव होंगे—अश्रुपात नि श्वास, कृशता बड़े-बड़े केशपाश आदि । कार्यंत प्रवास तीन प्रकार का होता है—भावी वर्तमान और भूत । इसका ज्ञान पहले से ही रहता है ।६१

आद्यकोटि का कार्यवशात् प्रवास समुद्र-यात्रा नौकरी आदि के कामो मे सम्भव होता है । ऐसी स्थिति मे इसका ज्ञान पहले से ही रहता है । इसके तीन रूप हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान होने की दृष्टि से ।

प्रवास पर जाने वाले का उदाहरण

प्रवास पर प्रिय जायेगा । उसकी पत्नी प्रियतम के विरह को सह लेने वाली स्त्रियों से विदा लेते समय प्राण धारण करने का रहस्य पूछती हुई घर घर घूम रही है । प्रवास के लिए प्रस्थान करते हुए नायक का उदाहरण अमरुशतक में नायिका जाने वाले नायक से कहती है—एक पहर बीतने पर, मध्याह्न मे या तीसरे पहर, या सूर्य के डूब जाने पर तुम आज मिलोगे । इस प्रकार कहती हुई सौ दिनो मे पूरी होने वाली परदेश की यात्रा पर जाने की इच्छा रखने वाले प्रिय की यात्रा को अश्रुपूरित बालोचित बातों को कहकर नायिका टाल रही है ।

अमरुशतक मे दूसरा उदाहरण

नायक और नायिका के बीच मे सैकड़ो देशो, नदियो, पर्वतो और वनो की दूरी थी। बहुत यत्न करने पर भी कान्ता उस परदेश मे स्थित नायक के दृष्टिपथ मे नहीं आ सकती—यह जानते हुए भी प्रोषित नायक गर्दन उचकाये हुए, आधे चरण से पृथ्वी पर खडे होकर, आँखो मे आँसू भरकर उसी दिशा मे कुछ ध्यान लगाये, देर तक खड़ा रहता है।

गतप्रवास का उदाहरण मेघदूत मे

हे सुहृद्, मलिन वस्त्र वाली, गोद मे वीणा रखकर मेरे नाम वाले बनाये हुए गेय पद को गाने की इच्छा करती हुई आँसू से भीगी वीणा को जैसे-तैसे पोछ कर पुनः पुनः स्वय ही अभ्यास की हुई मूर्च्छना को भूल जाती थी।

आ रहे और आ पहुँचे नायक मे प्रवास का अभाव रहता है। जो प्रवास से आयेगा और जो प्रवास पर जा चुका है इन दोनो मे अन्तर न होने से केवल ऊपर बताये तीन प्रकार के प्रवास ही समीचीन हैं।

६६. द्वितीय. सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात्।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद्वा, अबुद्धिपूर्वकत्वादेकरूप एवं संभ्रमज प्रवास। यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वंश्याम्। यथा च कपालकुण्डलापहृताया मालत्या मालतीमाधवयो।

६६. दूसरा सम्भ्रम (सवेग, साध्वस) से प्रवास सहसा उत्पन्न होता है। इसके कारण दिव्य या मानुष विप्लव होते हैं।

उत्पात, निर्घात (बिजली गिरना), वात (अन्धड, तूफान) आदि से उत्पन्न विप्लव (उपद्रव, उथल पुथल) से, अथवा शत्रु की सेना आदि से उत्पन्न विप्लव से पहले से अविचारित यह सम्भ्रमज प्रवास एक ही प्रकार का होता है। जैसे विक्रमोर्वशीय मे उर्वशी और पुरूरवा का और मालतीमाधव मे कपालकुण्डला के द्वारा मालती का अपहरण करने पर मालती और माधव का वियोग हुआ।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापज. सन्निधावपि ।। ६६

यथा कादम्बर्यां वैशंपायनस्येति।

शाप से उत्पन्न प्रवास विप्रयोग में स्वरूप के परिवर्तन कर देने से निकट होने पर भी नायक-नायिका अलग हो जाते हैं।[1]

---

[1] इन सभी प्रकार के प्रवासविप्रयोग की योजनाओ के अन्तर्गत दुष्यन्त और शकुन्तला का वियोग यद्यपि शापज है, किन्तु वह 'स्वरूपान्यत्वकरणात्' न होने से धनञ्जय के लिए अदृष्ट माना जा सकता है।

जैसे कादम्बरी म वशम्पायन का स्वरूप परिवतन होना है और वह महाश्वता मे विप्रयुक्त माना गया है ।

६७ मृते त्वेकत्र यत्रान्य प्रलपेच्छोक एव स ।
नि ाश्रयो न शृङ्गार , प्रत्यापन्ने तु नेतर ।। ६७

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवशे कादम्बर्या तु प्रथम करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्व प्रवासशृङ्गार एवति ।

करुण रस का स्थायी भाव शोक तब होता है जब नायक और नायिका मे से किसी एक के मरने पर दसरा रोता है । आश्रय के न रहने से वहाँ शृङ्गार नहीं हो सकता । यदि मरा हुआ पुन जीवित हो जाय तो शोक नहीं होता । ६०

जैसे इन्दुमती के मरने पर रघुवश मे अज का करुण है । कादम्बरी मे वैशम्पायन के मरने पर पहले करुण है किन्तु आकाश सरस्वती की वाणी के पश्चात् प्रवास शृङ्गार हो जाता है ।

तत्र नायिका प्रति नियम —

६८ प्रणयायोग्ययोरुत्का, प्रवासे प्रोषितप्रिया ।
कलहान्तरितेर्ष्याया विप्रलब्धा च खण्डिता ।। ६८

अथ सभोग —

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्य विलासिनौ ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स सभोगो मुदान्वित ।। ६६

यथोत्तररामचरिते—

किमपि किमपि मन्द मन्दमासत्तियोगा
दविरलितकपोल जल्पतोरक्रमेण ।
सपुलकपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरसीत् ।। १२७

अथवा प्रिये किमेतत्—

विनिश्चेतु शक्यो न सुखमिति वा दु खमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्प किमु मद ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकार कोऽप्यन्तर्जडयति च ताप च कुरुते ।। १३५

यथा च ममैव—

'लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिश कृष्णागरुश्यामले
वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरोन्नते ।

नामावंशमनोज्ञकेतकतरुभ्रूपत्रगर्भोल्लसत्-
पुष्पश्रीस्तिलक सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवापीयते ॥

६८ नायक और नायिका की प्रणय और अयोग की स्थिति मे नायिका को उत्का कहते है ।[1] नायक के प्रवासी होने पर उसे प्रोषितप्रिया कहते हैं । ईर्ष्या मान करने पर उसे कलहान्तरिता कहते हैं । खण्डिता नायिका को विप्रलब्धा कहते हैं । ६८

६९ विलासी नायक और नायिका अनुकूल होकर जहाँ परस्पर उपभोग करते है दर्शन, स्पर्शन आदि करते है, वह प्रमोदपूर्ण सम्भोग है । ६९

जैसे उत्तररामचरित मे—

राम सीता को स्मरण कराते है—प्रेमवश गालों को सटाए हुए बिना किसी क्रम के ही बातें करते हुए एक-एक बाहु से रोमाचपूर्ण आश्लेष म विलीन हम लोगो को रात पहरो क बीतने का ज्ञान हुए बिना ही बीत गई ।

दूसरा उदाहरण है—

समझ मे नही आता कि यह सुख है कि दु ख है, मोह है या निद्रा है विष चढ गया है या मद है । तुम्हारे प्रत्यक स्पर्श म मेरी इन्द्रिया को मोहित कर देने वाला कोई विकार है जो मुझे जड बना दे रहा है और सन्ताप पैदाकर रहा है ।

हे सुदरि जिस प्रकार वर्षा मे अतिशय ऊँचे और कृष्ण अगुरु के समान काले श्रेष्ठ बादलो के चारो ओर अमृत रूप जल बरसाने पर रमणीय केतक वृक्ष के पत्तो क बीच म समुदित पुष्प का भौंरे क्रीडापूर्वक पीते हैं उसी प्रकार अतिशय उत्तुङ्ग और कृष्णागुरु से चित्रित होने के कारण श्यामल तुम्हारे उरोजो के द्वारा लावण्यामृत को चारो आर विच्छुरित कर देने पर नासावंश से सम्बद्ध भौहों के बीच मे शोभायमान तिलक को अलक चूम रहे हैं ।

७० चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपा प्रियं प्रति ॥७०

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिता ।

७० शृङ्गार मे स्त्रियों की लीलादि दश चेष्टायें प्रिय के प्रति प्रवर्तित होती हैं । वे उनके दाक्षिण्य, मृदुता और प्रेम के अनुरूप होती हैं ।७०

लीलादि दश चेष्टाओ का वर्णन द्वितीय प्रकाश म उदाहरण के साथ लिखा जा चुका है ।

---

[1] स्वाधानपतिकोत्काल्वत्रासमज्जाभिसारणे ।
रम्य सानुभवेन् तत्र हृष्टावस्थाचतुष्टयम् ॥ ६८
यह कारिका अड्यार सस्करण मे अडसठवीं है । इस संस्करण को ६८ वी कारिका उसमे ६९ वीं है ।

७१. रमयेच्चाटुकृत्कान्त कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत्किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥७१

ग्राम्य सम्भोगो रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते। यथा रत्नावल्याम्—

स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोक ॥' इत्यादि । १२१

नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद्युक्त कविपरम्परावगत स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षित चानुसन्दधान सुकवि शृङ्गारमुपनिबध्नीयात् ।

७१ उस (नायिका) को रिझाने वाला कान्त (नायक) कला और क्रीडा आदि के द्वारा प्रसन्न करे। नायिका के सम्बन्ध मे रमण का स्वरूप ग्राम्य स्तरीय नहीं होना चाहिए। कुछ भी ऐसा नहीं करना चाहिए जो नर्म (शिष्ट परिहास) की मर्यादा के विपरीत हो।

ग्राम्य सम्भोग का अभिनय रग मे निषिद्ध है। काव्य मे भी वह त्याज्य है—इसका पुन निषेध किया गया है। जैसे रत्नावली मे राजा वासवदत्ता से कहता है—हे प्रिये तुम्हारे द्वारा काम की पूजा मे नियुक्त हाथ से स्पर्श किया गया हुआ यह समीपवर्ती अशोक ऐसा लग रहा है मानो इसमे मृदुतर नया पल्लव निकल आया हो।

नायिका-नायक कैशिकी वृत्ति नाटक और नाटिकादि के लक्षण आदि से युक्त कवि परम्परा से विज्ञात स्वय औचित्य की दृष्टि से यथायोग्य सामञ्जस्य के द्वारा प्रतिभात शृगार को लक्ष्य बनाकर सुकवि काव्य रचना करे।

वीर·

अथ वीर —

७२ वीर प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यै ।
उत्साहभू स च दयारणदानयोगात्
त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षा ॥७२

प्रतापविनयादिभिर्विभावित करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साह स्थायी स्वदते=भाववमनो विस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीर । तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाह

नस्य, युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य, दानवीर परशुरामबलिप्रभृतीनाम्—'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि ' इति । वीरचरिते २.३६

गर्भग्रन्थिविमुक्तसन्धि-विगलद्वक्ष स्फुरत्कौस्तुभ
निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं
पायाद्‌ क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपु. ॥'

यथा च ममैव—

'लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरेः ।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृत. कर' ॥'

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावर्जनादिनापि वीराणा भावात्त्रैधं प्रायोवाद । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्र ।

७२ वीर रस के विभाव हैं प्रताप, विनय, अध्यवसाय, सत्त्व, मोह, अविषाद, नय, विस्मय और विक्रम आदि । उत्साह इसका स्थायी भाव है । वीर रस तीन प्रकार का होता है दया, रण और दान की वृत्ति के योग से । इसमे मति, गर्व, धृति और हृष व्यभिचारी भाव हैं । ७२

इसमे उत्साह नामक स्थायी प्रताप, विनयादि से विभावित होता है । करुणा, ।न आदि से अनुभावित होता है । गर्व, धृति, हर्षामर्ष, स्मृति, मति, वितर्क प्रभृति व्यभिचारियों से भावित होता है । फिर वह स्वाद का विषय बनता है और भावक (रसिक) के मनोविस्तार और आनन्द के लिए होता है यह वीर रस । दयावीर नागानन्द मे जीमूतवाहन का है । युद्धवीर महावीरचरित मे राम का है । दानवीर परशुराम और बलि आदि का है । परशुराम के दान के विषय मे कहा गया है—सातों समुद्रों से सीमित पृथ्वी का दान निष्कपट दान की पराकाष्ठा है ।

(बलि से दान प्राप्त कर लेने पर) शिशु रूप की गाँठ खुलने से सन्धियों के टूटने पर जिस मुरारि के शरीर से कौस्तुभ मणि झलकने लगा था, और जिसमे नाभि रूपी कमल के मुकुल चक्र से गम्भीर साम-ध्वनि निकलने लगी थी और योग्य दान पात्र को पाने के लिए उत्सुक बलि के द्वारा जो प्रफुल्लित होकर देखा गया, वह क्रमश सवर्धनशील महिमा और आश्चर्य से युक्त शरीर आप लोगों की रक्षा करे । दूसरा उदाहरण धनिक की उक्ति है—

लक्ष्मी के पयोधर पर लगे कुङ्कुम से हरि का जो हाथ रंगा था, उसे ही इस बलि ने भिक्षा का पात्र बना दिया ।

विनयादि-विषयक उदाहरण पहले ही आये हुए पद्यों में (द्वितीय प्रकाश में) नेता-का सामान्य लक्षण देख लें। प्रताप, गुण, आवर्जनादि की दृष्टि से वीर के अन्य भेद भी समीचीन हैं। ऐसी स्थिति में केवल तीन प्रकार के वीर होते हैं—यह कहना प्रायोवाद (कहावत) है।

युद्धवीर में प्रस्वेद, वदन, नयन का लाल होना आदि क्रोध के अनुभावों का अभाव रहता है। यदि ये अनुभाव हों तो वहाँ वीर रस न होकर रौद्र रस होगा।

बीभत्सः

७३. वीभत्स कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामासादिभिः क्षोभण.।
वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशङ्कादयः ॥७३

अत्यन्ताहृद्यैः कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरि-पोषणलक्षणउद्वेगी वीभत्सः। यथा मालतीमाधवे—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥' ५.१६

रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिविभावः क्षोभणो वीभत्सो यथा वीरचरिते—

'अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कङ्कण
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।
पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस-
द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥' १.३५

रम्येऽपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणाशुद्धो वीभत्सो यथा—

'लाला वक्त्रासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ।
मांसास्थिकूटं जघनं जनः कामग्रहातुरः ॥'

न चायं शान्त एव विरक्तोक्तेः। अयं वीभत्समानो विरज्यते।

७३ बीभत्स (उद्वेगी) रस के विभाव कृमि, पूति, दुर्गन्ध, वमथु आदि हैं। इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है।

क्षोभण बीभत्स के विभाव रुधिर, आन्त्र, कीकस (अस्थि), वसा मांसादि हैं।

वैराग्यरक शुद्ध बीभत्स के विभाव जघन, स्तन आदि की परिभावना हैं। इसके अनुभाव नाक और मुख को बन्द करना या उनका सकोचन है।

बीभत्स के सचारी भाव आवेग आर्ति और शङ्कादि हैं।७३

अत्यन्त घृणास्पद कृमि, पूति, दुर्गन्ध प्राय विभावों से विभावित जुगुप्सा स्थायी भाव से परिपोषित उद्वेगी बीभत्स होता है। जैसे मालतीमाधव मे —

किसी शव के स्नायु आँत, आँख को लेकर दाँत दिखाने वाले पिशाच मृत शरीर क चर्म को ऊपर-नीचे बारबे काट काट कर दुर्गन्ध युक्त शरीर के विविध अगो से माम खाकर गोद मे रखे शिर से चिपके मास को शान्ति से खा रहा है। रुधिर, आँत, अस्थि मास आदि विभाव वाला क्षोभण—बीभत्स होता है। जैसे महावीरचरित मे— लक्ष्मण विश्वामित्र से पूछ रहे हैं —

आँत से ग्रन्थित बृहद् खोपडियो का माला, कडकडाने वाले हड्डियो के ककण आदि भयङ्कर आभूषणों के भैरव-नाद से आकाश मे कोलाहल मचाती हुई, रक्तपान करके उसके वमन से अपने गूलते हुए स्तन को लथपथ बनाई हुई भयकर शरीर वाली घमण्ड से चूर होकर यह कौन दौडती हुई आ रही है। शुद्ध बीभत्स का विभाव वैराग्य है। रम्य होने पर भी रमणी के जघनस्तन आदि के प्रति घृणा होती है। जैसे कामग्रह से विकृत बुद्धि वाला मनुष्य स्त्रियो की लार को मुखासव समझता है मास के पिण्डो का पयोधर नाम दिये हुए हैं और मास के लोथडे को जघन कहकर उस पर लट्टू है।

विरक्ति की चर्चा होने से इसे शान्त नही कह सकते। इसमे जा वैराग्यभाव दिखाई देता है वह बीभत्स के पोषण के लिए है न कि शान्त के लिए।

रौद्रः

७४. क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयै पोषोऽस्य रौद्रोऽनुज
क्षोभ स्वाधरदशकम्पभृकुटिस्वेदास्यरागैर्युत ।
शस्त्रोल्लासविकत्थनासधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै-
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्च चलतासूयौग्र्यवेगादय ।।७४

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते—

'त्व ब्रह्मवर्चसधनो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धर स्या ।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृश परशु करोति ।। ३ ४४

वैरिवैकृतादियंथा वेणीसंहारे—

'लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न: प्रहृत्य।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥१८

इत्येवमादिविभावैः प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावैरमर्षादिव्यभिचारिभिः क्रोधपरिपोषो रौद्रः। परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु वीरचरितवेणीसंहारादेरनुगन्तव्यः।

७४. क्रोध का अनुज रौद्र है। अर्थात् रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। इसके विभाव हैं मत्सर तथा वैरी के द्वारा किये हुए वैकृत (कापटिक दुर्व्यवहार)। इसके अनुभाव हैं क्षोभ, होंठ काटना, कँपकँपी, भौं चढ़ना, स्वेद, मुख का लाल होना आदि तथा शस्त्र उठाना, डींग मारना, कन्धे और धरती को पीटना, प्रतिज्ञा करना आदि। इसके संचारी भाव अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता और आवेग आदि हैं।७४

मात्सर्य विभाव वाले रौद्र का उदाहरण महावीर-चरित में– परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं—

यदि आप वर्तमान रूप मे ब्राह्मण हैं अथवा अपनी जाति की रीति से धनुर्धर (क्षत्रिय) हैं तो पहली स्थिति मे (ब्राह्मण होने पर) अपने उग्र तप से तुम्हारे तप को जला दूँगा और दूसरी स्थिति में (क्षत्रिय होने पर) मेरा परशु यथायोग्य निपटेगा।

वैरी के द्वारा अन्याय-व्यवहार वाले विभाव का उदाहरण—

भीम कहता है—लाक्षागृह मे आग लगाकर, विषान्न देकर, द्यूतसभा मे प्रवेश कराकर, हमारे प्राण और धनराशि पर प्रहार करके द्रौपदी के वस्त्र और केश को विसंष्ठुल करने वाले कौरव मेरे जीवित रहते कैसे स्वस्थ हों? इस प्रकार के विभावों के द्वारा पसीना, लाल चेहरा और नेत्र आदि अनुभावो से अमर्ष आदि व्यभिचारियो से क्रोध नामक स्थायी भाव का जिसमे परिपोष रहता है, वह रौद्र है। इसको परशुराम, भीमसेन, दुर्योधन आदि के व्यवहारों में महावीरचरित और वेणीसंहार आदि से जानें।

हास्यः

७५. विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात्परिपोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृत ॥७५

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानो हासस्तत्परिपोषात्मा हास्यो रसो द्वयधिष्ठानो भवति। प्रत्येकं चोत्तममध्यमाधमप्रकृतिभेदात्षड्विधः। आत्मस्थो यथा उदात्तराघवे रावण :—

'आत्तं मे पटपेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलनं
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचितं क्लिष्टा जटाः कुन्तलाः।
रुद्राक्षैः स किलैष रत्नवलयश्चित्रांशुकं वल्कलं
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः॥'

परस्थो यथा—

'भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे ? किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियम् ? प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह।
वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनम् ? द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो ? भ्रष्टस्य काऽन्या गतिः ?॥'

७५ हास्य के विभाव विकृत आकृति, वाणी और वेष हैं, चाहे वे अपने हों या दूसरे के हों। इसका स्थायी भाव हास है, जिसका परिपोष होने पर हास्य रस बनता है। हास्य रस तीन प्रकार का होता है।७५

अपने ही विकृत वेष, भाषा आदि या दूसरे के विकृत वेष, भाषा आदि विभावों का आलम्बन लेकर हास उद्बुद्ध होता है। उससे परिपोष प्राप्त करने वाला हास्य रस दो आश्रय वाला हुआ। एक-एक को विशिष्ट मानकर छः प्रकार के हास्य उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति की अपेक्षा से होते हैं।

आत्मस्थ हास्य का उदाहरण उदात्तराघव में (कपटी संन्यासी) रावण की उक्ति है—

मैंने रूखी राख को चन्दन-चूर्ण में परिणत कर लिया है। मेरी छाती पर यज्ञोपवीत के स्थान पर हार शोभित है। लिपटी हुई जटा के स्थान पर मैंने कुन्तल बना लिया है। रुद्राक्ष के कंगण को रत्न-वलय में परिणत कर लिया है। वल्कल अब चित्रांशुक बना है। सीता के नेत्रों को आकृष्ट करने वाला कामिजनोचित रम्य शरीर मैंने बना लिया है, (यद्यपि मैं यहाँ पहले संन्यासी का रूप धारण करके आया था।)

परस्थ हास्य का उदाहरण—कोई उपासक मांसभक्षी भिक्षु के विकार के विषय में पूछता है—हे भिक्षो, अरे क्या तुम मांस खाते हो ? भिक्षु ने उत्तर दिया—मद्य के बिना मांस क्या ? प्रश्न—क्या तुम मद्य भी पीते हो ? उत्तर—वेश्याओं के साथ में पी लेता हूँ। प्रश्न—वेश्या तो अर्थ परायण होती है। तुम्हारे पास धन कहाँ से ? उत्तर—जुए या चोरी से। प्रश्न—क्या तुम जुआ और चोरी भी करते हो ? उत्तर—भ्रष्ट मनुष्य और क्या करेगा ?

७६ स्मितमिह विकासिनयन, किञ्चिल्लक्ष्यद्विज तु हसित स्यात् ।
मधुरस्वर विहसित, सशिर कम्पमिदमुपहसितम् ॥७६

७७ अपहसित सास्राक्ष, विक्षिप्ताङ्ग भवत्यतिहसितम् ।
द्वे द्वे हसिते चैषा ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमश ॥७७

उत्तमस्य स्वपरस्यविकारदर्शनात् स्मितहसिते, मध्यमस्य विहसितो पहसिते अधमस्यापहसितातिहसिते । उदाहृतय स्वयमुत्प्रेक्ष्या ।

७६ छ प्रकार का हास्य—स्मित मे नत्रों की प्रफुल्लता होती है । हसित मे दांत थोड़ा दिखाई देता है । विहसित में मधुर स्वर मुख से निकलता है । उपहसित म सिर भी कम्पायमान होता है ।७६

७७ अपहसित में आंख से आंसू निकलते हैं । अतिहसित म अङ्ग विक्षेप (हाथ-पैर फटकारना) होता है । उत्तम पात्र मे प्रथम दो, मध्यम मे बीच के दो और अधम मे अन्त के दो हास्य होते है ।७७

उत्तम पुरुष अपने म और दूसरे के विकार का दर्शन करने स स्मित और हसित हाते है । मध्यम पुरुष म विहसित और उपहसित होते है । अधम पुरुष म अपहसित और अतिहसित होते है ।

व्यभिचारिणश्चास्य—

७८ निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्छाश्च सहचारिण (व्यभिचारिण) ।

७८ इसके व्यभिचारी निद्रा आलस्य श्रम ग्लानि और मूर्च्छा होते हैं ।

अद्भुत

अतिलोके पदार्थ स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुत ॥७८

७९. कर्मास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदा ।
हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिण ॥७९

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावित साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मय स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसोऽद्भुत । यथा महावीरचरिते

"दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिम ।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥१४४

इत्यादि

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है। इसका विभाव अलौकिक पदार्थ होना है। साधु-साधु कहना, आँसू, कम्प, स्वेद और गद्गद वाणी इसके अनुभाव हैं। इसके व्यभिचारी भाव हर्ष, आवेग, धृति आदि होते हैं।७८

अद्भुत रस अलौकिक पदार्थ, दर्शन आदि विभावों से विभावित, साधुवाद आदि अनुभावों से पोषित विस्मय नामक स्थायी भाव तथा हर्ष, आवेग आदि सचारी भावों से भावित होता है। जैसे महावीरचरित से

राम का धनुष तोड़ना देखकर लक्ष्मण की उक्ति है—

बाहुदण्ड के द्वारा शिव के शरासन को दो भागों में तोड़ देने से उत्पन्न आर्य रामचन्द्र के बालचरित की प्रस्तावना का मङ्गलवाद्य रूपी टकार ध्वनि उत्पन्न हुई। उस टकार ध्वनि की गरिमा (प्रखरता) ब्रह्माण्ड के दो खण्ड आकाश और पृथ्वी के गर्भ में चक्कर करती हुई पिण्डित हो गई। आश्चर्य है कि वह अब भी शान्त नहीं हो रही है।

भयानक

विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानक ।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैवर्ण्यलक्षण ॥
दैन्यसम्भ्रमसम्मोहत्रासादिस्तत्सहोदर ॥८०

रौद्रशब्दश्रवणाद्रौद्रसत्त्वदर्शनाच्च भयस्थायिभावप्रभवो भयानको रस तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावा दैन्यादयस्तु व्यभिचारिण ।
भयानको यथा—

'शस्त्रमेतत्समुत्सृज्य कुब्जीभूय शनै शनै ।
यथागतमेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥'

यथा च रत्नावल्या प्रागुदाहृतम्—'नष्टं वर्षवरै' इत्यादि ।
यथा—

'स्वगेहात्पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात्सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम् ।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय-
त्यराति कयालीये इव विजयमानाचकितधी ॥'

८० भयानक रस का स्थायी भाव भय है। इसके विभाव विकृत स्वर और भयङ्कर जीव-जन्तु हैं और अनुभाव सभी अङ्गों में कम्पन, स्वेद, शोष, पीला पड़ना आदि हैं। इसके सचारी भाव दैन्य, सम्भ्रम, सम्मोह, त्रास आदि हैं।८०

रौद्र शब्द सुनने से और रौद्र सत्त्व (प्राणी) देखने से भय स्थायी भाव वाला

की अधिकता से उत्पन्न करुण होता है। तमनु अर्थात् उसके अनुभाव निश्वास-आदि का वर्णन होता है। उसके व्यभिचारी स्वप्न, अपस्मार आदि हैं।

इष्टनाश से करुण का उदाहरण कुमारसम्भव मे है—

काम के शिव के द्वारा भस्मीभूत किये जाने पर उसकी पत्नी रति रोती है—

हे प्राणनाथ, आप जीवित हैं, यह कहकर खड़ी हुई उसके द्वारा भूतल पर शिव की कोपाग्नि से भस्म बनी हुई पुरुष की आकृति मात्र देखी गई।

इत्यादि रति का विलाप है। अनिष्ट की प्राप्ति से करुण का उदाहरण रत्नावली मे सागरिका का बन्धन होने से निष्पन्न है।

८३ प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः॥ ८३

स्पष्टम्।

८३ प्रीति भक्ति आदि भाव और मृगया, अक्ष आदि रस हर्ष और उत्साह आदि मे *प्रत्यक्ष ही समाविष्ट हो जाते हैं। अतएव उनकी चर्चा नहीं की गई है।* ८३

८४. षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः।
लक्ष्यसंध्यन्तराख्यानि सालङ्कारेषु तेषु च॥ ८४

'विभूषणं चाक्षरसंहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तनं च' इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत् काव्यलक्षणानि। 'साम भेद प्रदानं च' इत्येवमादीनि संध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्वलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिषु चान्तर्भावान्न पृथगुक्तानि।

८४ भूषण आदि छत्तीस काव्यलक्षण और साम आदि २१ सन्ध्यन्तर का अन्तर्भाव उपमा आदि अलकारों मे और हर्षोत्साह आदि भावों मे हो जाता है। अतएव उनका विवरण अलग से नहीं दिया गया है। ८४

विभूषण, अक्षर-संहति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन आदि ३६ काव्यलक्षण हैं। साम, भेद, प्रदान आदि २१ सन्ध्यन्तर हैं। काव्यलक्षणों और सन्ध्यन्तरों का उपमादि अलकारों मे तथा हर्षोत्साहादि भावों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव इनका विवेचन अलग से नहीं किया गया है।

८५. रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके॥ ८५